वीर सेवा मन्दिर

दिल्ली



क्रम संख्या

काल नं०

खण्ड

गोभिलगृह्यसूत्रम् ।

गोभिलाचार्य्येणप्रणीतम्

सामवेदस्य कौथुमिशाखाया
गृह्यकर्मप्रतिपादकम् ।

श्रीपं०सत्यव्रतसामश्रमिणोव्याख्ययासमलङ्कृतम्।

क्षत्रियकुमारेण श्रीमद्-उदयनारायण वर्मणा
नागरीभाषयाऽनुवादितम् ।

तच्च

मधुरापुरस्थ शास्त्रप्रकाश कार्य्यालये
(डा० बिद्दूपुर, मुजफ्फरपुर)
नाम्निस्थाने प्रकाशितम् ।
संवत् १९६३ सन् १९०६ ई० ।

THE
GRIHAYA SUTRAS OF GOBHIL
With
SANSKRIT COMMENTARY OF
PANDIT SATYAVARTA SAMASHRAMI

Translated into Nagari and published—by
Kshatriyakumar—Udaya Narain singh, shastra
Publishing office Madhurapur, Bidhupur,
Mozaffarpur.

Printed at Brahma Press Etawah.

मूल्य २॥)

स्वत्वमायत्तीकृतम् ।

To

His Highness,

Honorable the Maharaja,

SIR UDAYA PRATAP SINGHA C. S. I.

of Bhinga State.

This work is dedicated with Profound respect.

By his most humble.

Servant,

KSHATRIYA KUMAR——UDAYA NARAIN SINGH.

Tranlator & Publisher.

॥ वेद ॥

वेद से बढ़कर दुनियां भर में कोई प्राचीन एवं प्रामाणिक अलौकिक ग्रन्थ नहीं है, मनुष्यों के हितार्थ इस से बढ़कर किसी भी भाषा वा धर्म-सम्प्रदाय में ग्रन्थ नहीं। इस विषय में एक सुप्रसिद्ध विदेशी विधर्मी-जार्मन विद्वान् * भट्ट मैक्समूलर साहब यों लिखते हैं कि वैदिक संहिता का भाव, भाषा, तात्पर्य रचना प्रणाली और व्याकरण घटित वैलक्षण्य की विवेचना कर देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा में–संसार के विभिन्न जाति और देश की किसी भाषा में वैदिक संहिता की बराबर कोई पुस्तक नहीं यह अति पुरातन संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' संहिता है। यही मनुष्य जाति के हितार्थ प्रथम पुस्तक, मानवीय सभ्यता का एक मात्र प्रथम निदर्शन मनुष्य जाति का प्राचीनतम इतिहास और धर्म विश्वास का प्रथम पथ प्रदर्शक है–अत एव यह मनुष्य मात्र ही को आदरणीय है। मनुष्य जाति के जिस समय का इतिहास कहीं नहीं पाया जाता, जिस समय की चिन्ता, धर्म, विश्वास, सभ्यता, उपासना, पद्धति, देवोत्थापन, सामाजिक रीति नीति, आशा भरोसा और हृदय का भाव काल के अनन्त स्रोत के गर्भ में विलीन हुए हैं, जिस समय के इतिहास के उद्धार के लिये अन्य-उपाय विद्यमान नहीं, उसी स्मरणातीत समय का इतिहास सुप्रणालीबद्धरूप ऋक् संहिता में सोने के अक्षरों में लिपिबद्ध हैं। इसी निमित्त सभ्य जगत के सर्वत्र पण्डित मण्डली में ऋग्वेद संहिता का इतना सम्मान और आदर है।

---

* The Veda has a two-fold interest : it belongs to the history of the world, and to the history of India. In the history of the world, the Veda fills a gap which no literary work in any other language could fill. It carries us back to times of which we have no records any where, and gives us the very words of a generation of men, of whom otherwise we could form but the vaguest estimate by means of conjectures and inferences. As long as man continues to take an interest in the history of his race, and as long as we collect in libraries and museums the relics of former ages, the first place in that long row of books which contains the records of the Aryan branch of mankind, belong for ever to the Rig Veda, the most ancient of books in the library of mankind, which is more ancient than the Zendavesta and Homer (940-850 B. C.)

Prof. Max. muller's History of Ancient Sanskrit Literature P.63.

वेद के अङ्ग ।

हमारे जिस वेद की प्रशंसा उक्त जर्मनदेश आदि के पण्डितगण निष्पक्ष होकर करते, आज हम उस आलौकिक वेदज्ञान से शून्य हो रहे हैं । इस वेद के अति गम्भीर अर्थ को समझने के लिये 'शिक्षा' आदि (वेदाङ्ग) वेद के छः अङ्ग प्रवृत्त हुये हैं । इस शिक्षा प्रभृति को अथर्ववेदीय माण्डूकोपनिषद् में अपरा विद्या' कहा है जैसे "ब्रह्मवादीगण कहते हैं कि विद्या दो प्रकार की है एक परा. दूसरी अपरा । इनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ये सब अपरा विद्या हैं । और जिस के द्वारा अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो उसी का नाम 'परा विद्या' है ।

धर्मज्ञान ब्रह्मज्ञान का साधन है । साधन स्वरूप धर्मज्ञान का कारण कहकर षडङ्ग सहित कर्मकाण्ड (वेद का कर्मबोधक भाग) अपरा विद्या है । जो कि ब्रह्मज्ञान परमपुरुषार्थ है इसीकारण उपनिषद् को 'पराविद्या' कहते ।

वर्ण, स्वर, प्रभृति उच्चारण प्रकार जिस में कहे गये हैं, वही शास्त्र "शिक्षा" है । तैत्तिरीय शाखाध्यायीगण उपनिषद् के आरम्भ ही में कहते हैं कि "शिक्षा का व्याख्यान करेंगे" । वर्ण—अकारादि । शिक्षा ग्रन्थ में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है । शिक्षा ज्ञान विना- वेद मन्त्रों का उच्चारण,हम लोग ठीक २ नहीं कर सकते । अब कल्प नामक दूसरे अङ्ग का वर्णन करेंगे ।

कल्पसूत्र ।

आपस्तम्ब, बौधायन, आश्वलायन आदि सूत्रों का नाम "कल्पसूत्र" है । याग प्रयोग-इसी "कल्प" ग्रन्थ में कल्पित अर्थात् समर्थित हुए हैं इसी लिये इस का नाम "कल्प" है । इस पर यह शङ्का हो सकती है कि आश्वलायनादि आचार्यों ने मन्त्र संहितानुसार कल्प सूत्र रचे,हैं या ब्राह्मण भागानुसार ? यदि कहो कि मन्त्र संहितानुसार, तो यह उत्तर असङ्गत है ; क्योंकि उन ने सब से पहिले "दर्शपौर्णमास याग" की व्याख्या आरम्भ किया है । यदि मन्त्रकाण्ड अनुसार प्रवृत्ति होती, तो ऋग्वेद के सब से प्रथम मन्त्र "अग्नि मीले" इत्यादि जिस यज्ञ में, पहिले आवश्यकीय होता है, उसी यज्ञ की प्रथम व्याख्या करते । ऋग्वेद का "अग्नि मीले" इत्यादि मन्त्र दर्श पूर्णमास इष्टि में कहीं नहीं प्रयुक्त होता । यदि यह कहो कि ब्राह्मण भागानुसार कल्पसूत्र रचे गये हैं, तो यह भी कहना अनुचित है । "दीक्षणीया इष्टि में अग्नि विष्णू देवताक (अग्नि विष्णु देवता के उद्देश से जो दान किया जायेगा) एकादश कपाल, (११ मट्टी के पात्रों में जिस का संस्कार किया है ।

पुरोडाश (यज्ञपिष्टक) निर्व्वाप करे (अर्थात् उस पुरोडाश द्वारा यज्ञ करे) इस प्रकार ब्राह्मण भाग में सब से पहिले दीक्षणीयेष्टि का वर्णन है। (यदि ब्राह्मण भागानुसार आश्वलायन कल्पसूत्र होता, तो दीक्षणीया इष्टि पहिले लिखना उचित था) यहां इन सब युक्तियों के उत्तर में यह कहा जाता है कि ब्रह्म यज्ञादि (अध्ययन वा अध्यापन) जप (मन्त्र जप) के अनुसार मन्त्रकाण्ड प्रवृत्त हुआ है, यागानुष्ठान प्रणाली से नहीं। (जो याग पहिले करना पड़ता, उन के मन्त्र पहिले लिपिबद्ध हैं, ऐसा नहीं। जो सब से पहिले शिष्य को पढ़ाना पड़ता अर्थात् पढ़ने की प्रथा है एवं कितने मन्त्रों का जप करने से याज्ञिक लोग जिस प्रणाली का अवलम्बन करते, तदनुसार मन्त्रों का आगे पीछे पाठ करना होता है) ब्रह्मयज्ञ का भी विधान देखा जाता है जैसे—एक भी ऋक्, साम, या यजुर्वेद का, जो पाठ करना पड़ता वही ब्रह्मयज्ञ है। इस ब्रह्मयज्ञ या वेदाध्ययन में (ऋकसंहिता पढ़ने से) सबसेपहिलेअग्नि मीले" इत्यादि पढ़ने का नियम है। वाजस्तोम में सब ऋक्, सब यजु; और सब, साम, उच्चारण करे, ऐसा विधि है। [यहां सम्प्रदाय सिद्ध अर्थात् गुरु परम्परा चलित क्रम अनुसार पाठ करना पड़ता] "आश्विन ग्रह" पर्यन्त जाने पर भी यदि सूर्योदय न हो, सब दाशतरी मन्त्र पाठ करे, ऐसा विधान है। और प्रतिग्रहकारी प्रभृति उपवासी को तीनवार वेदाध्ययन (प्रायश्चित्त) करनेका विधान दिखलाते हैं। [यहां भी सम्प्रदाय सिद्ध क्रम आदरणीय है] इन सब मन्त्रकाण्डों का विनियोग अर्थात् जहां जिन कई मन्त्रों का पाठ करना पड़ता, उस स्थान (यज्ञादि) में अध्यापक [वेदपाठक] सम्प्रदाय प्रचलित क्रम—[पूर्वापरभाव] को सादर ग्रहण करना पड़ता। किसीएकमन्त्र को किसी एक कार्य में विनियुक्त करने में (मीमांसादर्शन प्रतिपादित) श्रुति, लिङ्, वाक्य, प्रकरण, प्रभृति प्रमाणानुसार आश्वलायनादि आचार्यों ने मन्त्रों का विनियोग किया है। (श्रुति, लिङ्ग, प्रभृति का विशेष विवरण मीमांसादर्शन में देखो) यदि ऐसा हुआ तो मन्त्रकाण्ड का क्रम न होने पर भी कोई विरोध नहीं। "इषेत्वा" इत्यादि मन्त्र सब जिस प्रकार अवलम्बन कर यागादि कर्म करना होता, उसी क्रमानुयायी भाव से विधि बद्ध किया गया है। आश्वलायन, गोभिल आदि ने इसी नियमानुसार कल्पसूत्र निर्माण किया है। उसी नियम से आम्नात हुआ है अतएव जपादि में वही नियम ग्राह्य है।

यद्यपि ब्राह्मणभाग में दीक्षणीया इष्टि सब से पहिले कही गयी है, तथापि दीक्षणीया इष्टि सब से पहिले दर्शपूर्णमास इष्टि की विकृति है इसी कारण दर्शपूर्णमास की अपेक्षा करती है। (दर्श पूर्णमास को पहिले न कहने से दीक्षणीया इष्टि का कहना पूरा नहीं होता, क्योंकि दर्श पूर्णमास इष्टि की प्रक्रिया दीक्षणीया इष्टि में अतिदिष्ट हुयी है।) पस, आश्वलायनादि को पहिले दर्शपूर्णमास याग की व्याख्या करना उचित हुआ। इस से यह ज्ञात हुआ कि कल्पसूत्र मन्त्र विनियोग द्वारा यज्ञानुष्ठान का उपदेश देकर उपकार करता है। यदि इस पर कोई ऐसी आपत्ति दे कि "प्रवोराज"इत्यादि सामधेनी ऋक् (एक जातीय ऋक्) मन्त्रों का विनियोग आश्वलायन कर सकते हैं क्योंकि उन को वे आम्नात (पठित) हैं। किन्तु "नम प्रवक्त्र" इत्यादि ऋचाओं का विनियोग क्योंकर करेंगे? क्योंकि उनने उन मन्त्रों को पढ़ा ही नहीं। जिस प्रकार जो मन्त्र आम्नात हुए तदनुसार ही विनियोग करना उचित है जो आम्नात हुए नहीं, उनका विनियोग कैसे होगा? आश्वलायन ने निज वेद शाखा में उसे न पाकर भी विनियोग क्योंकि या? इस का उत्तर यह कहा जा सकता है कि इस में कोई दोष नहीं, क्योंकि शाखान्तर में जो मन्त्र आम्नात हुए हैं, उन सब का भी ब्राह्मणान्तर में विनियोग सिद्ध है, यहां भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस कारण जिस शाखा में जो गुण (आदिकर्म) उपदिष्ट क्यों नहो, कर्मके निर्वाह के लिये वे सब ही मन्त्र एकत्र किये जा सकते। (एकत्र विहित कर्म अन्यत्र विहित गुण अपेक्षा करता, इस लिये शाखान्तर गत मन्त्र अन्यत्र विनियुक्त हो सकते हैं।) मीमांसा शास्त्र से जो अवगत हैं उन का कथन है कि सब ही शाखाओं में यह कर्म प्रतिपादित हुआ है। इसी लिये वेद ज्ञान के लिये जिस प्रकार "शिक्षा" पढ़ना अत्यावश्यक है, उसीप्रकार कल्पशास्त्र भी वेदार्थ विचार में परमावश्यक है। कल्प सूत्र में मन्त्र विनियोग द्वारा यागों के अनुष्ठान का उपदेश किया गया है। इस शास्त्र को न जानने से यागादि विषय में जो सब सन्देह होता उन का निरास करना नहीं बन सकता। इसी प्रकार व्याकरण आदि ४ अङ्गों के भी भिन्न २ प्रयोजन हैं जिन के ज्ञान विना वेद ज्ञान होना असम्भव है।

यह "कल्पसूत्र" दो भागों में विभक्त है, एक "श्रौतसूत्र" दूसरा "गृह्यसूत्र' जिसमें साक्षात् श्रुति विहित अग्निष्टोम आदि अनुष्ठित होते, उस अग्नि को श्रौताग्नि कहते एवं उस अग्नि के सम्बन्ध में जो सब अनुष्ठेय कार्य हैं, उन सबको, और ये कार्य सब प्रणालिवद्ध जिस ग्रन्थ में उपदिष्ट

हुए हैं उसे भी "श्रौत" कहते हैं। इसी प्रकार जिस अग्नि को अवलम्बन कर विवाहादि गृह्य कार्यों का अनुष्ठान किया जावे, उस अग्नि को, उन सब सम्पूर्ण कार्यों को, एवं उन सब कार्यों के प्रणाली विधायक ग्रन्थ को "गृह्य" कहते हैं। यद्यपि "श्रौतसूत्र" प्रत्येक वेद के एक से अधिक हैं किन्तु अमुक शाखा का अमुक श्रौतसूत्र ग्राह्य है ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, अतएव सायनाचार्य्य कहते हैं कि "सर्वशाखा प्रत्येकमेकं कर्म" * ।

अर्थात्—सकल शाखाबोधित कार्य्यानुष्ठान एक ही है। मीमांसा-चार्य-जैमिनि ने भी ऐसी ही व्यवस्था किया है (मीमांसा अ० ९ पा० २) और अधिकरण मालादि में भी यह बात कही गयी है। परन्तु गृह्यसूत्र आदि शाखा भेद से विभिन्न हैं, सुतरां जिस वेद की जितनी शाखा हैं, उस वेद के गृह्यसूत्र भी उतने ही मानने पड़ते। सामवेदीय श्रौतसूत्र प्रणेता लाट्यायन एवं तदीय कौथुमी शाखा के गृह्य—ग्रन्थ प्रणेता आचार्य का नाम गोभिल है। इन्हीं गोभिल प्रणीत सूत्र आदि की व्यवस्थानुसार उक्त शाखा ध्यायी ब्राह्मणों के विवाहादि सब कार्य्य हुआ करते। एवं इसी सूत्र की प्रमाणता से महामहोपाध्याय भवदेव भट्ट ने विवाह आदि पद्धति का प्रचार वङ्गदेश में किया है। अन्यान्य देशों में भी और २ पद्धतिया हैं। इन्हीं गोभिलाचार्य्य के गृह्यसूत्र, संध्यासूत्र, स्नानसूत्र, और श्राद्धसूत्र, ये चार ग्रन्थ हैं। यदि ग्राहकों की रुचि हुयी, तो इन ग्रन्थों को भी हम सानुवाद प्रकाशित करेंगे॥

यद्यपि इस गो० गृ० सू० पर नारायणोपाध्याय कृत वृत्ति पायी जाती है परन्तु इस में लेखक की अनवधानता से इतनी अशुद्धिया हैं, जिन को सम्भार कर छपवाना एवं नूतन टीका करनी, दोनों में समान परिश्रम है। इस लिये इस से उपेक्षा कियी गयी। इस गृ० सू० पर दूसरी संस्कृत टीका पं० चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार जी की है। यह टीका अन्यान्य शाखानुयायी गृ० सू० के मत के साथ एकता सम्पादन पूर्वक रची गयी है जिस कारण यह टीका अति वृहत हुयी है। हमारी समझ में जिस शाखा के जो गृह्यसूत्र हों उस २ की टीका तद् २ शाखा के अनुकूल ही होनी चाहिये क्योंकि, अपनी २ शाखानुसार ही अपने २ गृह्यसूत्रादि में स्व २ शाखानुसार कर्तव्य लिखे गये हैं।

ऐसी संस्कृत टीका—इस गृह्यसूत्र पर पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी ने किया है, हमने इसी संस्कृत टीका के अनुयायी भाषानुवाद किया है।

---

* तदीय ऋग्भाष्यभूमिका द्रष्टव्य ।

इस गोभिलगृह्यसूत्र में ४ प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक में कुछ २ खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एकाधिक सूत्र हैं। यों इस में ४ प्रपाठक, ३९ खण्ड एवं १००९ सूत्र हैं। और इस में सात मुख्य २ प्रकरण हैं। १ सर्वकर्मसाधारण विधि, २ ब्रह्मयज्ञ, ३ दर्शपौर्णमास, ४ विवाहादि संस्कार, ५ गृहिकर्त्तव्य ६ काम्यकर्म और ७ अर्हणीय प्रकरण हैं।

वेदों की शाखा।

चरणव्यूह नामक-महर्षि शौनक प्रणीत यजुर्वेदीय परिशिष्ट ग्रन्थ में अनेक प्रकार की वैदिक शाखाओं का उल्लेख देखने से स्पष्ट ज्ञात पड़ता है कि 'चरणव्यूह ग्रन्थ बनने के बहुत काल पूर्व ही से विभिन्न वेदों की नाना प्रकार की शाखायें विद्यमान थीं। 'चरणव्यूह' बनने के पूर्व जो सब वैदिक 'चरण' और 'शाखा' विलुप्त, या शाखान्तर के साथ मिल गयी थीं, उन सब की नामावली उस में नहीं पायी जाती, वरन उस की रचना समय में जो २ शाखायें विद्यमान थीं, उन की नामावली निःसंशय उस में सन्निविष्ट है। ऋग्वेदीय शाकल, वाष्कल, शांख्यायन, माण्डुकायन, एवं आश्वलायन,-इन पांच, शाखाओं का नाममात्र उल्लेख है। परन्तु ऋग्वेद के ऐतरेयी, कौषितकी पैङ्गी, शैशिरीय, प्रभृति प्राचीन शाखाओं का कोई भी उल्लेख नहीं है। ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य में भी शाकल, शांख्यायन, आश्वलायन, माण्डुकायन, और वाष्कल शाखा प्रवर्त्तक आचार्यों का उल्लेख है। जैसे-

"ऋचां समूह ऋग्वेदस्त मभ्यस्य प्रयत्नतः।
पठितः शाकलेनादौ, चतुर्भिस्तदनन्तरम्।
शांख्याश्वलायनौ चैव, माण्डुको वास्कलस्तथा।
बह्वृचां ऋषयः सर्वे, पञ्चैते एक वेदिनः" ॥-(शौनकीय प्रातिशाख्ये)

एक वेदीय विभिन्न शाखा में कोई शिष्य पार्थक्य था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु किसी स्थान में किसी शब्द या मन्त्र का व्यतिक्रम, और परिवर्त्तन, किसी स्थान में दो चार मन्त्र नूतन संयोजन, किसी स्थान में मन्त्रों का परस्पर स्थान विपर्य्यय, किसी स्थान में मन्त्रों का उच्चारण घटित प्रभेद भिन्न २ शाखाओं में दीख पड़ते हैं। वेदाध्यापक प्रति आचार्यों के शिष्य परम्परा से, एक ही 'संहिता' (वेद) का शाखा भेद घटित यत्सामान्य अकिञ्चित् कर परिवर्त्तन के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं दीखता, तात्पर्य्यतः सब शाखाओं की संहिता-एक सी हैं।

सामवेद की शाखा ॥

सामवेदीय शाखा प्रवर्त्तक आचार्य्यों की नामावली विष्णु पुराण में (अ० ३ । अंश ६) इस प्रकार दी है कि जैमिनि, सुमन्तु और सुकर्म्मा, उत्तरोत्तर सामवेदसंहिता अध्ययन और अध्यापन करते थे । जैमिनि के पौत्र सुकर्म्मा का हिरण्य नाभ और पौष्पिञ्जि नामक दो शिष्य थे, उन में से कोशल देश वासी हिरण्यनाभ के १५ शिष्य प्राच्यसामग नाम से प्रसिद्ध थे। उन में से कृति नामक ऋषि के २४ शिष्य द्वारा सामवेद की बहुत सी शाखायें हुईं । सुकर्म्मा का अन्यतर शिष्य पौष्पिञ्जि के लोकाक्षि, कुथुमि, कुसीदि और लाङ्गलि नाम से ४ प्रधान शिष्य थे * विष्णु पुराण के मत से सामवेद के १००० शाखायें थीं । निरुक्त के भाष्य कार दुर्गाचार्य के मत से भी सामवेद सहस्र शाखाओं में विभक्त था ।

इस प्रकार चरण व्यूह आदि के लेखानुसार ४ वेदों की ११३१ या ११३७ शाखायें हैं। और चरण व्यूह में राणायनीय, शाठय, मुग्र्य, कालाप, महाकालाप, शार्दूल, लाङ्गुलायन और कौथुम; साम वेद की इन सात प्रधान शाखाओं का उल्लेख है । आसुरायन, वातायन, प्राञ्जलि, द्वैतभृत, प्राचीनयोग्य, और नैगेय, ये पांच कौथुम शाखा के अन्तर्भुक्त उपशाखा मात्र हैं । कौथुम शाखा गुजरात में, जैमिनीय शाखा कर्णाट में और राणायनीय शाखा, महाराष्ट्र देश में प्रचलित हैं । बङ्ग देश में कौथुम शाखा को छोड़ सामवेद की अन्य शाखा के ब्राह्मण नहीं मिलते ।

"सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनिः ।
क्रमेण येन मैत्रेय बिभेद शृणु तन्मम ॥ १ ॥
सुमन्तुस्तस्य पुत्रोऽभूत्, सुकर्म्मास्याप्यभूत्सुतः ॥
अधीतवन्तौ चैकैकां, संहितां तौ महामुनी ॥ २ ॥
सहस्रं संहिताभेदं, सुकर्म्मा तत्सुतस्ततः ।
चकार तं च तच्छिष्यौ, जगृहाते महामती ॥ ३ ॥
हिरण्यनाभः कौशल्यः पौष्पिञ्जिश्च द्विजोत्तम ।
उदीच्य सामगाः शिष्यास्तेभ्यःपञ्चदशस्मृताः ॥ ४ ॥
लोकाक्षिः कुथुमिश्चैव कुसीदीलाङ्गलिस्तथा ।

* महर्षि पतञ्जलि के कथनानुसार यजुर्वेद की १०१ शाखा, सामवेद की १०००, ऋग्वेद की २१ और अथर्ववद की ९ शाखा हैं ॥ ** एक शतमध्वर्यु शाखाः सहस्र वर्त्मा सामवेदः । एकविंशतिर्बह्वृच्यं नवधाऽथर्वणोवेदः । महाभाष्ये० ॥

पौष्यञ्जिशिष्यास्तद्भेदैः संहिता बहुली कृताः ॥ ५ ॥
हिरण्यनाभःशिष्यश्च, चतुर्विंशति संहिताः ।
प्रोवाच कृति नामासौ शिष्येभ्यः सु महामतिः ॥ ६ ॥
तैश्चापि सामवेदोऽसौ शाखाभि बहुलो कृतः ॥ ७ —॥" विष्णुपुराण ३ । ६।

क्या व्यास जो से वेदों की शाखायें प्रवृत्त हुयीं?

बहुत से लोग कहते हैं कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन (महर्षि व्यास) वेदों के विभाग कर्त्ता, मन्त्र द्रष्टा और शाखा प्रवर्त्तक थे। पुराणों में भी इसी प्रकार (विष्णुपुराण तथा भागवत पु०) लिखा है परन्तु यह बात ठीक नहीं है। महर्षि व्यास वेद के अद्वितीय वेत्ता थे, इन्हों ने इधर उधर से विकीर्ण वेद मन्त्रों का और भी उत्तम रीति से एकत्र कर, जिस वेद के जो मन्त्र थे उन्हें, यथा स्थान रख भिन्न २ संहितानुसार अनेक शिष्यों को उपदेश दिया और उन के पूर्व की जो शाखायें थीं, जो काल वशतः लुप्त हो गयीं थीं, उन्हें भी जहां तहां से लेकर बड़े उद्योग से प्रकाशित किया और अपने चार शिष्यों को पढ़ाया इन के समय में वेद की परम उन्नति थी और ये हीं, उस समय वेद के अद्वितीय उन्नायक थे, अपने बुद्धि तप, और अध्यवसाय से यथा साध्य इनने वेद की सब शाखाओं का पता लगा कर ठीक किया। इस बात को लेकर "वेद व्यास" जी से वेद प्रवृत्त हुए कहलाया। "शाखाप्रणयनं चैव द्वापरे समभूदिदम्" अर्थात् शाखाओं की रचना द्वापर में हो चुकी, यह लिखा है है, इसका अभिप्राय यह है कि द्वापर पर्यन्त वेदों की शाखा बढ़ती रही। क्योंकि द्वापर के पहिले त्रेता युग में भी शाखायें थीं, जैसा कि वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या काण्ड में लिखा है कि "आचार्या स्तैत्तिरीयाणाम्" पुनः "एतेकठाः कलापाश्च" किन्तु पुराणों में इस के विरुद्ध कठ, कलाप आदि शाखा व्यास ही के शिष्योंमें प्रवृत्त हुई लिखा है। इस का तात्पर्य पहिलेही लिखा गया।

सामवेद के आचार्य्यगण।

सामवेद के सम्प्रदाय प्रवर्त्तक आचार्य्यों की नामावली * इस प्रकार लिखी है—ब्रह्मा ने बृहस्पति को उपदेश किया, उन ने नारद को, पुनः उन से विष्वक्सेन, उन ने पराशर के पुत्र व्यास को, व्यास ने जैमिनि को, उन ने

* अथास्य सामविधानस्य सम्प्रदायप्रवर्त्तकानाचार्य्याननुक्रमेण संकीर्त्तयति । सोऽयं प्राजापत्यो विधिः । तमिमं प्रजापतिर्बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिर्नारदाय । नारदो विष्वक्सेनाय । विष्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय । व्यासः पाराशर्यो जैमिनये । जैमिनिः पौष्पिण्डाय, पौष्पिण्डः पाराशर्य्यायणाय । पाराशर्यायणो बादरायणाय । बादरायणस्ताण्डिशाट्यानिभ्यां । ताण्डि—शाट्यायनिनौ बहुभ्यः ॥ सामवेदीय सामविधान ब्राह्मणे ।

पौष्पिपञ्ज को, उन ने पराशर्य्यायण को उनने बादरायण को उनने ताण्डिऔर शाट्यायनको, इन दोनोंने बहुत शिष्यों को पढ़ाया” सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या * प्रसिद्ध भाष्यकार पं० कुमारिल भट्ट अपने तन्त्र वार्त्तिक नामक ग्रन्थ में इस प्रकार लिखते हैं:-१ ताराड्य (प्रौढ़, महा या पञ्चविंश), २ षड्विंश ३ उपनिषद् (छान्दोग) ४ संहितोपनिषद् (जैमिनीय या तलवकार), ५ सामविधान, ६ देवताध्याय, ७ आर्षेय और ८ वंश ब्राह्मण । इन में से षड्विंश ब्राह्मण जो ताण्ड्य ब्राह्मण का परिशिष्ट मात्र है-इस के छठें का नाम अद्भुत ब्राह्मण है, दशाध्यायी छान्दोग के शेष ८ अध्याय छान्दोग उपनिषद् है, तलवकार ब्राह्मण का शेष अध्याय केन या तलवकार उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वोक्त ८ ब्राह्मणों में से शेषोक्त ४ ब्राह्मण साम-वेदीय -अनुक्रमणी भिन्न कुछ नहीं है ।

उपलब्ध सामवेदीय ग्रन्थों की सूची ।

१–सामवेदमन्त्रसंहिता । २–साममूची । ३–आरण्यसंहिता । ४–लाट्यायनश्रौतसूत्र । ५–अष्टविकृति । ६–विकृतिवल्ली । ७–अक्षर-तन्त्र । ८–सामप्रातिशाख्य । ९–सामगायनपद्धती । १०–ताराड्यमहाब्राह्मणं । ११–आर्षेय ब्राह्मण । १२–सामविधानब्राह्मण । १३–दैवतब्राह्मण । १४–देवताध्याय ब्राह्मण । १५–मन्त्रब्राह्मण । १६–वंशब्राह्मण । १७–षड्विंशब्राह्मण । १८-गृह्यसंग्रह । १९-गोभिलगृह्यसूत्र । २०-यज्ञपरिभाषा । २१-निदानसूत्र । २२-उपग्रन्थसूत्र । २३-सामप्रकाश । २४-शान्तिपाठ । २५-स्वराङ्कुश । २६-नारदीय शिक्षा । २७-सामपद संहिता । २८-सन्ध्यासूत्र । २९-स्नानसूत्र । *३०-श्राद्धसूत्र

यजमान और पुरोहित, या ऋत्विग्गण ।

यजमान उसे कहते हैं जो स्वयं अपने घर यज्ञानुष्ठान करते और ऋत्विक् उस को कहते हैं जो निर्दिष्ट समय में अपने या दूसरे के मङ्गल कार्य के निमित्त यज्ञ कार्य्य सम्पादन करे, 'पुरोहित' वा 'पुरोधा' भी इसी का नामान्तर है । काल क्रम से यज्ञीय आडम्बर की वृद्धि के साथ २ ऋत्विक् लोगोंकी क्षमता और संख्या भी बढ़कर, सनातन आर्य्यसमाज या वैदिक समाज में शीर्ष स्थानीय स्वतन्त्र एक श्रेणी में परिणत हुयी । पहिले सनातन

** ब्राह्मणानि हि यान्यष्टौ सरहस्यान्यधीयते । छन्दोगास्तेषु सर्वेषु न कश्चिन्नियतः स्वरः ॥३॥

(कुमारिल भट्टप्रणीततन्त्रवार्त्तिके १ । ३)

* यद्यपि सामवेद की १००० शाखाओं के भिन्न २ अनेक ग्रन्थ हैं परन्तु अद्यावधि यही ग्रन्थ मिले हैं ॥

आर्यसमाज में यजमान स्वयं ही काष्ठ घिसकर अग्नि उत्पन्न कर प्रज्वलित अग्नि में अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये पवित्र आज्याहुति प्रदान करते । ऋत्विक् नियोग व्ययसाध्य व्यापार होने से केवल, धनी लोग ही पुरोहित द्वारा यज्ञ कराते। अर्थात् धनी लोगोंही में ऋत्विग् गण आवद्ध थे * । पीछेकाल क्रमसे उस के सम्पादन का भार मन्त्रज्ञ ऋत्विक् (पुरोहित) लोगों के हाथ समर्पित हो, उन का प्रभाव और माहात्म्य सविशेष बढ़ चला। होता (बह्वृच) पुरोहितों के लिये 'ऋग्वेदसंहिता' निर्दिष्ट हुयी । 'उद्गाता' (छन्दोग) और अध्वर्य्यु पुरोहितों के लिये यथाक्रम साम और यजुर्वेद संहितायें नियत हुयीं। इन भिन्न २ श्रेणी पुरोहितों के यथार्थ कर्त्तव्य ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखे गये बह्वृच पुरोहितों के लिये ऋग्वेदीय एतरेय और कौषित की ब्राह्मण, उद्गाताओं के लिये ताण्ड्य ब्राह्मण; और अध्वर्यु पुरोहितों के लिये तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण और अथर्ववेदीय के लिये गोपथ ब्राह्मण नियत हुए । ब्राह्मण ग्रन्थोंकी रचना पश्चात् अपने२ वेदों की शाखानुसार कल्प वा श्रौत और गृह्यसूत्र बनने लगे। और श्रौत ग्रन्थानुसार बड़े २ यज्ञ एवं गृह्यसूत्रानुसार स्मार्त्त कर्म होने लगे । जब वेदोंका पढ़ना पढ़ाना कम हुआ और वैदिककर्म में बाधायें होने लगीं, राजा लोग वेदविद्या से मूर्ख होने लगे, उस समय से पुरोहितों में परस्पर ईर्षा द्वेष की नेव पड़ी और लगे एक दूसरे के विरुद्ध निन्दा लिखने यहां तक कि जो होता (ऋग्वेदी) अध्वर्यु, (यजुर्वेदी) उद्गाता (सामवेदी) और ब्रह्मा (अथर्ववेदी वा चतुर्वेदवेत्ता) एकसाथ एक यज्ञ में परस्पर आनन्द के साथ अपना २ कर्त्तव्य पालन कर, यज्ञकार्य सम्पादन करते वे स्वतन्त्र २ ग्रन्थ बना, उस में अपनी २ प्रशंसा और अन्यवेदी की निन्दा लिखने लगे, जिस का परिणाम यह हुआ के राजा तथा प्रजा एवं मनुष्यमात्र में साम्प्रदायिक * निदारुण विद्वेष फैलकर भारतवर्ष का सर्वनाश हुआ । इस के उदाहरण में हम "अथर्वपरिशिष्ट" नामक ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं ॥

पुरोहितों में साम्प्रदायिक निदारुणविद्वेष !!!

"अथर्वपरिशिष्ट" ग्रन्थ के ११२ में अध्याय में लिखा है कि ऋग्वेदी 'बह्वृच' पुरोहित यजमान का राज्य, और यजुर्वेदीय अध्वर्यु (ऋत्विक्) यजमान के पुत्र कलत्रादि का विनाश करते हैं; सामवेदी छन्दोग जिस यजमान के पुरोहित होते उन का धन नष्ट हो जाता । अज्ञानता, या प्रमाद

* महर्षि आपस्तम्ब ने 'यज्ञ परिभाषा' नामक ग्रन्थ में यों लिखा है कि:—स (यज्ञः) त्रिभिर्वेदैर्विधीयते ॥१॥ ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदैः॥२॥ ऋग्वेदेन होता करोति ॥१६॥ सामवेदेनोद्गाता ॥१७ यजुर्वेदेनाध्वर्युः ॥१८ सर्वैर्ब्रह्मा १६।

से जो 'बह्वृच' ब्राह्मण को पौरोहित्य कर्म में वरण (मुकर्रर) करते, निःसन्देह उन के देश, राज्य, नगर, और मन्त्री विनष्ट हो जाते हैं। जो राजा, अध्वर्यु ब्राह्मण को अपना पुरोहित नियत करता, वह, धन, और यान (रथ) आदि से विहीन हो अस्त्राघात से शत्रु के हाथ शीघ्र ही मारा जाता। पङ्गु व्यक्ति, जिस प्रकार गन्तव्य मार्ग में चलने से असमर्थ होता, अण्डे से सद्योजात पक्षी जिस प्रकार आकाश गामी प्रौढ़वयस्क विहङ्गम की नाईं आकाश मार्ग में परिचरण करने में असमर्थ होता; सामवेदी छन्दोग पुरोहित द्वारा राजा भी उसीप्रकार उन्नति लाभ करनेमें असमर्थ होता है। और अथर्व वेदी * जलद और 'मौद्ग' शाखाध्यायी ब्राह्मण जिस राजा के पुरोहित होते, १० या १२ महीने में वह राजा, राज्यच्युत हो जाता है। अथर्ववेदी ब्रह्मा पुरोहित ही पुरोहितों में सब से श्रेष्ठ हैं, वे भयानक कार्य उत्पादन और उस की शान्ति कर सकते, यज्ञ को अनेक विघ्न एवं विपद् से बचा सकते हैं।

अङ्गिरा ही, यज्ञके एकमात्र नियामक अधिपति हैं। ब्रह्मवेदज्ञ अथर्ववेदी ब्राह्मण दिव्य, आन्तरीक्ष, और भौम, इन नाना विधि यज्ञोत्पात के उपशमन विधान करते हैं। अध्वर्य्यु, छन्दोग, क्या बह्वृच कोई भी यज्ञ कालीन अनेक प्रकार के उत्पात प्रशमन नहीं कर सकते इत्यादि। साम्प्रदायिक निदारुण विद्वेष द्वारा परिचालित हो, क्रोधान्ध ग्रन्थकारों ने अपर वेदी और स्ववेदीय भिन्न २ शाखाध्यायी पुरोहितों के प्रति नितान्त अवैध यह कटूक्ति वर्षण पुरः सर अपनी प्रधानता जतलाने के लिये काण्डाकाण्ड विहीनता का परिचय दिया है।

* बह्वृचो हन्ति वैराष्ट्रं अध्वर्य्युं नाशयेत् सुतान्।
छन्दोगो नाशयेत् धनं, तस्मादथर्व्वणो गुरुः॥
अज्ञानाद् वा प्रमादाद् वा, यस्य स्याद् बह्वृचो गुरुः।
देशराष्ट्र–पुरामात्य, नाशस्तस्य न संशयः॥
यदि वाध्वर्यवं राजा, नियुनक्ति पुरोहितम्।
शस्त्रेण बध्यते क्षिप्रं परिक्षीणार्थ वाहनः॥
यथैव पङ्गुरध्वानं, अपक्षी चाण्डजो नभः।
एवं छन्दोगगुरुणा, राजा वृद्धिं न गच्छति॥
पुरोधा जलदो यस्य, मौद्गो वा स्यात् कथञ्चन।

* और भी 'शौनक, पैपलाद आदि शाखायें हैं॥

अब्दाद् दशभ्यो मासेभ्यो राष्ट्रभ्रंशं स गच्छति ॥
अथर्वा सृजते घोरं, अद्भुतं शमयेत्तथा ।
अथर्वा रक्षते यज्ञं, यज्ञस्य पतिरङ्गिराः ॥
दिव्यान्तरीक्षभौमानामुत्पातानामनेकधा ।
शमयिता ब्रह्मवेदज्ञः, तस्माद्दक्षिणतो भृगुः ॥
ब्रह्मा शमयेन्नाध्वर्युर्न छन्दोगो न बह्वृचः ।
रक्षांसि रक्षति ब्रह्मा, ब्रह्मा तस्मादथर्ववित् ॥–(अथर्वपरिशिष्टः)

॥ संस्कार ॥

आर्यऋषिगण ने दिव्य दृष्टि से देखा था कि उच्छृङ्खल मनुष्यजाति नियम–रहित होने से उत्तरोत्तर अवनति ही की ओर अग्रसर होगी, कभी मङ्गल मय साधुमार्ग पर पैर न रक्खेगी, प्रत्युत अनुराग प्रणोदित हो निरन्तर असत् कर्म्म का अनुष्ठान करेगी। सुतरां ऐसी अवस्था में समाज का शरीर अक्षत नहीं रह सकता और मानव–हृदय में धर्मभाव भी प्रस्फुटित नहीं हो सकता। इस कारण प्रत्येक जीव एवं समस्त समाज का ऐहिक और पारलौकिकहित साधन उद्देश्य से महर्षियों ने विशेष नियम व्यवस्था विधिबद्ध कियी हैं। मकान–मजबूत करनेसे पहिले उसकी नेव मज़बूत देनी पड़ती है, इसकारण मानवशिशु भूमिष्ठ होनेके पहिले ही ऋषि ने सावधान किया है कि-

"निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितोविधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारःस्यान्नेतरस्य कदाचन ॥,, (मनुः।१।)

अतएव गर्भाधान आदि संस्कार सब यथा समय सम्पादन करना आर्यमात्र को कर्त्तव्य है। संस्कार–का अर्थ शोधन करना, दोषों को हटाकर गुणों को मिलाना। अर्थात् संस्कार द्वारा कहीं तो वस्तुगत दोष विनष्ट होते और कहीं वस्तुमें गुण विशेष संयोजित होते। जैसे आईना स्वभावतः स्वच्छ और प्रतिविम्बग्राही होता है, किन्तु उनमें दोष विशेष से मालिन्य उपस्थित हो जाता एवं जिस समय तक उस का मैलापन दूर नहीं होता, उतने समय तक उस की प्रतिविम्बग्राहिता, या स्वच्छता कुछ भी प्रकाश नहीं पाती, इस कारण उस में संस्कार का प्रयोजन पड़ता है। घर्षण आदि क्रिया द्वारा वह आगन्तुक मालिन्य, दूर होने पर पुनः दर्पण का दर्पणत्व प्रकाश पाता है।

यही प्रथमोक्त संस्कार का फल है। इसीप्रकार किसी स्थिल में वस्तु का किसी प्रकार दोष दूर नहीं होता किन्तु उस में एकप्रकार गुण या उत्कर्ष मात्र उत्पादन करता है। उसी प्रकार जीव, या जैव अन्तः करण भी स्वभाव से स्वच्छ है किन्तु कामादि संसर्ग फल से उस में मालिन्य, या अज्ञान उपस्थित होता, मालिन्य उपस्थित होने से उस में पुनः विवेक ज्ञान प्रकाश नहीं पाता, विवेक के अप्रकाश से जीव का अधः पतन अवश्यम्भावी, और अधः पतित जीवों को सर्व्वत्र ही अशान्ति होती, यह स्थिर सिद्धान्त है। सब अनर्थों का मूल स्वरूप उस मालिन्य को दूर कर स्व २ तेज उद्दीपित करना ही संस्कारों का प्रधान प्रयोजन है। शास्त्र कारों ने भी इस विषय में सुन्दररूप से समझाया है:-

चित्रं कर्म्मानेकैरङ्गै रुन्मील्यते यथाशनैः।
ब्राह्मण्यमपितद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

जिस प्रकार छवि, चित्रकर और रचना की कुशलता से क्रमशः अङ्ग प्रत्यङ्ग द्वारा प्रकाशित, या सम्पूर्ण होती, ब्राह्मण्यतेज भी उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कार कार्य्य के वार २ अनुष्ठान से पूर्णत्व लाभ करता है। उल्लिखित संस्कार किसी के मत से १६, किसी के मत से १७, किसी के मत से इस्से भी न्यून या अधिक हैं जैसे-१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूड़ाकरण, ९ कर्णवेद, १० उपनयन, ११ वेदारम्भ, (ब्रह्मचर्य्य) १२ समावर्त्तन, १३ विवाह, १४ गृहाश्रम, १५ वानप्रस्थ, १६ सन्यास और १७ अन्त्येष्टि ॥

१ गर्भाधान।

पूर्व ही कहा गया है कि "मनुष्यों के तेज" का संवर्द्धन ही सब संस्कारों द्वारा साधारण और असाधारण का मुख्य उद्देश्य है। घर सुदृढ़ रखने के लिये उस की चेष्टा आरम्भ ही से करनी पड़ती है। सर्वलोक हितैषिणी जननीकल्पा यह श्रुति, उस निगूढ़ उच्चतम उद्देश्य सिद्धि के अभिप्राय से कहती है कि पितृ, मातृ शरीर में जो दोष रहता, वह सन्तान शरीर में संक्रामित होता है। यह बात विज्ञानशास्त्र भी मुक्तकण्ठ से कहता है। प्राणी मात्र में ऐसे अनेक दृष्टान्त भी मिलते हैं, अधिक क्या पिता माता की मनोवृत्ति पर्यन्त भी सन्तान में संक्रामित हुआ करती है। मनु कहते हैं कि गर्भाधान, आदि संस्कार द्वारा द्विजाति शिशु के बीजदोष (पिता माता के असत्) संकल्पादि रूप बीज या उपादानगत दोष एवं गार्भिक (माता के शरीर जरायुसंक्रान्त, दोष सब दूर होते हैं)

"गर्भैर्होमैर्जातकर्मचौरमौञ्जीनिबन्धनैः।
गार्भिकं वैजिकञ्चैव द्विजानामपमृज्यते"॥ मनुः।२।२७॥

तात्पर्य यह है कि सन्तान पिता माता के संस्कार को पाता है, सुतरां माता में किसी प्रकार अवैध कुत्सित भाव उपस्थित हो तो वह सन्तान के हृदय में भी अवश्य जम जाता है। महाभारत में लिखा है कि-एक समय वीरवर अर्जुनने सुभद्रा को एक युद्ध वृत्तान्त सुनाया था, कथा का आधा अंश बाकी ही था कि सुभद्रा सो गयीं। उस समय सुभद्रा का गर्भस्थ अभिमन्यु भी पिता का कहा हुआ युद्ध वृत्तान्त के अर्द्धांश मात्र से अवगत हुआ। और माता के सो जाने के कारण अवशिष्ट अर्द्धांश नहीं जान सका। शास्त्रानुसार देखा जाता है कि उक्तप्रकार संस्कारों से संस्कृत द्विजातिगण धर्म व्रत के यथार्थ अधिकारी एवं अध्यात्म शास्त्र ग्रहण में भी पूरे अधिकारी होते हैं।

२ पुंसवन॥

प्रत्येक कार्यों का कुछ न कुछ उद्देश्य रहता ही है, सुतरां पुंसवन संस्कार का भी एक उद्देश्य रहना आवश्यक है, सो क्या है? गर्भरक्षा। तात्पर्य यह है कि साधारणतः तीसरे मास से चौथे मास पर्यन्त गर्भ गिर जाने का एक प्रधान समय है, इस प्रबल विपत पात से गर्भिणी को उद्धार करना ही इस संस्कार का प्रधान प्रयोजन है। द्वितीय कार्य, पुत्र सन्तानोत्पादन अर्थात् कुक्षिस्थ भ्रूण से लड़का होगा या लड़की? सो तीसरे मास तक स्थिर नहीं होता, कारण यह है कि तीसरे मास के पहिले गर्भस्थ सन्तान का 'स्त्री', या 'पुं', चिन्ह कुछ भी नहीं उत्पन्न होता (आयुर्वेद के अनुसार) सुतरां उस समय में पुत्रसन्तानोत्पादनार्थ पुंसवन क्रिया सम्पादन करना विशेष आनन्द कर होता, इस में सन्देह नहीं। पति, संस्कार आदि कार्य सब सम्पादन कर, जिस समय गर्भवती पत्नी को उद्देश्य कर कहता है कि "मित्रावरुणौ" ये दो देव पुरुष हैं—अश्विनी कुमार भी पुरुष, एवं 'वरुणदेव भी' पुरुष हैं (इन के अनुग्रहसे) तुम्हारे उदर में भी पुरुष सन्तान प्रादुर्भूत हुआ है" इत्यादि। ऐसे समय गर्भिणी रमणी जो समधिक आनन्द से उत्फुल्ल और शान्ति शालिनी होतीं, यह निश्चित है। और उस समय शरीर की दुर्बलता, मूर्च्छा, अरुचि, * प्रभृति दोषों से अवसन्न प्रायःदेह में कुछ उत्साह और आनन्द न होने से गर्भ विशेष शेष का उपाय नहीं। * अत एव पुंसवन संस्कार भी तत्त्वान्वेषियों के पक्ष

* पुंसवन काल में यव, और उड़द के साथ बड़ का दो फल लेकर गर्भिणी को सूंघाना होता है। आयुर्वेद में लिखा है कि स्त्री के अङ्गों के दोष के दूर करने की यह एक उत्तम औषधि है॥

में उपेक्षणीय नहीं। प्रत्यक्ष फल के अतिरिक्त अदृष्ट फल भी है।

३ सीमन्तोन्नयन।

तीसरे मास से चौथे मास तक जिस प्रकार गर्भच्युति का समय है, उसी प्रकार छठे मास से ८ मास पर्य्यन्त गर्भभ्रंश का दूसरा एक समय है। गर्भिणी का चित्त जितना ही खिन्न होगा एवं शरीर भी जितना ही दुर्बल, या आलस्य ग्रस्त होगा, गर्भ-भ्रंश की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी। उसी अवसाद और दैहिक दुर्बलता दूर करने के लिये यह सीमन्तोन्नयन संस्कार है।

सीमन्त-का अर्थ "केशवीथी" (सर.मांग) उन्नयन-उठाना अर्थात् स्त्री के बालों को विधिपूर्वक सम्भारना। स्वामी स्वयं एक वृन्तगत दो उदुम्बर की शलाका और स्वस्तिका आदि और भी कई एक माङ्गलिक द्रव्य एकत्रित कर, सूत्र द्वारा गर्भिणी के जूरे को बांधे। अनन्तर स्वामी कुश, गुच्छ और मरकाष्ठिका प्रभृति द्वारा गर्भिणी के जूरे को उत्तोलन करने में जिन मन्त्रों का पाठ करना पड़ता, उन सब मन्त्रों का भाव भी अति मधुर और गम्भीरता से स्त्री को समझावे॥

४ जातकर्म्म।

यह चतुर्थ संस्कार है। बालक के भूमिष्ठ होने के पीछे एवं नाभि काटने के पूर्व यह कार्य्य सम्पन्न करना पड़ता एवं उसी समय मन्त्रोच्चारण पूर्वक, सद्योजात शिशु का घृत, मधु, को मिला कर सोने की शलाका से जिह्वा में "ओ३म्" ऐसा लिखना पड़ता। इस से शिशु कंटके बल वीर्य्य, और तेज की वृद्धि होती है। यह धर्म्म शास्त्र की बात हुयी, अब सुनिये वैद्यक और विज्ञान शास्त्र की बातः-

यौगिक प्रक्रियानुसार जाना जाता है कि विभिन्न गुण सम्पन्न दो या इससे अधिक पदार्थ मिलने पर एक अभिनव गुणान्तर उत्पादन करता, जिस प्रकार श्वेत चूना, और पीत हरिद्रा मिलने पर एक नूतन लाल रंग की सृष्टि करता इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण हैं। अतएव कथित संस्कार समय परस्पर संमिश्रित घृत, मधु, सुवर्ण आदि वस्तु भी जो उसी प्रकार एक अभिनव दूसरा गुण उत्पादन करेगा इस में आपत्ति या अनुपपत्ति कुछ नहीं। यह वस्तु-शक्ति जो सद्योजात शिशु का विशेष उपकार साधन करती यह भी आश्चर्य का विषय नहीं, वरं पदार्थतत्त्व विचारानुसार वह नवजात सन्तान के शरीर में बल और पुष्टिकर, वायु और पित्तहर एक परम रसायन कहकर

ग्रहण करता है। हमारे वैद्यक शास्त्र में उक्त घृत आदि के गुण यों लिखा है कि—

१ गव्यघृत—आंख का विशेष उपकारक, शीतल और वात, पीत, कफ का दूर करने वाला शुक्र और अग्निवर्द्धक, बल और आयुष्कर एवं बुद्धि और स्मृति के पुष्टि कारक।

[विशेषेण चक्षुर्हितत्वं शीतलत्वं वातपित्तकफनाशित्वं शुक्राग्निस्वादुपाकमेधालावण्यकान्त्योजस्तेजोवृद्धिवयःस्थिरबलायुर्हितकारित्वं, रसायनत्वं रोचनत्वं बुद्धिस्मृतिपुष्टिवपुः स्थैर्यकारित्वं अस्रोपशमनत्वं बहुगुणात्वञ्च। (एतेगव्यघृतगुणाः) इति भावप्रकाशः]।

२ मधु-शीतल, अनुग्र, जिह्वा का रुचिवर्द्धक तीनों दोष का नाशक एवं स्वाश, काशादि निवर्त्तक है। *

सुवर्ण—मधुर, कषाय, हृद्य, स्वरूप, बल कारक, नेत्रोपकारी, शारीर तेज और बल बर्द्धक एवं आयुः मेधा और वाक्य शुद्धिकर, क्षय, उन्माद आदि कठिन २ रोग सब भी इस्से प्रशमित होते हैं। * *

यव—कषाय, मधुर, बल बर्द्धक, रुक्ष, गुरु, शीतल, एवं मूत्र, मेद, और दोष निवारक है। इसी प्रकार अन्यान्य चूड़ाकरण आदि संस्कार के अनेक प्रयोजन हैं जिन को हम विस्तार भय से यहां नहीं लिखते।

विवाहसमयमीमांसा ॥

प्रथम हम इस अंश में इसी गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है कि—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरवेऽनुज्ञातोदारान्

कुर्वीतासगोत्रान्। १-४। मातुरसपिण्डा ॥ ५ ॥ प्र० ३ खं० ४

अर्थात्:—ब्रह्मचारी वेद को आद्योपान्त पढ़ कर उपनयन की दक्षिणा गुरुदेव को देकर उन की आज्ञा से अपना विवाह ऐसी कन्या से करे, जो अपने गोत्र की न हो और माता की सपिण्डा न हो। पुनः

अनग्निकातु श्रेष्ठा ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ४

तत्र 'तु' अपि 'अनग्निका' यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत् यावच्च नग्ना स्वलज्जापि विवरिन्तु शक्नुयात्, सा नग्निका तद्भिन्ना अनग्निका ऋतुमती प्राप्तयौवना सैव "श्रेष्ठा" प्रशस्याः कन्याया ऋतौ सञ्जाते ह्येवाग्निभोग्यत्वमुपपद्यते तदैव च 'सोमोऽददद् गन्धर्वाय'—इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते; नान्यथेत्येव दार

* शीतलत्वं मृदुत्वं स्वादुत्वं त्रिदोष व्रणनाशित्वं रुक्षत्वं चक्षुष्यं स्वासकाशनाशित्वं (एतेमधुगुणाः)

* सुवर्णं तिक्तमधुरं कषायं गुरुलेखनं हृद्यं रसायनं वल्यां। चक्षुष्यं कान्तिदं शुचि ॥ आयुर्मेधाबलस्थैर्यवाक्विशुद्धिप्रदंनृणाम्, क्षयोन्मादगदार्त्तानां शमनं परमुच्यते ॥ इति राजवल्लभः ॥

कर्मणि ऋतुमत्याः प्राशस्त्यम् । अतएव मनुरपि "देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः (९, ९५)"—इति । तदेवं प्राप्तायां प्राप्तयौवनायाम् आसन्नयौवनापि नोद्वाह्येति फलितम् ।

भा०ः—जो कन्या उलङ्ग भाव से खेल करने में लज्जित न होवे, उसे नग्निका कहते इस के विरुद्ध अर्थात जिस कन्या का ऋतु प्रकाश पागया है, ऐसी प्राप्त यौवना कन्या को 'अनग्निका' कहते । अनग्निका कन्या ही विवाह के लिये श्रेष्ठ है; ऐसी कन्या समयानुसार न मिल सके तो जिस की यौवन अवस्था आरम्भ हो गई हो वह भी विवाहने योग्य है । यदि इस पर कोई नीचे लिखे वचन के आश्रय से यह आपत्ति देवे कि—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत उर्द्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठोभ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २ ॥

अर्थात् आठ वर्ष की (कन्या) गौरी, नववर्ष की रोहिणी, दश वर्ष की कन्या कहलाती है और इस के उपरान्त रजस्वला होती, एवं रजस्वला कन्या को देखकर माता, पिता, और बड़े भाई, ये नरक को जाते हैं ॥ तो इस के विरुद्ध अधिक पुष्ट प्रामाणिक वचन गौरी, रोहिणी आदि कन्या के विषय में "अनग्नि का" शब्द की निरुक्ति करते हुए ये हैं कि—

"नग्निका तु वदेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् ।
ऋतुमती त्वनग्निका तां प्रयच्छेत्त्वनग्निकाम् ॥ १७ ॥
अप्राप्ता रजसो गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी ।
अव्यञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना तु नग्निका ॥ १८ ॥
व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् ।
पयोधरैस्तु गन्धर्वा, रजसाग्निः प्रकीर्त्तितः ॥ १९ ॥
तस्माद्व्यञ्जनोपेता, अरजा अपयोधरा ।
अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते ॥ २० ॥

अर्थात्ः—जब तक कन्या को मासिक धर्म न हो, तब तक उसे 'नग्निका' कहते अतएव अनग्निका ही कन्या को विवाहे ॥ १७ ॥ जिस कन्या को रजो धर्म न हो, उसे "गौरी" और जिस के शरीर में 'रज' प्राप्त हो गया हो, उसे 'रोहिणी और जिस कन्या को युवा अवस्था के कोई चिह्न न हुआ हो, उसे 'कन्या' और 'कुचहीना' (स्तन रहित) को नग्निका कहते हैं ॥१८॥

युवा अवस्था के चिह्न वाली कन्या को सोम भोगते, पयोधर वाली को गन्धर्व और रजस्वला को अग्नि भोगते ॥ १९ ॥ इस लिये बिन यौवनावस्था के चिह्न हुए, रजो धर्म हीन, पयोधर रहिता और सोमादि से अभुक्ता कन्या विवाह के लिये प्रशस्त नहीं। गृह्यसंग्रह २ ।१७–२०॥ (ग्रन्थ) के वचन हैं अब इधर वैद्यक का प्रधान ग्रन्थ सुश्रुत कहता है कि–

"रसादेव स्त्रिया रक्तं रजः संज्ञा प्रवर्त्तते।

तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशत क्षयम् ॥ सुश्रुते० अ० १४

अर्थात्:–बारह वर्ष के पीछे कन्या का रजो धर्म आरम्भ होकर ५० वर्ष के बाद घटने लगता है। पुनः

पिता ऋतून् स्व पुत्र्याश्च गणये दाहितः सुधीः।

दिनावधि गृहे यत्नात् पालयेच्च रजस्वलाम् ॥ १ ॥

संस्कारकौस्तुभ पृ० २१ मुम्बई मुद्रित (शाके १८०४ ई०)

अर्थात्:–पिता अपनी कन्या के ऋतु को आदि से ही गिने जितने ऋतु पर्य्यन्त कन्या को घर में पालन करने का विधान है, उतनीवार जब कन्या ऋतुमती हो जावे, तो उस कन्या का विवाह सम्बन्ध होना चाहिये, इससे न्यून कदापि नहीं प्रत्युत अधिक होतो–और भी अच्छा है।

कन्या वर का विवाह शास्त्र एवं युक्ति अनुसार किस समय होना चाहिये इस अंश में बनारस के सुप्रसिद्ध पण्डित श्रीमान् महामहोपाध्याय पं० राममिश्र शास्त्री (स्वर्गवासी) जी अपनी "उद्वाहसमयमीमांसा नामक" पुस्तक की भूमिका में यों लिखते हैं कि–

PREFACE.

At the present time in various parts of India among those who profess to be followers of the Vadik religion and practices, the custom of marrying girls in mere infancy is a common one, and people think that if they do not conform to this custom they incur sin. But the truth is that the rule about the infant marriage of girls enjoined in the Dharmasastras is not what is called nitya (a fixed and obligatory duty the non-performance of which is a sin), but kamya (optional and to be performed only through the desire of obtaining some particular benefit). and the principal age for marriage is that of twelve and upwarbs as clearly declared by Manu, only it is necessaLy that the marriage ceremony should take place before the age of puberty is

attained, (that is before the commencement of menstruation). Although, owing to deffering climatic conditions, the age of puberty is not the same in all parts of India, and therefore no fixed age is stated in the Dharmasastras, nevertheless they enjoin that the rite of marriage should be performed at some time prior to that age as indicated above. Hence the infant marriage of females is a useless and needless practice, and one that ought to be abandoned as often entailing the evil of child-widowhood.

The next point for consideration is, at what age the marriage of males should take place. This, too, in accordance with the Dharmasastras, should never be in infancy; nor, to speak generally, before the age of eighteen, which is the essential meaning of the injunctions contained in those Sastras. But the present Practice of marrying boys in mere infancy results from ignorance both of what is physically right and of what is religiously enjoined, and is a fruitful cause of rendering those who are thus married puny, sickly, diseased, and miserable throughout their lives, to say nothing of the condition of their offspring.

Lastly, as regards cohabitation, the Dharmasastras (e.g. Asvalayana, Manu, and Yama) with one voice declare that it should commence only after puberty, (i. e. after the appearance of the catamenia). Among the upper classes, people of all the four castes observe this rule, and with them cohabitation is never allowed beforehand, not only out of regard for the injunctions of the Dharmasastras, but also because to act otherwise would be opposed to their traditional customs. In the warmer parts of India, such as Bengal, Madras, and Bombay, females reach this state of maturity usually about the twelfth year, and in the colder regions of Rajputana and the Panjab about the thirteenth, and among the poorer classes still later. On this account the great physicians and rishis of this country, Charaka & Sushruta, have laid down the general rule that the wife should not join her hasband before she has reached the age of twelve at least. (In those places in the Mahabharata & Brahma Purana where the age for the marriage in the case of females is declared to be sixteen, eighteen, or twenty, this applies to former times--in former times women attained maturity later, & retained their vigour longer).

I entertain the hope that by means of this book people will come to know that marriage at the age of twelve or thirteen is not prohibited by the Sastras, sol ong as it takes place before the period above indicated. Hence the marriage of mere infants is wrong. In any case, as appears from what I have stated above, males should not marry before eighteen, & in no rank of life should the wife join her husband till she is past the age of eleven.

My earnest prayer is that the princes & wealthy nobles of this country will exert themselves in this matter, and freely provide means for the circulation of this work throughout India. Then, if they follow the course therein advocated, will the inhabitants of Bharatavarsha become wiser, more powerful, energetic, and courageous, & better qualified to understand and take part in abstruse and difficult political concerns.

A true friend of the India People.
PANDIT RAMA MISRA SASTRI Banaras.
7th December, 1890.

क्या कोई संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं जो अपने कुल गोत्रकी वृद्धि और समृद्धि न चाहें ? और स्वाभाविक बल, पुष्टि, शारीरतेज और अङ्गसौष्ठव की इच्छा न करते होंय ? मुझे तो दृढ़ निश्चय है कि समस्त ही संसार के मनुष्य एक स्वर से स्वीकार करेंगे कि इन सब पूर्वोक्त फल की कामना स्वभावसिद्ध समस्त ही विचारशक्तिवाले जन्तुमात्र को है, इतना ही प्रभेद है कि बुद्धि-मान लोग फल की कामना होते ही उपाय की चिन्ता करते हैं और उसे किसी न किसी प्रकार से पाय भी जाते हैं और सिद्धि कर लेते हैं, और बु-द्धिहीन आलसी दैवहत लोग सर्वदा फलकी इच्छा ही करते २ प्राणान्त पाय जाते हैं उपाय की तो नाम मात्र भी भावना कभी नहीं जानते, और यह भी समस्त जन स्वीकार करेंगे कि जो बात पूर्वही बिगड़ जाती है उसे फिर बनाना कठिन है और विशेष करके पुरुषार्थ चतुष्टय के साधन का महोपाय-स्वरूप शरीर का, जिस की रक्षा करने से चारो ही पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं, और जिसकी उपेक्षा से चारो ही पुरुषार्थ रसातल में लीन हो जाते हैं।

* If people cannot all at once conform, as I think they should conform to the directions of Manu and Susruta, and make the age of twelve the earliest.

तो, यहां पर विचारना उचित है कि शरीर कौन वस्तु है ? । इसके उत्तर में आस्तिक, नास्तिक, वैद्य, हकीम, डाक्टर, सभी फिरके के और समस्त ही मत के लोग ऐकमत्य से कहेंगे कि, माता पिता के शुक्र और शोणित से बना, और विविध खाद्य पेय से पोषित, पाञ्चभौतिक ह्रासवृद्धियुक्त एक विचित्र मांस-पिण्ड है जिसके दृष्टान्त देने के अर्थ भूपृष्ठ पर कौन कहे नाकपृष्ठ पर भी कोई वस्तु नहीं देख पड़ती । जिस पिण्ड के भीतर शुक, वामदेव ऐसे विरक्त महानुभाव लोगों के वैराग्यमय चित्त का चित्र बना है; प्रल्हाद, पराशर ऐसे हरिभक्तजनों के भक्तिभाजन अन्तःकरण का चित्र खचित है । और जिस के भीतर भीम जैसे वीर, अर्जुन ऐसे कीर्तिमान और विविध विद्याविशारद, कर्ण ऐसे दानशील, दधीचि ऐसे परोपकारी लोगों के समस्त व्यवहार और सदाचार का मूलभूत कोई विलक्षण तत्त्व बैठा है; इसका वर्णन कहां तक हो सकता है, यही संसारस्वरूप महावटवृक्ष का परमनिदान बीज है इसी से आप लोग सन्तोष करिये और यह भी जान लीजिये कि इस शरीर की तुलना में समस्त संसार की समृद्धि अति तुच्छ है । बादशाहों की बादशाही, राजों का राजत्व, विद्वानों की विद्वत्ता, पराक्रमी लोगों का पराक्रम, सबही इस का छोटासा विलास है । बस यही निश्चय करके आज मैं इस बात में तत्पर हुआ हूं कि आप लोगों को इसका कुछ परिचय देसकूं कि शरीर किस चाल से उत्तम होता है । प्रिय भारतवर्षीय जनसमूह ! ध्यान रखना, जबतक बीज अच्छा नहीं होता, तब तक भूमि कभी उत्तम फल नहीं देती, क्या कभी कच्चे बीजसे भी उत्तम फल उत्पन्न हुआ है ? आप लोग अपने छोटे २ बच्चों का विवाह कर देते हैं और कच्ची अवस्था ही में बालक स्त्रीप्रसङ्ग के घोर अनर्थ में पड़ जाते हैं । यह सब जानते हैं कि समस्त ही वस्तुकी एक पूर्वावस्था और दूसरी उत्तरावस्था, इसीप्रकार एक आगमावस्था और दूसरी अपायावस्था होती है । इन में से बाल्यावस्था मनुष्य की पूर्वावस्था होती है और यही अवस्था—

बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, शरीरकी लावण्य, पुष्टि, इन सबकी आगमावस्था होती है । और आगमावस्था ही में यदि कोई व्यय करने लग जाय तो कैसी उस की दुरवस्था होगी ? यह विचार आप स्वयं कर सकते हैं । यदि तालाब में पानी के आगमन ही के समय से प्रवाह होना आरम्भ हो जाय तो कदापि वह तालाब नहीं भर सकता, चाहे कैसे ही वेग से उस में जल का आगमन

क्यों न हो। यही एक दृष्टान्त, बाल्यविवाह की कुरीति से आप लोगों की कैसी हानि होती है, इसे दिखाने को भरपूर है॥

इस अवसर पर कितने देश के शत्रु निज कुलनाशक यह कह बैठेंगे कि "विवाह बाल्य में होता है तो क्या हुआ, स्त्री का प्रसङ्ग तो योग्य समय पर ही होता है," तो यहां पर हम यही कहेंगे कि यह महा ही अनर्थ की बात है कि वृथा किसी की कन्या को वधू बनाय बालवैधव्य के घोर दुःखाग्नि-ज्वाला के सामने हाथ पैर काट के विवाहरूप महाकठोर अनिवार्य लोहे की सांकल से बांध देना,जिस सांकल से बद्ध बालिका को मातृकुल,पितृकुल और भ्रातृ मित्रवर्ग कोई भी नहीं छुड़ा सकते, हां नये समाजी, पुराने ब्रह्मवादी इत्यादि लोग ऐश्वरीशक्ति के बल से भले ही छुड़ाकर घोर अपवाद का सामान जुटा सकें, पर जब यही घोर अनर्थ इस बाल्यविवाह के संनिहित रहता है तो इसे बुद्धिमान भी कभी करें यही बड़ा अनर्थ है। कितने लोग इस पर आंख मीचकर यह भी कहेंगे कि "संसार में सब ही अवस्था में मृत्यु अनिवार्य है, यदि तरुण पुरुषका विवाह होय तो क्या वैधव्य भय नहीं है? सुख दुःख तो केवल ईश्वर के अधीन है, हमने अनेक बालकों को देखा है कि जिन का विवाह अत्यन्त बाल्य में हुआ है और वे सब ही प्रकार जन्म भर अच्छे रहे हैं और कितने तरुण भी विवाह के मास ही के भीतर अपनी नवीन तरुणी को छोड़कर यम मन्दिर की यात्रा कर गये हैं, इस हेतु बाल्यविवाह पर दोष देना केवल निरीश्वर जगत को मानने वाले लोगों ही को शोभा देता है"। इस पर हम बहुत शास्त्रार्थ और विचार न करके इतना ही कहते हैं कि रणजीतसिंह, शिवाजी, और हैदर अली इन तीनों महाशयों ने अपना नाम लिखना भी नहीं सीखा था और बहुत बड़े पुरुष हो गुजरे, यह ऐतिहासिक बात है, इसे सब ही को स्वीकार करना होगा, तो आप अब अपने कुल में किसी को भी लिखना पढ़ना मत सिखलाइये, वरन जुआ और डकैती की शिक्षा दीजिये क्योंकि, इन सब कार्यों में भी अनेक लोग बड़े धनी और नामी हो चुके हैं, विशेष करके हैदर ने इतना नाम और देशसम्पत्ति को जो पाया था सो प्रायः बेईमानी के बल से और शिवाजी ने डकैती से; तो अब आप बेईमानी और डकैती ही के भरोसे से बड़े होने की चेष्टा कीजिये। यदि कहीं इस पर आप भूल कर यह कह बैठेंगे कि, "होना न होना तो केवल ईश्वर के हाथ है, परन्तु मनुष्य को चेष्टा तो अच्छी ही करनी उचित है" तो अब

अब हमारे पथ पर आगये, यही मेरा भी वक्तव्य है कि मनुष्य को चेष्टा अच्छी करनी उचित है; यों तो "बने की बात है" यह मसल मशहूर है। एक समय बड़े सिकन्दर ने किसी डाकू को पकड़ा और उस से पूछा कि तुम ऐसा काम क्यों करते हो? तब उस ने इस के उत्तर में यही कहा कि "तू बड़ी फौज, बहुत जहाज और बड़े २ सामान लेकर देशों को लूटता है और मैं थोड़े सामान और थोड़े आदमी के साथ उसी काम को करता हूं परन्तु "बने की बात है" तू तो बड़ा डकैत है पर तुझे तो लोग बड़ा बादशाह करके जानते मानते हैं और मुझे डकैत कहते हैं," तो इस दृष्टान्त से माना कि 'बने की बात है' परन्तु चोरी डकैती बुरी है और भले काम तो भले ही हैं यह सब ही को मानना होगा। तो फिर यह भी आप विचार कर लीजिये कि कदाचित किसी को बाल्यविवाह करने पर भी किसी घटनान्तर से शरीर अच्छा रहा यह बात कदाचित् हो सकती है। परन्तु बाल्य विवाह अनर्थ का हेतु, और तारुण्य का विवाह सर्वथा उचित और शरीर सुख बल का हेतु है, यह तो अवश्य ही मानना होगा। तो अब आप निश्चय कीजिये कि संसार सबही के देशों में बालकों की मृत्यु की अपेक्षा अधिक वय वाले लोगों का मरण अल्प होता है, जैसे २ अधिक वय होता है तैसे २ शरीर चिरस्थायी होता जाता है। इस में आम वृक्ष के पुष्प आने के समय से फल की पुष्टि पर्यन्त अवस्था ठीक दृष्टान्त है; जितने संख्या में पुष्प गिरते हैं उतने टिकोरे नहीं गिरते और जितने टिकोरे गिरते हैं, उतने पुष्ट आम नहीं गिरते और यही मनुष्य की संतति की भी दशा है तो, आप व्यर्थ पौत्र और दौहित्र के मुखनिरीक्षण की इच्छा से बालिका कन्या को एक बालक (जिसे धोती कहां है यह भी ज्ञान नहीं है) के साथ काहे नष्ट करते हैं, उसे तो आप ब्रह्मचर्य में रख कर विद्या सिखलाइये कि जिस में वह लोक द्वय का अभिज्ञ बन जाय और आप का कुलभूषण हो जाय और जगत का भार भूत न होय। यहां पर कितने अल्पबुद्धि, बाल्य विवाह के हठी यह भी कह बैठते हैं कि "यह ब्रह्मचर्य का समय नहीं है, अब तो कलिकाल में बालक अवस्था ही में लड़के जोरू खोजने लगते हैं इस हेतु इन का बाल्यदशा ही में विवाह करना उचित है, नहीं तो बिगड़ जाते हैं"। पत्थर पड़ें, इस बुद्धि पर, एक बालक के ब्रह्मचर्य के निर्वाह कराने में तो पिता माता असमर्थ हैं और विवाह के अनन्तर जब वे दो भये और प्रतिवर्ष तीन, चार, पांच होने लगे

तो उनका पालन पोषण से निर्वाह वे कैसे कर सकेंगे ! बड़ी अंधेर की बात है जो बालक का ब्रह्मचर्य निर्वाह नहीं कराय सकें, वे तब पौत्र पुत्र का भरण पोषण कैसे कर सकेंगे, इसका विचार नहीं करते । यहां पर एक यह भी बात ध्यान देने की है कि मैं तीस और पचीस वर्ष की अवस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य के उपदेश करने में उद्योग नहीं करता, मेरा केवल यही वक्तव्य है कि निज देश के जल वायु क अनुकूल और भोजनाच्छादन के योग्य निज वित्त के अनुसार जिस देश में जितने वय पर यौवन शरीर में दृढ़बद्ध होजाय और अस्थि प्रौढ़ हो जांय, तब आप अपने बालकों की शादी कीजिये जिस में वैधव्य भय भी आपेक्षिक अत्यल्प होजाय, बालकों के अङ्ग भी दृढ़ हो जांय और आगे उनकी संतति भी निरोग दृढाङ्ग * उत्पन्न होय। परन्तु सब देश में पुरुष को स्त्री का प्रसङ्ग अठारह वर्ष की अवस्था के पूर्व कदापि न होना चाहिये, यह सब देश और सब काल का नियम है इसे तो कदाचित् भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये "तिरिया तेरह मरद अठारह" यह प्राचीन काल से पामर पर्यन्त की कहावत प्रसिद्ध है इसे याद रखिये और स्त्रियों को भी विना यौवन आये पुरुष संपर्क अहितहेतु है और सर्वथा धर्मशास्त्र और वैद्यकशास्त्र के विरुद्ध है। यह समस्त वृत्त संस्कृत में हमने विशदरूप से लिखा है उसे देखने से ही यथार्थ परिचय हो जायगा । आज कल्ह के अतिबलिका विवाह के कारण संसार का अस्वास्थ्य होता है और प्रजा अल्पायुष, स्मृतिशक्ति हीन, दीन, विपत्तिग्रस्त होती जाती है इत्यादि सब बात हम ने संस्कृत में वर्णन की है, दैजे में धन ठहरा कर बालकों का विवाह करना अथवा धन लेकर कन्या को देना वा वृद्धावस्था में विवाह करना तथा वर की अपेक्षा बड़े वय की कन्या से विवाह करना इत्यादि भी शास्त्र में निषिद्ध है, यह सब निरूपण किया गया है ॥

अब इस अवसर पर अनेक जन (जिन की समाज में प्रतिपत्ति अल्पहै) असावधानता से बालविवाह के विरुद्ध कानून के शरण लेने का मनोरथ करते हैं और वैदिक पवित्र विवाह विधि को कलङ्कित करके आप भी अपना हृदय-दौर्बल्य दिखाते हैं परन्तु सरकार ऐसी नहीं है कि वह भी अपना दौर्बल्य * दिखावे, वह तो एक बहुत ही उत्तम नीतिपरिपूर्ण विश्वसनीय न्याय से विशाल निरालस और दयावान है, इस हेतु हमें हमारे धर्म के विरोधी अथवा न जानने वाले मिथ्या घमंडी और हमारे पवित्र सनातन वैदिक-

* धर्मशास्त्र मे दृढाङ्ग सन्तति उत्पन्न करना लिखा है फिर यह बात बालसंपर्क से क्योंकर होसकता है ॥

* सरकार जिन पर कानून बनाता है उन्हें विना पूछे उस का प्रचार कभी नहीं करती ॥

धर्मपर आघात पहुंचाने की इच्छा करने वाले देशी और विदेशियों का अनुमान भी भय नहीं है कि वे हमारा इङ्गलैण्ड में मिथ्या वकालत नामा ले-कर कुछ धर्माघात कर सकें तथापि हमें अपनी तरफ से प्रकाशरूप से अपने विवाह इत्यादिक सामाजिक कार्यों का प्रबन्ध करना चाहिये । यद्यपि ह-मारे यहां सामाजिक उपदेश देनेवाले नगर के निवासी परमविद्वान् पण्डितों से लेकर ग्रामनिवासी साधारण पाधा पुरोहित पर्यन्त हैं, और वे प्रायः उत्तम ही कार्य कहते हैं, परन्तु अधिक बक २ नहीं करते और न इंगलैण्ड में जाते और न तो इधर उधर अपना पत्र व्यवहार करके अपने माथे में देश हितैषी का कलंगी खोंसते हैं, केवल उन में इतनी त्रुटि है कि न तो वे कोई दिखाऊ यत्न करते और न तो समाज के अगुवा होने का घमंड दिखाते तथापि कार्य करते ही हैं । वस्तुतः उन में और कोई त्रुटि नहीं है । प्रतिदिन सर्व बुद्धि-मान् ब्राह्मण बालविवाह; अति बालिकाविवाह, और वृद्धविवाह को अपने वृद्धविवाह को अपने घर से और वेदानुयायी चातुर्वर्ण्य समाज से उठाते जाते हैं, और भी जो कुछ समाज में दोष पाये जाते हैं उन्हें भी शनैः २ सु-धारते हैं । अति बालिका से संपर्क करना, यह तो वेदानुयायी उच्चजातीय चातुर्वर्ण्यमें संभव ही नहीं है, क्योंकि गरीब से गरीब और अपठित के घर भी स्त्रियों के नवीन ऋतु होने पर पुष्पोत्सव होता है जिसे "फूलचौक" कहते हैं । और पुष्प तो स्त्रियों को बाल्य से उत्तीर्ण होने ही से होता है । यह बात सर्वथा सुपरोक्षित है और ऋतु होने के अनन्तर किसी शुभमुहूर्त से स्त्री की शुद्धि के पश्चात् गर्भाधान संस्कार होता है, फिर क्योंकर हम लोगों में बालिका संपर्क की संभावना हो सकती है ? यह संभावना तो उन लोगों में हो सकती है जिन के यहां स्त्री संभोग पशुसंप्रदाय और केवल इन्द्रियपरायणता ही से हो होगा, हमारे वैदिक मार्ग तो यह परमपवित्र संपर्क बड़े २ विधि विधान से वैदिक मन्त्रपूर्वक होता है ॥

रहा अब बालविवाह तो उस की यह दशा है कि कितनी तो हमारे देश में ऐसा संप्रदाय हैं कि जिनमें युवावस्था ही में विवाह पुरुषों का होता है । जैसे कि मिथिलादेश में मैथिल मात्र का विवाह २० बीस वर्ष की अव-स्था के पहिले नहीं होता (बल्कि ३० और ३५ तथा चालीस तक होता है जिसे कि समयानुसार हम उत्तम नहीं समझसकते) और यह तो स्वाभाविक वार्त्ता है कि जब जिस देश में बड़ी अवस्था के पुरुष का विवाह होगा तब उस देश में अतिबालिका के संग नहीं हो सकता, एक बड़े विद्याप्रधान मिथिला देश की तो वार्त्ता हो चुकी रहा कान्यकुब्ज देश, सो वहां तो बालिकावि-वाह की कौन कथा, वृद्धकुमारी का भी विवाह होता है, जिस के रोकने का

उपाय कान्यकुब्ज भी करते हैं और अन्य लोग भी करते हैं और आशा है कि शीघ्र ही हम लोग इस अनर्थ को निवृत्त कर सकेंगे। यह तो ईश्वर का नियम है कि जहां बड़ी अवस्था में कन्याओं का विवाह होता है वहां प्रायः वर छोटे नहीं हो सकते तो कान्यकुब्ज देश में भी विवाह समय प्रायःठीकहीहै॥

रहा राजपूताना तो, वहां पचास वर्ष के पूर्व, सर्व ही वर्णों में अधिक वय के वर के संग अधिक वय की कन्या का विवाह होता था, परन्तु जब से सरकार अंगरेज की अमलदारी में वहां के वैश्य कलकत्ता, बंबई, मद्रास, चीन, ब्रह्मा, इत्यादि मुलकों में जाकर तिजारत के कारण धनी होने लगे, तब से उन्हें उन के अभाग्यवश (१) बाल्यविवाह ने घेरा है बलकि वृद्धविवाह (२) और बड़ी उमर की कन्या के संग छोटी वय के लड़के के ब्याहरूप घोर अन्धकार ने भी उन्हें दबाया है और उन के संग उस देश के अपठित ब्राह्मणादिक भी इस दुराचार से दूर नहीं हैं, परन्तु परमेश्वर की दया से राजपूत जाति में तो यह दुराचार नहीं है और आशा है कि यह जाति इस दुराचार से दूर भी रहेगी। और राजपूताना के निकटस्थ होने ही के कारण दिल्ली के प्रान्त और ब्रज के निकटस्थ देशों में भी यह बाल्यविवाह की आग फैली थी, परन्तु धन्यवाद है भारत की ब्राह्मणमण्डली को कि उस ने इस के रोकने के उत्तम २ उपाय किये हैं और सुफल भी होते जाते हैं। पञ्जाब में भी युवावस्था ही के वरवधू का विवाह होता था और अभी अतिबाल्यावस्था में नहीं होता, परन्तु कुछ रीति बिगड़ गई है सो अब पठित ब्राह्मणमण्डली ने अपनी उपदेशवीरता से उसे भी सुधार देने का यत्न कियाहै और नित्य २ सामाजिक संशोधन होते जांयगे क्योंकि वहां के रईस लोगों की भी इस तरफ विशेष दृष्टि है॥

बङ्गदेश के विषय में हम यही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वङ्गदेश धर्मशास्त्र की मर्यादा रखकर अपना साजिक संशोधन कर लेवे, और आशा है कि उड़ीसा भी बङ्गानुयायी होवे। और यही वक्तव्य मद्रास और बम्बई के उन प्रान्तों के विषय में है जहां संस्कृत विद्या जीर्ण शीर्ण है और उस के स्थान पर नई २ विद्या और ख़यालातें सरगर्म हैं॥

अब रहा नर्मदा पार और गुजरात तो, वहां की इन दिनों यह दशा है कि एक ओर तो धर्मशास्त्र के नाम ही पर घृणा करते हैं और एक ओर वे लोग हैं जो जानते हैं कि सात आठ वर्ष की कन्या के विवाह न करने से न तो कोई धर्म की हानि है और न समाज की क्षति ही है, परन्तु हठ वश अतिबालिका के विवाह में वैधव्यदोष अधिकतर देखते हैं तौ भी जानबूझ

कर आग में गिरते हैं। यद्यपि नर्मदा पार में बालकों का विवाह प्रायः उचित समय पर होता है न कि अठारह वीस वर्ष के भीतर, परन्तु उधर कुछ कन्याओं के वय में अधिक करने ही से ठीक होजाता है उस पर ध्यान देना अत्यावश्यक है ॥

यहां पर मुझे उन दोनों दलों का (जो केवल जनमाना आइनी विवाह चाहते हैं, और वे जो शास्त्र का तात्पर्य के ज्ञान पुरानी लकीर के फकीर हो वृथा अतिबालिकाके विवाह में आग्रह किये हैं) हठ देख बड़ा कष्ट होता है, और यही कहना पड़ता है कि ये दोनों दल मिल के काम करें तो शोभा और सुगन्ध हो जाय इस के अर्थ प्रतिनगर ग्राम देशों में पञ्चायत होकर धर्मशास्त्र के अविरुद्ध तत्तद्देश के जल वायु के अनुसार विवाहकाल (३) निर्णय होजाय तो, जो आज बालविवाह के कारण हमारे देश में बल, वीर्य, पराक्रम, तीक्ष्ण बुद्धि, और नवीन शास्त्रीय तथा लौकिक कल्पना शक्ति का अभाव हो गया है और नाना प्रकार के अज्ञातनाम रोग उत्पन्न होते हैं वे एकान्ततः मिट जायं ॥

आशा है कि हमारे देशभाई और पुरानी पण्डितमण्डली (जिसे आज भी लोग भारतवर्ष में बहुत मानते हैं) इसे गौरव से विचार करेंगे और हठ न करके ईर्ष्या और अन्धकार को त्याग यथार्थ कार्य का अनुष्ठान करेंगे ॥

ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा } आप लोगों का वही शुभचिन्तक
बनारस । } रामनिश्र शास्त्री

गुरुमन्त्र–मीमांसा ॥

गुरु मन्त्र–कीमीमांसाके पहिले,गुरुकिसे कहतेहैं इस का विचार करतेकरनाचाहिये इस "गुरु" शब्द की परिभाषा हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने यों कियी है किः–

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ॥
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरु रुच्यते ॥ १४२ ॥
पुनः–पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ! ॥
प्रज्ञां ददाति * चाचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते॥३॥ वाल्मी०अ०स०१११

(१) इस के अतिरिक्त इन में सर्व ही वैश्य गुण हैं परन्तु "जहां गुलाब तहां कांटे" ।

(२) होली के दिनों में जहां मारवाड़ी वैश्य, और ब्राह्मणों को जम घटा होता है वहां (बाला ने परणाय जोबनों खोये हैं) इसे डफ से गाते हैं ॥

(३) जैसा कि ऋतु के पूर्व इस पुस्तक में काल निर्णय किया है उसे देशानुसार कर लेनी ही अवसिष्ट है ॥

(४) आचिनोति हि शास्त्रार्थ माचारे स्थापयति ॥ स्वयमाचरते यस्मात्तचार्यः परिकीर्त्त्यते ॥१॥ ऐतरेयारण्यके अ० २ के० सायणभाष्यः । यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः ॥१३॥ स हि विद्यातस्तं जनयति ॥१५॥ तच्छ्रेष्ठं जन्म ॥१६॥ आपस्तम्बीय धर्मसूत्रे प्र० १ प० १ ख० १

पुनः-त्रयः पुरुषस्यातिगुरवोभवन्ति; माता, पिता, आचार्यश्च ॥३१॥ विष्णु स्मृतिः।

पुनः—कस्मादाचार्यः आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा॥

निरुक्त प० अ० १ पा० २ खं० २

अर्थात्—गर्भाधानादि संस्कार करके पुत्र की पालना करने से पिता को भी गुरु कहते हैं। यद्यपि माता पिता आदि भी बालक के गुरु हैं। परन्तु वेदादि विद्याओं के पढ़ाने से आचार्य ही मुख्य गुरु हैं ॥ १४२ ॥ पिता पुत्र को उत्पन्न करता है और आचार्य बुद्धि को देता है, जिस से शिष्य को सत्यासत्य का विवेक होता है—इस से आचार्य ही को गुरु कहते हैं ॥ ३ ॥ मनुष्य के तीन गुरु होते—माता, पिता, आचार्य ॥ ३४॥ अब निरुक्तकार का मत सुनो। आचार्य्य उस को कहते हैं जो आप सर्व विद्यार्थ सम्पन्न हो के मनुष्यों को अत्युत्तम आचार सिखाकर सर्वार्थ सम्पन्न करता है ॥ इत्यादि अनेक प्रमाणों से आचार्य्यों ही का गुरु होना सिद्ध होता है, और प्राचीन इतिहास के देखने से भी यह बात सिद्ध होती है कि पूर्वकाल में भारतवर्ष में ब्राह्मण पुरोहित आचार्य्य हुआ करते और वैदिक गुरु मन्त्र गायत्री का उपदेश करते थे। जैसा कि नीचे लिखे प्रमाणों से सिद्ध होता है।

सद्यस्त्वेव गायत्रीन् ब्राह्मणायानु ब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः ॥७॥ त्रिष्टुभꣳराजन्यस्य ॥ ८ ॥ जगतीं वैश्यस्य ॥ ९ ॥ सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥१०।३।

हरिहरभाष्यम्—सद्य एव गायत्रीं ब्राह्मणायानु ब्रूयात् कथयेत् कुतः आग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः। आग्नेयो अग्निर्दैवत्यः ब्राह्मण इतिवेद वचनात्। त्रिष्टुभꣳराजन्यस्य जगतीं वैश्यस्य सर्वेषां वा गायत्रीम्। क्षत्रियस्य त्रिष्टुभं त्रिष्टुप् छन्दोयस्याः सा त्रिष्टुप् तां त्रिष्टुभं सावित्रीम्। जगती छन्दो यस्याः ऋचः सा जगती तां जगतीं सावित्रीं वैश्यस्य विशः सावित्रीं मनु ब्रूयादित्यनुषज्यते। सर्वेषां वा गायत्रीं यद्वा सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गायत्री मेव गायत्री छन्दसका मेव सावित्रीं सवितृदेवताकां तत्सवितुरिति सकल वेदशाखाम्नातां ऋचमनु ब्रूयात् ॥ पारस्करगृह्यसूत्रे।

अर्थात्:—गायत्री ब्राह्मण को, 'त्रिष्टुप्' क्षत्रिय को और 'जगती' वैश्यको उपदेश देवे। या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीनों वर्ण को गायत्री ही का उपदेश करे। यह पक्ष (१० सूत्रोक्त) वेद की सब शाखाओं के अनुकूल है। इसी प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र में भी सब के लिये गायत्री मन्त्र का विधान है।

"अथोपसीदत्यधीहि भोः सावित्रीं मे भवाननुब्रवीत्विति ॥ ३८ ॥ तस्मा

अन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चश ऋकश इति महाव्याहृतीश्च विहृताओंकारान्ताः ॥३९।४०॥
गो० प्र २ खं० १०

भा०—(उपनयन समय) अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़कर नम्रता से प्रार्थना करे कि हे गुरो ! मुझे वेद पढ़ावें, गायत्री उपदेश करें ॥३८॥ इसप्रकार बालक कर्त्तृक वेदाध्ययन और उस का प्रारम्भ सूचक सावित्री मन्त्र का, आचार्य्य एक २ चरण कर उपदेश करे ॥ ३९ । ४० ॥

यहां–यह नहीं लिखा गया है कि–ब्राह्मण आदि भिन्न २ वर्णों को गायत्री, त्रिष्टुप् आदि भिन्न २ मन्त्रों का उपदेश करे, किन्तु सब के लिये एक ही गायत्री गायत्री के उपदेश का विधान है।

क्या स्त्री को भी पुरुष के समान गुरु से–शिष्य होना चाहिये ?

गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है कि स्त्रियों का केवल एक पति ही गुरु है, अन्य नहीं, बलके इस बात को अन्यान्य प्राचीन एवं नवीन सब ही शास्त्रों में निषेध हैं कि "पतिरेको कुलस्त्रीणां" अर्थात् स्त्रियों का गुरु, केवल पति ही है, जो कुछ सांसारिक या पारमार्थिक कार्य हो, सब ही पति के उपदेशानुसार स्त्री करे। स्त्री को तीर्थ गमन, व्रतोपवास, सब ही का निषेध है, केवल पति ही की सेवा करना उस का प्रधान कर्त्तव्य है।

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ॥ १२ ॥ गौ० प्र० २ खं० ३८ ॥

'अनुमन्त्रिता' सा वधूः 'गोत्रेण' प्राप्तगोत्रं पतिगोत्रम् उच्चरन्ती 'गुरुं' पतिम् 'अभिवादयते' ॥ १२ ॥

पत्नी इस प्रकार वाक्य बोलती हुयी अमुक गोत्रा, अमुक नामवाली आप को (पति को) अभिवादन करती हूं" चरण छूकर प्रणाम करे। अंगरेजी चाल के अनुसार "गुडमौनिंग" या केवल नमस्ते न करे) इसी प्रकार अन्यान्य गृह्यसूत्र, धर्मसूत्रों में प्रमाण हैं।

॥ मधुपर्क में गौ का क्या होता था ? ॥

आचार्य या ऋत्विक् आदि बड़े पुरुष के आने से उन की पूजा*मधुपर्क-विधि से करनी चाहिये, यह हमारे शास्त्रों का लेख है। और प्राचीन समय जब आर्य धर्म्म यथार्थ उन्नति शर चढ़ा हुआ था, उस समय वैसी ही विधि से पूजन भी हुआ करता था, यह बात भी इतिहासों में प्रसिद्ध है। अब वह बात अत्यन्त ही अपरिचित हो गयी अतएव उस विषय में कई प्रकार के संशय, भी उत्पन्न होने लगे हैं। १ आसन, (विष्टर) २ पाद्य, ३ अर्घ्य, ४

* राजर्त्विक स्नातकाचार्य गुरुश्वसुर मातुलाः । मधुपर्केण संपूज्याः परिसम्वत्सरात्पुनः । अ०३ । ११९

आचमन, ५ मधुपर्क, एवं गौ, ये छः वस्तु आगत महात्माओं के सत्कारार्थ दियी जाती थी। (१) बैठने के लिये आसन, पैर धोने के लिये "पाद्य," हाथ धोने को "अर्घ्य"; मुख शुद्धि के लिये "आचमन," भक्षण के लिये दधि, घृत, मधु आदि से बना "मधुपर्क" और भेंट के लिये 'गौ', ये छःओं प्राप्त होने से वह पूजन साङ्गोपाङ्ग होता। अब यहां यह प्रश्न है कि मधुपर्क में जो गौ दियी जाती थी उस का क्या होता था? क्या यह गौ आये हुये महात्मा को भेंट दियी जाती थी, या उस गौ का वध करके आये हुये अतिथि को उस उस का मांस खिलाया जाता? वेद के वाक्य ऋषियों के धर्मशास्त्र, और कल्पसूत्रों की जो रीति और प्रसिद्ध पण्डितों के उदाहरण देखते हैं तो उक्त दोनों ही बातें होती थीं यही प्रतीत होता है क्योंकि " आतिथ्येष्टि " प्रकरण की ब्राह्मण श्रुति में (२) यह लिखा है कि जब किसी मनुष्य का राजा आवे या और कोई पूज्य पुरुष अपने घर पर आवें तो, कई लोग क्या तो किसी उक्षा (बैल) को, या वन्ध्या गौ को छेदन कर उस का सन्मान किया करते, इत्यादि। स्मृति में लिखा है कि (३) क्या तो किसी बड़े वृषभ, को या कोई बड़े बकरे को आये हुए श्रोत्रिय के लिये बलि देवे, कल्पसूत्रकार आश्वलायन भी लिखते हैं कि आगत श्रोत्रिय यदि गोवध कराया चाहे तो "नष्ट हुआ मेरा पाप, पाप मेरा नष्ट हुआ"—(४)इस मन्त्रको जपके 'हां, करो' इसप्रकार वधकी आज्ञादे। तथा सामवेदीय लाट्यायनसूत्र में लिखा है, कि जब गौ सम्मुख लाके खड़ी कर दियी जावे, तब उसके वधार्थ अतिथि यह वाक्य बोले कि "हां, करो" इत्यादि विविध वाक्यों से प्रतीत होता है कि मधुपर्क के समय अवश्य गौ का वध होता था, यदि कल्पसूत्रोक्त"कुरुत" कारयिष्यन्(५)इत्यादि पदों का और ही कुछ अर्थ है वध अर्थ नहीं, ऐसा कहो तो, आश्वलायन आगे लिखते हैं कि (६) विना मांससे मधुपर्क ही नहीं होता और किसी पशु के मांस का वहां कहीं विधान है नहीं सिवाय गौ के। सुतरां उसी का वहां विधान समझना होगा इत्यादि प्रमाण से प्रतीत होता है कि मधुपर्क में गौवध होता था। परन्तु उन्हीं

(१) विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्को गौरितिप्रत्येकं निवेदयन्ते। आश्वलायन गृ०। १। २४। ७

(२) तद्यथैवान्ये मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन् वार्हन्युक्षाणं वेहतं वाक्षदन्ते॥ ब्रा० शतपथ ब्राह्मणः

(३) महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् या० स्मृ० आ० श्लो० १९

(४) हतोमे पाप्मा पाप्मा मे हतइति जपित्वों कुरुतेति ब्रूयात्तां कारयिष्यन् आ० गृ० सू० १। २४। २४

(५) कुरुतेति गविप्राप्तायां ब्रूयात्॥ ला० श्रौ० सू०

(६) नामांसोमधुपर्कः। आश्वला० गृ० १। २४। २६

श्रुति स्मृति और कल्पसूत्रों की सम्मति से यह भी सिद्ध होता है कि मधुपर्क में गोवध नहीं भी होता था ? श्रुति में लिखा है (१) कि " यह गौ रुद्रदेवताओं की माता है, वसु देवताओं की पुत्री है, आदित्य देवताओं की बहिन है और अमृत स्वरूप दुग्ध के उत्पत्ति का स्थान है। इसलिये मैं ने जिज्ञासमान जनों के प्रति बार २ कहा है कि इस अखण्डनीय निरपराध गौ का बध मत करो "इत्यादि" । तथा स्मृति में लिखा है कि (२) जो शरणागत को मारें, या लोक जननी गौका बध करे, वे महा पापी होते हैं। तथा कल्पसूत्रकार ने जैसा बध पक्ष लिखा है (३) यथा "माता रुद्राणां" इत्यादि मन्त्र को जप के कहे कि "हां, इस को छोड़ दो यह घास चरे" लाटचायन ने भी ऐसा ही कहा है (४) इत्यादि। दोनों पक्ष के वाक्य देख के यही सिद्धान्त होता है कि गौ का बध और उत्सर्जन दोनों ही बातें होती थीं। यद्यपि स्थान २ में गौका नाम "अघ्न्या" और "अदिति" आते हैं जिन से वेदोक्त मत में गौ की अबध्यता और अखण्डनीयता निश्चित है परन्तु "तद्यथैवान्ये" इत्यादि उक्त ब्राह्मणोक्त वाक्य में जब स्पष्टतः गोवध का विधान लिख दिया है तो उक्त नाम लिखने ही से जो गोबध न किया जावे, यह एक मात्र सामान्य बात है जैसे "न हिंस्यात् सर्वभूतानि, यह श्रुति कहती है कि किसी जीव को भी हिंसा मत करो, किन्तु "अग्नीसोमीयं पशु मालभेत" यहां "अग्निसोमयागी" में श्रुति, पशुहिंसा का विधान करती है।

मीमांसक लोग जैसे यहां पूर्व श्रुति को सामान्य विधि और अग्रिम को प्रबल और यथार्थ समझते हैं। इसी विशेष विधि मान के पूर्व श्रुतिकी उपेक्षा कर, यागीय हिंसा विधि ही को प्रकार यहां भी हिंसा पक्षवादी लोग (तद्यथैव) श्रुति के बल से हिंसापक्ष ही को यथार्थ समझते हैं, सुतरां उन के मत से जो (मधुपर्क में श्रौत गौहिंसा होती थी वह कुछ अयोग्य नहीं समझी जाती थी। यद्यपि श्रुति में उत्सर्जन पक्ष भी लिखा है किन्तु जो लोग मांसभक्षी थे, वे इस (त्याग पक्ष) को पसन्द नहीं करते। मांस ही का देना और खाना अतिथि का सत्कार समझते थे। सुतरां मांस भक्षियों के लिये जहां पूज्य और पूजक दोनों मांस भक्षी होते, वे, मधुपर्क में गोबध होना अच्छा समझते और

(१) माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसा रुद्राणां मामृतस्य नाभिः प्रनुवोचं चिकितुषेजनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट॥

(२) शरणागतञ्च योहन्याद्‌गां वा लोकस्य मातरम् ॥

(३) माता रुद्राणा दुहिता वसूनामिति जपित्वोत्सृजेत्तिनामुत्सि सृत्सन् ॥

(४) उत्सृजन गां तृणान्य त्तु गौरिति वा ॥

जो लोग मांसभक्षण से निवृत्त, थे, वे, उत्सर्जन अर्थात् मधुपर्क के समय गौ का बध न करके त्याग ही को उत्तम समझते। इसी बात का आभास महा कवि भवभूति ने अपने उत्तररामचरित नाटक में दिखाया है (१) अस्तु। यदि ऐसा कहो कि मांसभक्षी सभी लोग मधुपर्क में गोबध करते थे, यह भी ठीक नहीं, बहुत लोग "अघ्न्या" नाम की लाज करते, किन्तु "अमांसो मधुपर्को न भवति" इस बात के पालनार्थ बकरे का मांस अवश्य भक्षण करते थे, इसलिये "महोक्षं वा महाजं वा" यहां स्मृति में याज्ञवल्क्य ने गोबध से निवृत्ति लोगों के लिये "महाजं" इस पद से बकरे का बध भी लिखा है। और याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याता मिताक्षराकार ने तो इस का अभिप्राय ही दूसरा लिखा है (२)। वह लिखते हैं कि श्रोत्रिय के आगमन समय में न तो कुछ बैल, या बकरा, उन के भेंट करे और न उस का बध ही करे। जब श्रोत्रिय पूजन, गृहस्थमात्र का धर्म है, तो प्रत्येक श्रोत्रिय के लिये वेचारे गृहस्थ कहां से बैल और बकरे ला सकते हैं, क्योंकि कोई श्रोत्रिय तो गृहस्थ के घर में नित्यप्रति आया ही करेगा। यदि बधपक्ष की बात की बात कहे, तो भी उचित नहीं, क्योंकि जिस बात से स्वर्ग की हानि और लोक निन्दा खड़ी हो जावे, वह बात चाहे धर्म कह कर विहित भी हो, तौ भी करनी उचित नहीं, (३) इत्यादि धर्मशास्त्र के वाक्य हैं।

यद्यपि उक्त दोनों ही पक्ष सदा से चले आते हैं, किन्तु उन में सत्यत्व एवं मिथ्यात्व का निर्णय करना मीमांसा शास्त्र का काम है, अतएव हम मीमांसा शास्त्रके अनुसार ही उक्त बातका विचार करते हैं। केवल यही बात मान लें कि ये दोनों बात सदा से ही होती हैं, तो दोनों ही प्रमाण या यथार्थ हैं। यह नहीं हो सकता, क्योंकि भली बुरी दो प्रकार की बातें सदा ही होती रही हैं जिस में सदा की बात मान के चोरी या व्यभिचार आदि बुरी बातें कभी अच्छी या प्रमाण नहीं हो सकतीं। यदि कदाचित् वेद प्रमाण से गोबध प्रमाण कहो तो वेदप्रामाण्य का विचार तो मीमांसा के

---

(१) भाण्डायनिः। समांसोमधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्य मानाः श्रोत्रियायाऽभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा निर्वपन्ति गृहमेधिन तं हि धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति—अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पमृषयो मन्यन्ते निवृत्तमांसस्तु तत्र भगवान् जनकः। चतुर्थाङ्के ॥

(२) महान्त मुक्षाणं धौरेयं महाजं वा श्रोत्रियाय उक्तलक्षणाय उपकल्पयेत्। भवदर्थ मयमस्माभिः परिकल्पित इति तत् प्रीत्यर्थं न तु दानाय व्यापादनाय वा। यथा सर्वमेतद् भवदीयमिति। प्रतिश्रोत्रिय मुक्षाऽसम्भवात्। "अस्वर्ग्यं लोक विद्विष्टं धर्म मप्याचरेन्नतु। इति निषेधाच्च ॥

(३) "लोकविक्रुष्ट मेवच" मनुस्मृतौ ॥

अधीन है । कौनसा वेदवाक्य किसी रीति से प्रमाण हो सकता है, इस का निर्णय बिना मीमांसा के नहीं हो सकता, यदि सब ही वेदवाक्य प्रमाण हो जावें तो "वनस्पतयः सत्रमासत" "सर्पाः सत्रमासत" अर्थात् वृक्षों ने यज्ञ किया, इत्यादि वाक्यों का भी प्रमाण होना चाहिये, परन्तु इन का प्रमाण नहीं माना गया है, क्योंकि अचेतन वृक्ष आदि यज्ञ नहीं कर सकते । उक्त वाक्य का प्रामाण्य रखने के लिये भगवान् जैमिनि—कहते हैं (१) कि "समस्त वेद का तात्पर्य्य कर्म्म कराने में है, जिन वेद वाक्यों में कर्म की विधि नहीं पायी जाती वे सब अनर्थक वचन हैं, किन्तु विधि वाक्य के साथ जहां इन की एकता हो जाती है, तो वे भी वाक्य प्रमाण हो सकते हैं, अन्यथा नहीं । यद्यपि अचेतन वृक्ष यज्ञ नहीं कर सकते तथापि इस वाक्य से यज्ञ विधि की प्रशंसा है, जैसे कोई कहे कि देखो ! "फलवान् होने से वृक्ष भी अपना सिर झुका लेते हैं" तो इस वाक्य का तात्पर्य्य यही है कि ऐश्वर्य्यवान् को सदा नम्र ही रहना चाहिये इत्यादि, इसप्रकार यहां भी यही तात्पर्य्य हैं कि अचेतन वृक्ष भी जब यज्ञ करते हैं, तो चैतन्य मनुष्य को तो वह अवश्य ही करना चाहिये । इसी अभिप्राय से जैसे"वनस्पतयः सत्रमासत" इस वाक्य को सार्थक कियाहै, वैसे यहां भी विचारना चाहिये ।

"तदयथैवान्ये०" इत्यादि वाक्यों में जो गोवध से आगत महत् पुरुषोंके पूजन करने का लेख आता है, इस का भी तात्पर्य्य कुछ गोवध करने पर नहीं है । किन्तु उस का तत्त्व यह है कि वह "आतिथ्येष्टि" प्रकरण का वाक्य है, वह प्रकरण अतिथि पूजन का है, वहां जितने का जितने वाक्य है, उन का तात्पर्य्य अतिथि के उत्कृष्ट पूजन एवं उस की स्तुति में है, अतएव उक्त वाक्य का भी यह अभिप्राय है कि जब गौ की हिंसा करके भी लोग अतिथि का पूजन करते कराते हैं,तो अन्यान्य रीति से तो सभी प्रकार उसे (अतिथिपू०) करना ही चाहिये बस ! यही बात उक्त श्रुतिमें है, कुछ गोवध का विधान नहीं है, यदि उक्त वाक्य को गोवध का विधान मानें तो "मागा मनागामदितिम्बधिष्ट" इस हिंसा निषेधक श्रुति वाक्य का विरोध होवेगा, अतएव यहां यह व्यवस्था समझनी चाहिये कि हिंसा बोधन करने वाला उक्त वाक्य केवल अर्थवाद वाक्य है । और हिंसा विधान की पोषक कोई युक्ति उस में लिखी नहीं किन्तु "मगामना गाम्" इत्यादि वाक्य विधि हैं । और उस में "अनागाम्" अर्थात् "निरपराधिनीम्" यह हिंसा निषेध की

(१) आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्य मत दथानाम्—विधिनात्वेक वाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥

पोषक युक्ति भी लिखी है अतएव पहिला वचन निर्बल एवं "हिंसा निषेधक वचन प्रबल है। तथा यह भी एक मीमांसाशास्त्र का मत है कि जिस वाक्य में "यत्" "तत्" "अन्य" "इव" और "अदः" इत्यादि शब्द आते हैं, वह वाक्य विधि वाक्य के आगे निर्बल पड़ जाता है। अत एव यहां भी "तद्" "यथा" "अन्य" इत्यादि पद घटित "तद् यथैवाम्येo" इत्यादि गोवध-सूचक ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा "मागा मनागा मदितिं वधिष्ट" इस संहितोक्त विधि वाक्य का विशेष प्राबल्य है, सुतरां जो लोग हिंसा एवं मांस के लोलुप थे और इस मीमांसाशास्त्र के गहन आशय को न समझते, वे ही लोग पहिले अतिथि पूजन में गोहिंसा या किसी अन्य जीव की हिंसा करते, परन्तु शास्त्रानुसार मुख्य बात तो हिंसा का निषेध पक्ष या उत्सर्जन पक्ष ही प्रमाण है, बध पक्ष प्रमाण नहीं * ।

** श्री रामचन्द्रायनमः ।

स्वस्ति श्रीयुत पण्डित भीमसेन शर्मणे शुभ माशीः ।

तामसपूजापेक्षया सात्त्विकपूजा देवताया अधिक सन्तोषाय पूजयितुश्चाधिककल्याणाय भवतीति ममापि सम्मतम् । परं मूल्यद्रव्ये न्यूनता न करणीया वासनावैचित्र्येण तामसप्रवृत्तावेव विश्वासभाजान्तु सात्त्विके दृढश्रद्धा सम्पादनं विना प्रवृत्तिपरिवर्त्तनं न कार्य्यम् । इति शिवम् भाद्र शुक्ल ७ रविः ॥

श्री पण्डित शिवकुमार शर्म्मा ।

भावार्थः—तामस पूजा की अपेक्षा सात्त्विक पूजा देवता के सन्तोष एवं पूजा करनेवाले का कल्याण का निमित्त होता है। इस में मेरी भी सम्मति है। परन्तु पूजा के मूल्य द्रव्य में कमी न करनी वासना की विचित्रता से तामस प्रवृत्ति में विश्वास करने वालों को, सात्त्विक में दृढश्रद्धा के विना प्रवृत्ति का परिवर्त्तन न करे ॥

पशुसंज्ञपन वा यज्ञ में हिंसा ॥

श्री १०८ पं० भीमसेन शर्म्मा जी की सम्मति ॥ (आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र भूमिका पृ० ४-५)

* यह यज्ञ में हिंसा विषय पर सम्मति सुप्रसिद्ध सम्पादक "धर्म दिवाकर (भाग ४ मयूख ४ सम्वत् १९४३ पृष्ठ १३२—३७) " की है ॥ यह पत्र कलकत्ते से निकलता था, अब बन्द हो गया ॥

** मध्य हिन्द में एक सुठालिया—छोटी सी रियासत है, यहां के माननीय श्रीमान् राजा सुठालियाधीश ने श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी से नवरात्रि के समय दुर्गा पूजा में बकरे आदि के बलि की प्रथा रोकने म शास्त्रीय व्यवस्था मांगी थी जिस पर उक्त पण्डित जी ने इस अंश में सम्मति लेने के लिये बनारस के सुप्रसिद्ध श्रीमान् पं० शिवकुमार शास्त्री जी से पत्र द्वारा पूछा था इसी पत्र का उत्तर ऊपर छपा है ॥

हमारे पाठक महाशय इस बात का भी विशेष ध्यान रक्खें कि इन सूत्र ग्रन्थों को जब हम ठीक प्रामाणिक मान लेते हैं तब यह सिद्ध है कि जिस देश काल में और जिस रीति से जो काम, शास्त्र में, जिस के लिये कर्त्तव्य कहा है, वह उसी देश काल में, उसी रीति से किया हुआ, उसी मनुष्य के लिये उचित धर्म है। अन्यथा किया हुआ, वही अधर्म हो जाता है। जैसे अपने शयन स्थान में ऋतु काल में रात के समय विवाहित स्त्री से गमन करना गृहस्थ के लिये धर्म और गृहस्थ वैसा न करे, तो अधर्म है। ब्रह्मचारी संन्यासी को वैसा करनेसे अधर्म है, तीर्थ यात्रादि देश में, वन में प्रातःकालादि दिन में गृहस्थ को स्वभार्या गमन में भी अधर्म है। यदि शास्त्र की आज्ञा न मानें, तो धर्म, अधर्म, कुछ नहीं बनता। रोना सर्वत्र बुरा समझा जाता है, परन्तु (अन्यत्र त्वद्रुरुदत्याः संविशन्तु) वेद प्रमाणानुसार पिता के घर से पतिगृह को जाती हुयी कन्या का रोना अच्छा माना जाता है। गाली देना सर्वत्र बुरा काम है, पर विवाह में स्त्रियां तथा पुरुष गालियों को शुभ मानते हैं। इसी के अनुसार यज्ञादि में पशुओं का आलम्भन भी पूर्वकाल में बुरा नहीं माना जाता था। परन्तु लोक रीति से अपना मांस बढ़ाने के लिये शास्त्र विरुद्ध पशु-हिंसा अत्यन्त बुरी मानी जाती थी। अब कुछ ऐसा समय आगया है कि शास्त्र में लिखी बातों से तो लोग अधिक चौंकते हैं, परन्तु मांसहारी लोगों के लिये नित्य २ हज़ारों गौ आदि पशु मारे जाते हैं, जिस को सभी जानते हैं, उन से इतने नहीं घबराते, पर जब ऋषि आचार्य्यों ने ऐसा विकराल समय आते देखा तब पहिले से ही (लोकविक्रुष्टमेवच) लिख गये कि जो धर्म जिस समय लोक में बुरा समझा जावे, उस समय वह कर्त्तव्य नहीं है, इस लिये "पश्वालम्भ" कर्म इस समय कर्त्तव्य नहीं है। इस कारण ऐसे विचार इन ग्रन्थोंमें देखकर उद्वेग वा संकोच नहीं करना चाहिये। देखिये विवाह यज्ञोपवीत की सभी पद्धतियों में (ममव्रतेते हृदयं०) मन्त्र से कन्या के हृदय का स्पर्श वर करे ऐसा लिखा है। सो पहिले लोगों का सिद्धान्त तो (अर्थे कामेष्व सक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते) के अनुसार था कि धर्म के सामने लोभ और कामासक्ति उन के विचार से पृथक् सूर्य के सामने अन्धकार के तुल्य समूल नष्ट हो जाती थी, तब विवाह के समय कन्या के हृदय का स्पर्श करने में कुछ भी संकोच नहीं होता था, पर अब ऐसा करने में सभी को संकोच जान पड़ता है। सो इसका कारण अन्तःकरण का काम लोभादि से दब जाना है। वैसे पश्वालम्भ में अन्तःकरण में शुद्ध धर्मभाव न रहने से लज्जा भय वा संकोच होता है। इसीलिये हम लोग इन कामों के अधिकारी नहीं रहे।

सारांश यह है कि हमारे पाठक महाशय (पशुसंज्ञपन) कर्म को अपने विचारानुसार सर्वथा अनुचित ही समझें तो भी यह समझलें कि हमसे ऐसे कर्म करने करानेका कोई आग्रह भी तो नहीं, करता, प्रत्युत धर्मशास्त्र मना करता है इसलिये हमको ग्रन्थोंमें लिखेहोने मात्रसे द्वेष करना व्यर्थ निष्प्रयोजन है। हमको अपनी इष्टसिद्धि के लिये समयानुसार जो २ बातें इन ग्रन्थोंमें उपकारी प्रतीत हों, उनसे लाभ उठाना चाहिये। सब काम सब देशकालों में सब के लिये, जब कदापि हो ही नहीं सकते तो, इन्हीं ग्रन्थों का सब लेख हमारे अनुकूल कैसे हो जावे गा? जैसे, शीतकाल में खसखस की टट्टी व्यर्थ होने पर भी फिर गर्मी आने पर स्वयं सार्थक हो जाती है, वा जैसे गर्मी के दिनों में वा गर्मदेश में शीतके वस्त्र बोझमात्र व्यर्थ प्रतीत होने पर भी फिर शीत का देश वा काल आने पर सार्थक उपकारी हो जाते हैं। तथा जैसे पंसारी की दूकान में रक्खाहुआ विष कभी किसी अधिकारी के लिये अमृतवत् उपकारी हो जाता है इसलिये उस से द्वेष घृणा वा अरुचि करने वाले की भूल है, वैसे ही इन ग्रन्थोंके पशु संज्ञापनादि विषयों से द्वेष घृणा कुछ नहीं करे

ह० भीमसेन शर्म्मा, सम्पादक ब्राह्मणसर्वस्व—इटावा

उपसंहार।

अन्त में निवेदन यह है कि इस गोभिलगृह्यसूत्र को अनुवाद में हमें पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी की संस्कृत टीका से बड़ी सहायता मिली इस लिये इन महात्मा को हम अन्तःकरण से कोटिशः धन्यवाद देते हैं; पुनः इस के मुद्रण कार्य्य में श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी ने प्रूफ संशोधनादि कार्य्य में हमें सहायता दियी हैं। इस कारण हम इन पण्डित जी के भी कृतज्ञ हैं।

यह पुस्तक पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी मुद्रापित ५) रुपये को मिलती है, परन्तु इस में एक भारी त्रुटि यह है कि गृह्यसूत्रोक्त संस्कारों के साथ संस्कृत टीकामें मन्त्रों की प्रतीकें दियीं तो हैं परन्तु मन्त्र नहीं दिये हैं और मन्त्र ब्राह्मण अलग लेने से ५) और देने पड़ते हैं इस प्रकार यदि सर्वाङ्ग सम्पन्न गोभिलगृह्यसूत्र कोई लेना चाहे तो उसे १०) रुपये खर्चने पड़ेंगे। हमने मन्त्र ब्राह्मणोक्त सब मन्त्रों को यथास्थान (जहां २ जरूरत हुई) छपवा दिये हैं और ४० पृष्ठ पर भूमिका एवं भाषानुवाद होने पर भी मूल्य केवल २॥) ही रक्खा है। द्वितीय निवेदन यह है कि गृह्यसूत्रोक्त कई एक विषयों पर हमने भूमिका में–इस लिये विशेष विचार नहीं किया है–अब ही वेदों के भिन्न २ शाखा के भिन्न सब गृह्यसूत्र हैं मिले नहीं हैं जिन का अन्वेषण होरहा है, आशा है कि हम आश्वलायन और पारस्करगृह्यसूत्र की भूमिका में गृह्यसूत्रोक्त प्रत्येक विषयों पर पूर्ण विचार लिखेंगे। भवदीय–

शास्त्रप्रकाश कार्यालय–मधरापुर
डाक—बिद्दूपुर (मुज़फ्फरपुर) } क्षत्रियकु० उदयनारायणसिंह

गोभिलगृह्यसूत्रस्य विषयसूचीपत्रम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

अथ द्वितीयः प्रपाठकः ॥

॥ अथ तृतीयः प्रपाठकः ॥

ॐ

सामवेदीयम् ॥

अथ गोभिल-गृह्यसूत्रम् ॥

—०:‡:*:‡:०—

अथातो गृह्याकर्म्माण्युपदेक्ष्यामः ॥ १ ॥

'अथ' ग्रन्थारम्भद्योतकोऽयं निपातः। 'अतः' सदानीन्तनाचार्याणां वचोभङ्गीप्रयुक्तमिदम्। 'गृह्याकर्म्माणि' गृहाय हितो गृह्यः, योगरूढ्या अ-अग्निरिति बुध्यते; वक्ष्यत्यनुपदमेव 'स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति (२१ सू०)' इति; तत्र, कर्त्तव्यानि 'कर्म्माणि' नित्याग्निहोत्रहोमादीनि, तदङ्गभूता-न्यग्न्याधानादीनि च 'उपदेक्ष्यामः' तत्तदितिकर्त्तव्यतां बोधयिष्यामः। गृह्ये-तिदीर्घश्छान्दसः ॥ १ ॥ अथ तत्र सर्वकर्मसाधारणविधीनाह—

भा०:—इस के अनन्तर "*गृह्य" अग्नि में कर्त्तव्य नित्य अग्निहोत्र आ-दिक और उस के उपयोगी "अग्न्याधान" प्रभृति कर्म्मों का उपदेश करेंगे॥१॥

यज्ञोपवीतिनाऽऽचान्तोदकेन कृत्यम् ॥ २ ॥

'यज्ञोपवीतिना' किञ्च, 'आचान्तोदकेन' उदाकाचमनं कृतवतैव पुरु-षेण 'कृत्यम्' कार्य्यम्, वक्ष्यमाणकार्य्यजातमिति ॥ २ ॥

---

*अग्नि सामान्यतः तीन प्रकार का होता है,१ श्रौताग्नि, २ गृह्याग्नि, और ३ लौकिकाग्नि। अर्थात् ब्राह्मण भाग में जिस का व्यवहार व्यवस्था आदि सु-नी गयी है, उसी को "श्रौताग्नि" कहते हैं, जैसे गार्हपत्य (अग्नि) प्रभृति। इस के अतिरिक्त और वेदोक्त अर्थात् वेद में गृही के उपयोगी एवं कर्त्तव्य कह कर जानने पर भी जिस की व्यवहारप्रणाली सुनी नहीं जाती अतएव गोभिल आदिक की स्मृति द्वारा उपदिष्ट अग्नि को भी 'गृह्याग्नि वा स्मा-र्त्ताग्नि' कहते हैं। और वेद में जिस के लिये न तो विधि है और निषेध ही है, पर अन्न पाकादि कार्य्य के लिये जिस अग्नि का लोक में व्यवहार होता है उसे 'लौकिकाग्नि' कहते हैं।

भा०—आगे कहे जाने वाले कर्म्मों को यज्ञोपवीत ‡ धारण कर और आचमन करके करना चाहिये ॥ २ ॥

उदगयने पूर्वपक्षे पुण्येऽहनि प्रागावर्त्तनादन्हः कालं विद्यात्॥३॥

'उदगयने' उत्तरायणे 'पूर्व्वपक्षे' शुक्लपक्षे 'पुण्येऽहनि' मेघाच्छन्नादि-दोषशून्यदिने 'अन्हः' दिवसस्य 'आवर्त्तनात्' परिवर्त्तनात् 'प्राक्' पूर्वं पूर्वाह्णमेव 'कालम्' समयं 'विद्यात्' जानीयात्, वक्ष्यमाणकर्म्मणां सर्वेषामेवेति ॥ ३ ॥

भा०:—जहां २ (इस ग्रन्थ में) समय की कोई व्यवस्था नहीं कियी गई हो कि 'अमुक समय अमुक कार्य्य करना;' ऐसे स्थानों में समस्त कार्य्य उत्तरायण शुक्लपक्ष, निर्दोष (बादल रहित) दिन में दोपहर के पहिले करना चाहिये ॥ ३ ॥

यथादेशञ्च ॥ ४ ॥

यथादेशमपि कालं विद्यात्। यत्र यत्र च विशेषतः कालमादेश्यामस्तत्रतत्र स एव काल आदरणीयो न तु सामान्यतः उक्त उदगयनादिकइति ॥ ४ ॥

भा०:—जहां २ जिस २ कालादिक की व्यवस्था करेंगे, वहां २ वही २ काल माननीय होगा, सामान्यतः ३ सूत्रोक्त काल नहीं ॥ ४ ॥

सर्वाण्येवान्वाहार्य्यवन्ति ॥ ५ ॥

'सर्वाणि' गृह्यकर्माणि 'आहार्य्यवन्ति एवं' आहरणीयानि कुशाद्युपकरणानि तद्विशिष्टान्येवेति ॥ ५ ॥

भा०:—सब ही गृह्य कर्म्मों में कुशा प्रभृति अनेक "उपकरण" (सा-

---

‡ उपवीत-जो वामस्कन्ध से दहिने पार्श्व में लटकता हो उसे 'यज्ञोपवीत' और जो दहिने स्कन्ध से वामपार्श्व में लटकता हो उसे "प्राचीनावीत" और जो माला की नाईं गले में पहना जाता उसे "निवीत" कहते हैं॥ पितृ कार्य्यों में "प्राचीनावीती," देव कार्य्यों में "यज्ञोपवीती" और जिस समय देव या पितृ कार्य्य कुछ न हो, ऐसे समय एवं मल मूत्रत्याग, या भ्रमणादि शारीरिक कार्य्य करते समय "निवीती" होना चाहिये। यह एक प्रकार का संकेत है। पूर्वकाल में प्रायः सब ही लोग अधिक समय देव कार्य्य में व्यतीत किया करते थे सुतरां वे ही लोग प्रायः "यज्ञोपवीती" रहते थे। इस समय के कर्मभ्रष्ट द्विजों को "निवीती" होना ही उचित है, इन के प्रमाण क्रमशः इसी ग्रन्थ में आगे मिलेंगे।

सामग्री) आवश्यक होते हैं ॥ ५ ॥

अपवर्गेऽभिरूपभोजनं यथाशक्ति ॥ ६ ॥

'अपवर्गे' कर्मसमाप्तौ 'अभिरूपभोजनम्' अभिरूपः शास्त्रबोधिततया यथोपयुक्तः; तस्य तयोः तेषां वा भोजनं 'यथाशक्ति' स्वकीयायाद्यनुगतं कार्यमिति ॥ ६ ॥ इति सर्वकर्मसाधरणविधयः ।

भा०:—सब ही कर्म्मों की समाप्ति में यथाशक्ति यथाशास्त्र उपयुक्त एक, दो, या अधिक व्यक्ति को भोजन कराना चाहिये ॥ ६ ॥

———:○:———

अथाग्न्याधानविधीनाह—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्यान्त्याᳫं समिधमभ्याधास्यन् ॥७॥

उक्तं 'गृह्याकर्माणि' इति, तत्र कोऽसौ गृह्योऽग्निः ? प्रथमन्तावत् सएव उपदिश्यते 'ब्रह्मचारी' इत्यारभ्य 'गृह्योऽग्निर्भवति' इत्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेण । 'ब्रह्मचारी', 'वेदम् अधीत्य' गुरुकुले स्थित्वा वेदाध्ययनं समाप्य 'अन्त्यां' ब्रह्मचर्यसमापिकां 'समिधमाधास्यन्' समिधमाधातुं प्रवृत्तः "अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)" इत्यनेन सम्बन्धः । प्रतिदिनं यथाऽऽचार्याग्नावेव समिधमाधत्ते तदानीं न तथा आदधीत अपितु अपआहरणादिपूर्वकं अग्निप्रणयनं कृत्वैव तत्र स्वकीयेऽग्नौ तामन्त्यां समिधमादधीतेति ॥ ७ ॥

भा०:—ब्रह्मचारी (गुरुकुल में रह कर) वेदाध्ययन के अन्त में शेष 'समित्, (होमीय काष्ठ) हवन करने में प्रवृत्त होकर ॥७॥

जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् ॥ ८ ॥

यदि ब्रह्मचर्यसमापिकान्त्यसमिदाधानकालेऽग्निग्रहणं न कृतं भवेत्, तदा पूर्वपूर्वदिनवत् गुरोरग्नावेव ता मन्त्यां समिधमादधीत । पुनः कोऽग्निग्रहणकालः ? इत्याह—'वा' अथवा 'जायायाः' 'पाणिं' 'जिघृक्षन्' ग्रहीतुमिच्छन्, पाणिग्रहणात् पूर्वमेव 'अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)' इति॥८॥

भा०:—या जाया के पाणिग्रहणार्थ (विवाह के लिये) समुद्यत होकर ॥८॥

अनुगुप्ता अप आहृत्य प्रागुदक्प्रवणं देशᳫं समं वा परिसमुह्योपलिप्य मध्यतः प्राचीं लेखामुल्लिख्योदीचीञ्च सᳫंहतां पश्चात् मध्ये प्राचीस्तिस्र उल्लिख्याभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥

तदग्निप्रणयनाय कीदृशः स्थानसंस्कारइष्टः ? इत्युच्यते—'अनुगुप्ताः' विण्मूत्रप्रक्षेपतैलाभ्यङ्गादिवारणेन सुरक्षिताः ' अप ' उदकानि ' आहृत्य ' ' प्रागुदक्प्रवण ' प्राक् उदक् वा क्रमनिम्नं यस्य ईदृशं, ' समं ' समतलं 'वा' 'देशं' स्थानं तैरुदकैः ' परिसमूह्य ' ' मध्यतः ' तत्स्थानस्यान्तरे ' प्राचीं ' प्रागग्रां, ' च ' अपिच ' पश्चात् ' तस्यैव पाददेशे ' उदीचीं ' उदगग्रां ' संलग्नां ' प्राचीरेखया संहतां मपरां, ' लेखां ' रेखां, ' मध्ये ' मध्यस्थले ' तिस्रः प्राचीः ' एव अपराः रेखाश्च ' उल्लिख्य ' तत् स्थानम् ' अभ्युक्षेत् ' कुशाद्यग्रजलबिन्दुभिः सिञ्चेत् । तदेतत् स्थानं " स्थण्डिल " मुच्यते । ९

भा०:—*(जिस तालावादिक में जल,मैला फेंके जाने, या मूत्र त्याग, या तैलाभ्यङ्गन, या सेवार आदि द्वारा दूषित नहीं होता, किन्तु राज आज्ञा आदि शासन में विशेष सावधानी से रक्षित हो, ऐसा जल–स्थान से) दोष शून्य जल लाकर उस से स्थान को लीपे । यह स्थान पूर्व या उत्तर दिशा में क्रम–निम्न समतल (बराबर) होना आवश्यक है । इस लीपे हुए स्थान के बीच में पूर्वाग्र एक रेखा अङ्कित करे और उसी के नीचे एक रेखा उत्तराग्र करके उसी में मिलावे, मध्य में और भी तीन रेखा खींचे, पीछे उक्त लाये हुए जल को उस पर छिड़क देवे इसी को " स्थण्डिल " कहते हैं ॥ ९ ॥

लक्षणावृदेषा सर्वत्र ॥ १० ॥

'एषा' अपआहरणादिका क्रिया 'लक्षणावृत्' उच्यते; 'सर्वत्र' एव अग्निप्रणयने व्यवहर्त्तव्येति । १०

भा०:—इस क्रिया का नाम "लक्षणावृत्" है । यह अग्निप्रणयन मात्र में सब जगह व्यवहार के योग्य है ॥ १० ॥

भूर्भुवःस्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥

'भूर्भुवःस्वः' इति मन्त्रेण 'अभिमुखं' यथास्यात् तथा कृत्वा 'अग्निं' 'प्रणयन्ति'। 'लिङर्थे लेट् (पाणिनीये ३।४।७)'-इति लेटि, रूपम्; प्रणयेयुः। सर्वकर्मसु सर्वैः कर्मिभिरेवैव मग्निप्रणयनं कार्यमिति सामान्यविधित्वख्यापनायैव बहुवचनम्, सर्वे प्रणयेयुरिति । ११

गृहस्वामी पितादिर्जीवितइति ब्रह्मचर्यावसानसमये पाणिग्रहणकालेऽप्यग्निग्रहणं न भवेच्चेत्;—गृहस्वामिनि मृते, यदैव गृहस्वामी म्रियेत तदैव अग्निग्रहणं कर्त्तव्यमित्याह—

---

*अग्नि प्रणयन करने के लिये कैसा स्थान प्रस्तुत करना चाहिये इस का उपदेश किया जाता है ।

भा०:—इस के बाद उस अभ्युक्षित स्थान में "भूर्भुवः स्वः"—इस मंत्र को पढ़कर अपने सम्मुख अग्नि स्थापन करे ॥ ११ ॥

प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठीकरणम् ॥ १२ ॥

'वा' अथवा 'गृहपतौ' पित्रादौ 'प्रेते' मृते तदैव परमेष्ठीकरणम्' कृतच्चित्र-प्रत्ययस्यैतद्रूपम्, क्रियाविशेषणम्; परमेष्ठितया अग्नेः स्वीकरणं यथास्यात्तथा 'अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)' इति। परमेष्ठिकरणमिति ह्रस्वेकारयुक्तपाठस्तु क्वापि पुस्तकेऽनुपलब्धत्वान्न युक्तः। १२

भा०:—यदि ब्रह्मचर्य की समाप्ति या विवाह समय तक पिता आदि घर के मालिक जीते हों, तो ब्रह्मचारी को अग्नि ग्रहण कब करना चाहिये इस पर कहते हैं कि घर के मालिक के मरने ही पर वह अग्नि ग्रहण करे ॥ १२ ॥

अग्निग्रहणस्य सामान्यतः कालत्रयमुक्तम्, तत्रैव विशेषमाह—

तथा तिथिनक्षत्रपर्वसमवाये ॥१३॥

'तथा' अग्न्याधाने यथा अन्त्यसमिदाधानादिः कालोऽपेक्षितस्तद्वदिति। तिथिनक्षत्रपर्वणां त्रयाणामेवैषां शुभानां समवाये–(उत्तरेण सम्बन्धः) ॥ १३ ॥

तादृशसमवायः शीघ्रो न घटेत चेदाह—

भा०:—अन्त्य समिदाधान के लिये जिस प्रकार काल अपेक्षित होता है उसी प्रकार अग्नि स्थापन में भी तिथि, नक्षत्र, पर्व का एकत्र होना आवश्यक है * ॥ १३ ॥

---

*गुरु गृह में वास पूर्वक वेदाध्ययन समय में प्रतिदिन ही गुरु के गृह्याग्नि में ब्रह्मचारी गण समिदाहुति दिया करते, किन्तु पाठ समाप्त होने पर शेष आहुति पूर्ववत् न होकर ब्रह्मचारी के स्व सम्पादित अग्नि में आहुति होनी उचित है, यदि किसी प्रकार की रुकावट से इस समय अग्नि ग्रहण न हो, तो विवाह के पूर्व उसे ग्रहण कर (उसी) अपने ही अग्नि में लाजा होमादि पूर्वक पाणिग्रहण कर्तव्य है। परन्तु उस समय यदि पिता वा अपर गृहस्वामी जीवित रहें, तो एकान्त स्थल में, उस समय भी अग्नि ग्रहण करना अनावश्यक है, अतएव गृहस्वामी के मरने ही पर अग्नि ग्रहण करना चाहिये॥

सामान्यतः अग्नि ग्रहण के ये तीन काल कहे गये हैं। १ ब्रह्मचर्य्य समापिका समिदाहुति समय, २ विवाह के समय और ३ गृहस्वामी के मरने पर। अब इस सूत्र एवं अगले सूत्र द्वारा और भी विशेष रूप से काल बतलाया जाता है ॥

दर्शे वा पौर्णमासे वाऽग्निसमाधानं कुर्वीत ॥१४॥

'वा' अथवा 'दर्शे' अमावास्यायां, 'वा' अथवा 'पौर्णमासे' पौर्णमास्याम्, 'अग्निसमाधानम्' अग्नेः सम्यक् आधानं धारणं पोषणञ्च 'कुर्वीत' ॥१४॥ अग्निश्च सः कुतो ग्राह्य ? इति विधत्ते–

भा०–तिथि, नक्षत्र, पर्व इन के यदि एकत्र मिलने में विलम्ब आन पड़े तो किसी अमावास्या या पूर्णिमा तिथि को अग्नि ग्रहण करे ॥ १४ ॥

अग्निकहां से लाकर स्थापन करे–सो कहते हैं किः–

वैश्यकुलाद्वाऽम्बरीषाद्वाऽग्निमाहृत्याभ्यादध्यात् ॥ १५ ॥

'वैश्यकुलाद् वा' वैश्यजातिगृहस्थगृहात्, अथवा 'अम्बरीषाद्वा' भ्राष्ट्राद्वा 'अग्निम्' 'आहृत्य' 'अभ्यादध्यात्' अभ्याधानं ग्रहणं कुर्वीतेति ॥ १५ ॥

भा०ः–वैश्य जाति के गृहस्थ के घर से, या भ्राष्ट्र (भार) से अग्नि लाकर स्थापन करे ॥ १५ ॥

अपिवा बहुयाजिनएवागाराद्ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वा ॥ १६ ॥

'अपिवा' अथवा ब्राह्मणस्य वा' 'राजन्यस्य वा' 'वैश्यस्य वा' 'बहुयाजिनः एव' 'आगारात्' अग्निमाहृत्येत्यादि पूर्वेण सम्बन्धः । बहुयाजिनोऽग्न्याहरणं विधेयम्, स च बहुयाजी, त्रयाणामन्यतमो यः कश्चन भवेन्नामेति । अत्र वैश्यस्यानुल्लेखे ब्राह्मणक्षत्रिययोरन्यतरबहुयाजिनोग्निः ग्रहणीयः स्यात् न तु वैश्यस्य बहुयाजिनः; पूर्वत्रानुक्ते तु बहुयाजिन एव वैश्यस्य स्यात्, तदतिरिक्तस्यापि वेश्मनोऽग्निग्रहणमिष्टं तत्र भवेदित्युभयत्रैव वैश्यस्योल्लेखः ॥ १६ ॥

भा०ः–या बहुयाजी (जिस के यहां प्रायः यज्ञ होते हों) के घर से अग्नि लाकर स्थापित करे । उक्त बहुयाजी चाहे ब्राह्मण हो, या क्षत्रिय, या वैश्य, इस में कोई हानि नहीं ॥ १६ ॥

अपिवाऽन्यंमथित्वाऽभ्यादध्यात् ॥ १७ ॥

'अपिवा' अथवा 'मथित्वा' अरणिद्वयमन्थनं प्रकृत्यैव 'अभ्यादध्यात्' 'अन्यम्' अपरं नूतनम् अग्निमिति ॥ १७ ॥

भा०ः–या 'अरणि' (एक प्रकार की लकड़ी होती है जिस के दो लकड़ी को परस्पर रगड़ने से आग स्वयमेव निकलआती है) मथकर दूसरा अग्नि ग्रहण करे ॥ १७ ॥

पुण्यस्त्वेवा नर्द्धुको भवतीति ॥ १८ ॥

यथा कामयेत तथा कुर्य्यात् ॥ १९ ॥

'अनर्द्धुकः' ऋद्धिशून्यः 'पुण्यः तु एव' पुण्यमात्रजनकएव भवति, अयमारण्येयोऽग्निरिति शेषः। 'इति' अतो हेतोः 'यथा कामयेत तथा कुर्यात्' स यदि आमुष्मिकफल समृद्ध्यादिकं कामयेत वैश्यकुलादेरग्निं गृह्णीयात्, यदि तु तत्र न प्रवृत्तिः परं पुण्यमात्रं कामयेत तर्हि अरणिं निर्मथ्यैव गृह्णीयादिति ।१८—१९।

भा०:—इस 'अरणि' से नवोत्पन्न अग्नि में वक्ष्यमाण अनुष्ठानों के करने पर पुण्य तो होता है परन्तु* सम्पत्ति नहीं होती ॥ १८

भा०:—इस लिये जैसी कामना हो वैसा करे १५-१७ (सू० पक्षों में से कोई)॥१९॥

स यदेवान्त्याꣳसमिधमभ्यादधाति जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् जुहोति तमभिसंयच्छेत् ॥ २० ॥

'सः' पुरुषः 'यत् एव' यस्मिन्नेवाग्नौ 'अन्त्यां समिधम् आदधाति', 'वा' अथवा 'जायायाः पाणिं जिघृक्षन् जुहोति' लाजादिकान्, 'तम्' अग्निम् 'अभिसंयच्छेत्' यत्नेन रक्षेत् । २०

भा०:—इस प्रकार अग्नि आहरण पूर्वक जिस में शेष "समित्" की आहुति देवे, या विवाह कार्य्य के लाजा, होम आदि जिस में सम्पन्न करे उस अग्नि को बड़े यत्न से रक्खे ॥ २० ॥

स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति ॥ २१ ॥

'सः एव अग्निः' 'अस्य' ग्रहीतुः 'गृह्यः' गृहाय हितः गृहकर्मोपयोगी अतएव 'गृह्यः'-इत्येतन्नाम्ना प्रसिद्धो भवति' । २१

भा०:—यही उस का 'गृह्य' अग्नि है अर्थात् इसी अग्नि में उसे बहुत दिनों तक अपने सब गृह्य कार्य्य सम्पन्न करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

तेन चैवास्य प्रातराहुतिर्हुता भवतीति ॥ २२ ॥

'च' अपिच, 'तेन एव' अन्त्यसमिदाधानेन लाजादिहोमेन वा एव 'प्रातराहुतिः' 'हुता' हुतैवेति सिद्धा 'भवति'; तद्दिने अपरा प्रातराहुतिर्नापेक्ष्यतइति भावः। 'इति' अग्न्याधानप्रकरणसमाप्तिसूचकोऽयमितिशब्दः । २२।

अथनित्यहोमकालादिः—

भा०:—और यही 'अन्त्याहुति', या 'लाजाहुति' ही उस की प्रातः कालिक

---

* यह अर्थवाद है।

आहुति सिद्ध होगी, उस दिन दूसरी प्रातःकालिक आहुति की आवश्यकता नहीं ॥ २२ ॥

सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्द्धं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयते॥२३

तद्दिनस्य प्रातराहुतिस्तेनैव सिद्धा परन्तु तद्दिने एव सायमाहुति रुपदेष्टव्यैवेति 'सायमाहुत्युपक्रमे एव' वदामि—'अतऊर्द्धं' अग्न्याधानोपदेशात् परं 'गृह्येऽग्नौ' तस्मिन्, 'होमो विधीयते' सायं प्रातश्च होमप्रकार उपदिश्यते इति ॥ २३ ॥

भा०ः—उस दिन की प्रातः कालिक आहुति उस प्रकार सिद्ध होने पर भी उस दिन भी सायं आहुति की विधि उपदेष्टव्य है; इसलिये इस के पश्चात् सामान्यतः सब दिन के लिये ही इस गृह्य अग्नि में सायं और प्रातःकाल का होम कहा जाता है ॥ २३ ॥

पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायंप्रातरनुगुप्ता अपआहरेत् परिचरणीयाः ॥ २४ ॥

अपि वा सायम् ॥ २५ ॥

अपि वा कुम्भाद्वा मणिकाद्वा गृह्णीयात् ॥ २६ ॥

पुरास्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिं जुहुयात् ।२७.

पुरोदयात् प्रातः प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिं जुहुयात् ॥ २८ ॥ १ ॥

बोधसौकर्याय प्रथमन्तावत् सप्तविंशाष्टविंशसूत्रयोर्व्याख्यानं प्रकृत्यैव चतुर्विंशादीनि सूत्राणि व्याख्यायन्ते—

'अस्तमयात् पुरा' यावत् सूर्यास्तो न भवति तावदेव 'अग्निं' 'प्रादुष्कृत्य' सन्दीप्य, 'अस्तमिते' सूर्ये 'सायमाहुतिं जुहुयात्'—इत्युक्तः सायमाहुतिकालमात्रः (२७)। 'उदयात् पुरा' यावत् सूर्यो नोदेति तावदेव 'प्रादुष्कृत्य' अग्निम्, 'उदिते' सूर्ये 'अनुदिते' उदयसमये वा 'प्रातराहुतिं जुहुयात्',—इत्युक्तः प्रातराहुतिकालमात्रः (२८)। 'सायं' 'प्रातः' च द्विवारमेव 'प्रादुष्करणवेलायाः पुरा' अग्निसन्दीपनकालात् प्रागेव काले 'अनुगुप्ताः' सुरक्षिता निर्मलाः 'परिचरणीयाः' आचमनादिपरिचर्योपयुक्ताः 'अपः' उदकानि 'आहरेत्' (२४)। 'अपिवा' अथवा 'सायम्' प्रतिदिनि मेकवारं सायङ्काले अग्निसन्दीपनकालात् पूर्व मेव अप आहरेत्, तेनैव

प्रातश्चाचमनादिकाः क्रियाः कर्त्तव्याः; न तु पुनः प्रातराहरेदिति (२५)। 'अपिवा' अथवा एकदैव सायं प्रातर्वा अग्निसन्दीपनात् प्राक्काले अनुगुप्ता अप आहृत्य कुम्भे मणिके वा स्थापयेत्; प्रतिदिनं ततएव 'कुम्भाद्वा' 'मणिकाद्वा' ताः सायं प्रातश्च 'गृह्णीयात्'। २६।

इति गोभिलगृह्यसूत्रीय-प्रथमप्रपाठके प्रथमखण्डस्य व्याख्यानम् ॥ १, १ ॥

भा०:–सायंकाल में–सूर्य्यास्त होने के पहिले ही उसी रक्षित अग्नि को खूब जलाकर सूर्य्यास्त होने पर उस में आहुति प्रदान करे ॥ २७ ॥ प्रातःकाल में–सूर्य्योदय के पहिले उसी रक्षित अग्नि को सन्दीपित कर सूर्य्योदय के पीछे या उदय हो रहा हो ऐसे समय उस में आहुति प्रदान करे॥२८॥ सायं और प्रातःकाल में, (दोनों काल में) अग्नि प्रज्वलित काल के पहिले आचमनादि के उपयुक्त सुरक्षित जल लावे ॥ २४ ॥ या सायंकाल में एकवार इस जल को लाने ही से दोनों समय का काम हो सकता है ॥ २५ ॥ अथवा एक दिन सायंकाल में, या प्रातःकाल में अग्नि प्रज्वलित करने के पूर्व ही इस जल को लाकर कलसे या मणिके (पानी रखने का बड़ा वर्त्तन) में रख देना चाहिये, पीछे प्रतिसायं और प्रातः समय आवश्यकतानुसार उस से जल लिया करे (२६) *२४–२८ ॥

गोभिल गृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के प्रथमखण्ड का अनुवादपूरा हुआ ।१।१॥

——⊂:*:⊃——

अथ उपवीतविधिः–

यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वस्त्रं वाऽपि वा कुशरज्जुमेव ॥ १ ॥

पूर्वमुक्तं 'यज्ञोपवीतिना कृत्यम्'–इति, इदानीं तद्यज्ञोपवीतमेवोपदिश्यते–

'सूत्रं' 'वा' अथवा 'वस्त्रं' 'अपिवा' अथवा 'कुशरज्जुमेव', यदा यत्र यत् सुलभं, तदा तत्र तदेव 'यज्ञोपवीतं', 'कुरुते', लेटोरूपमिदम्, कुर्वीतेत्यर्थः। १

---

* सुगमता से समझने के लिये पहिले २७ और २८ सूत्र का अनुवाद करके इस के बाद २४, २५, २६, सूत्रों का अनुवाद किया गया है।

भा०:—सूत, या वस्त्र, या कुशरज्जु, जिस समय जो आसानी से मिल सके, उस समय उसी के यज्ञोपवीत से काम करना चाहिये + ॥ १ ॥

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति ॥२॥

तत्र 'दक्षिणं बाहुम्', 'उद्धृत्य', उत्क्षिप्य, 'शिरः', 'अवधाय', वेष्टयित्वा 'सव्येंऽसे', वामस्कन्धोपरि 'प्रतिष्ठापयति', तत्र 'दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं', दक्षिणकक्षान्तलम्बमानम् 'भवति', भवेत्। 'एवम्', प्रकारेण सूत्राद्यन्यतमस्य धारणेन 'यज्ञोपवीती', भवति। प्रसङ्गात् प्राचीनावीतिनोऽपि लक्षणमुच्यते—

भा०:—उस (जनेऊ) को दाहिने कांधे पर रखकर, शिर में लपेट कर और वामस्कंध से दक्षिण कक्ष (बगल) के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार से जनेऊ पहनने वाले को "यज्ञोपवीती" कहते हैं ॥ २ ॥ *

सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽसे प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति ॥ ३ ॥

'सव्यं', वामम्। अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम्। ३

भा०:—इसीप्रकार बायें कांधे के ऊपर जनेऊ को रख कर, शिर में लपेट कर पहना और दाहिने कांधे से वामे कक्ष के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार जनेऊ पहनने वाले को "प्राचीनावीती" कहते हैं ॥ ३ ॥

पितृयज्ञे त्वेव प्राचीनावीती भवति ॥ ४ ॥

'पितृयज्ञे' श्राद्धादौ 'तु' 'प्राचीनावीती एव' 'भवति' भवेत्। एवञ्च देवपितृकार्याभ्यामन्यत्र निवीत्येव तिष्ठेदिति सुतरां लभ्यते ॥ ४ ॥ अथ आचमनविधिरुपस्पर्शनविधिर्वा—

+ 'जनेऊ नौ गुण का होना चाहिये, तीन तागे का और दो जनेऊ, या तीन जनेऊ पहनना चाहिये,' इत्यादि यहां कुछ नहीं लिखा है। जैसे २ संसार की वृद्धि होती गई है वैसे २ आडम्बर भी बढ़ता गया है ॥

*—यह यज्ञोपवीत की लम्बाई का प्रमाण हुआ। इस के विरुद्ध जो किसी अन्य शाखा के ग्रन्थों में जनेऊ की लम्बाई का विधान है, वह सामवेदीय कौथुमीय शाखाध्यायी द्विजों के ग्रहण योग्य नहीं ॥ २ ॥

भा०ः–केवल पितृयज्ञ में "प्राचीनावीती" होना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि देवकार्य एवं पितृकार्य को छोड़ कर अन्य समय में "निवीती" होना चाहिये ॥ ४ ॥ +

उदङ्ङग्नेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचामेद् द्विः परिमृजीत ॥ ५ ॥

पादावभ्युक्ष्य शिरोऽभ्युक्षेत् ॥ ६ ॥

इन्द्रियाण्यद्भिः संस्पृशेत् ॥ ७ ॥

अक्षिणी नासिके कर्णाविति ॥ ८ ॥

यद्यन्मीमांस्यं स्यात्तत्तदद्भिः संस्पृशेत् ॥ ९ ॥

उक्तञ्च 'आचान्तोदकेनैव कृत्यम्'–इति, इदानीं तदितिकर्त्तव्यतादिकमुपदिश्यते—

'अग्नेः' 'उदङ्' उत्तरतः 'उत्सृप्य' सर्पणेन गत्वा, 'पाणी पादौ 'च प्रक्षाल्य', 'उपविश्य च',–'त्रिः' त्रिवारम् 'आचामेत्' जलं पिबेत्; 'द्विः' द्विवारं 'परिमृजीत' ओष्ठाधरलग्नमुदकं मार्जयेत्; ततश्च 'पादौ अभ्युक्ष्य' पादयोरभ्युक्षणं प्रकृत्य, 'शिरः' 'अभ्युक्षेत्'। ततश्च 'अक्षिणी' अक्षिगोलकद्वयम्, अनन्तरं 'नासिके' नासिकारन्ध्रद्वयं, तदनन्तरञ्च 'कर्णौ' कर्णशष्कुलिद्वयम्;—इति षट् 'इन्द्रियाणि' 'अद्भिः', 'संस्पृशेत्'। ततोऽनन्तरमपरमप्यङ्गं 'यत् यत्' 'मीमांस्यं' अवबोध्यं 'स्यात्' 'तत्तत् अपि' 'संस्पृशेत्'। ५—९

+—सर्व कर्म साधारण विधि–प्रकरण के द्वितीय सू० में (दैवकार्य्य में) यज्ञोपवीती हो कर कार्य करने की व्यवस्था कियी गयी है? एवं इस स्थल में विशेषतः पितृ यज्ञ में प्राचीनावीती होनेकी व्यवस्था कियी है। इस से जिस समय पितृकार्य या दैवकार्य कुछ न हो ऐसे अवसर पर, या शारीरिक मलमूत्र त्यागते समय यज्ञोपवीती या प्राचीनावीती रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस्से यह भी सिद्ध होता है कि जिस समय दैव वा पितृकार्य में व्यापृत न रहें उस समय (बोध होता है कि) "निवीती" ही रहना उचित है। मनु कहते हैं–कि 'निवीती कण्ठ सज्जने' (२ अ० ६३ श्लो०) अर्थात् कण्ठ में माला की भाईं जनेऊ–धारी को " निवीती " कहते हैं ॥ ४ ॥

भा०:—अग्नि के कुछ उत्तर की ओर सरक कर आवे और दोनों हाथ पैर धोकर उचित स्थान में बैठकर तीन बार आचमन करे। उस के बाद दो बार ओठ और अधर में लगा जल साफ करे, उसके पीछे दोनों पैर और माथे पर जल छिड़के, तदनन्तर दोनों आंख, नाक के दोनों छिद्र और दोनों कान, इन छः इन्द्रियों के स्थान में जल स्पर्श करे, तदनन्तर और भी जिस २ अङ्ग को अवबोधित करने की इच्छा हो उस २ अङ्ग को जल से स्पर्श करे ॥ ५, ६, ७, ८, ९॥

तत्रैतदाहुः—॥ १० ॥

'तत्र' आचमनविषये 'एतत्' मद्बुद्धिस्थमोष्ठागतं वक्ष्यमाणम् 'उच्छिष्टो हैवातोऽन्यथा भवति' (सू० ३०)—इत्यन्तग्रन्थम् आहुः केचनेति शेषः ॥१०॥

तद्यथा—

भा०:—इस आचमन के विषय में कोई २ आचार्य्य कहते हैं—कि ॥ १० ॥

नोपस्पृशेद् व्रजन् ॥ ११ ॥

'व्रजन्' इतश्चेतश्च भ्रमन् 'न' 'उपस्पृशेत्' अपइति शेषः ॥ ११ ॥

भा०:—भ्रमण करते समय आचमन न करना चाहिये ॥ ११ ॥

न तिष्ठन् ॥ १२ ॥

'तिष्ठन्' दण्डायमानः सन् 'न' उपस्पृशेदित्यनुवर्त्तते ॥ १२ ॥

भा०:—खड़े होकर 'भी' आचमन न करे ॥ १२ ॥

न हसन् ॥ १३ ॥

'न हसन्' हास्यं कुर्वाणः 'न' उपस्पृशेत् ॥ १३ ॥

भा०—हंसते समय 'भी' आचमन न करे ॥ १३ ॥

न विलोकयन् ॥ १४ ॥

'विलोकयन्' अपरं किमपि ईक्षमाणः 'न' उपस्पृशेत् ॥ १४ ॥

भा०:—इधर उधर ताकता हुआ (अन्य मनस्क होकर) भी आचमन न करे ॥ १४ ॥

नाप्रणतः ॥ १५ ॥

'अप्रणतः' क्रोधदम्भादिभिरुग्रमूर्त्तिः सन् 'न' उपस्पृशेत् ॥१५॥

भा०:—क्रोध, दम्भ आदि के कारण अनम्र होकर आचमन न करे ॥१५॥

नाङ्गुलीभिः ॥ १६ ॥

'अङ्गुलीभिः' अङ्गुल्यग्रेषु जलं गृह्णन्नग्राह्यबुद्ध्या 'न' उपस्पृशेत् ॥१६॥

भा०:–अङ्गुली के अग्र भाग में जल लेकर (अग्राह्य बुद्धि से) आचमन न करे ॥ १६ ॥

नातीर्थेन ॥ १७ ॥

'अतीर्थेन' तीर्थं ब्राह्मादिकं मन्वादिभिरुक्तम्, तदतिरिक्तेन यथा 'न' उपस्पृशेत् ॥ १७ ॥

भा०:–अतीर्थ द्वारा (धातु पात्रादि में मुंह से जल ले कर या कण्ठ में डाल कर) आचमन न करे ॥ १७ ॥

न सशब्दम् ॥ १८ ॥

'सशब्दं' क्रीडाभिप्रायेण शब्दं यथा भवेत् तथैव कुर्वाणो 'न' उपस्पृशेत् ॥१८॥

भा०:–शब्द करके (जल क्रीडानुसार) आचमन न करे ॥ १८ ॥

नानवेक्षितम् ॥ १९ ॥

'अनवेक्षितम्' हस्तगृहीतमुदकं अनवेक्ष्यैव यथालब्धं दृश्यकीटादिसहितं 'न' उपस्पृशेत् ॥ १९ ॥

भा०:—जल को भली भांति देखे विना आचमन न करे ॥ १९ ॥

न बाह्यांऽसः ॥ २० ॥

'बाह्यांसः' बाह्यौ बहिर्भूतौ जान्वोः, अंसौ स्कन्धौ यस्य, तादृशः सन् 'न' उपस्पृशेत् ॥ २० ॥

भा०:–दोनों जानु के बाहर स्कन्ध रहने से (वक्र शरीर) आचमन न करे ॥ २० ॥

नान्तरीयैकदेशस्य कल्पयित्वोत्तरीयताम् ॥ २१ ॥

'अन्तरियैकदेशस्य' परिहितवसनस्यैकांशस्य 'उत्तरीयतां' कल्पयित्वा 'न' उपस्पृशेत् ॥ २१ ॥

भा०:–एक ही वस्त्र को पहन कर उसी के एक अंश को ओढ़ कर आचमन न करे ॥ २२ ॥

नोष्णाभिः ॥ २२ ॥

'उष्णाभिः' वह्न्यादितप्ताभिः अद्भिः 'न' उपस्पृशेत् ॥ २२ ॥

भा०:–गरम जल से आचमन न करे ॥ २२ ॥

न सफेनाभिः ॥ २३ ॥

'सफेनाभिः' फेनादियुक्तैर्मलिनैरद्भिश्च 'न' उपस्पृशेत् ॥ २३ ॥

भा०:फेनैले जल से आचमन न करे ॥ २३ ॥

न च सोपानत्कः क्वचित् ॥ २४ ॥

' च ' अपिच ' क्वचित् ' स्थानविशेषे , यत्रानावश्यकं तत्र , ' सोपानत्कः ' उपानद्विविशिष्टः सन् ' न ' उपस्पृशेत् ॥ २४ ॥

भा०:—और अनावश्यक स्थान में दोनों पैर में जूता पहन कर आचमन न करे ॥ २४ ॥

कासक्तिकः ॥ २५ ॥

गले वद्धः ॥ २६ ॥

चरणौ न प्रसार्य्य च ॥ २७ ॥

के मस्तके आसक्तिर्बन्धनं यस्य स ' कासक्तिकः, ' ' गले' गलदेशे 'बद्धः' गलाधःकरणे व्याघातः स्यादेवं दृढबद्धः , ' च ' अपिच ' चरणौ ' ' प्रसार्य ' ' न ' उपस्पृशेत् ॥ २५—२७ ॥

भा०:—मस्तक या गले में दृढ़ बन्धन रहते या दोनों पैर फैला कर आचमन न करे ॥ २५, २६, २७ ॥

अन्ततः प्रत्युपस्पृश्य शुचिर्भवति ॥ २८ ॥

' अन्ततः ' आचम्यारब्धकर्मकेण अनारब्धकर्मकेण वा शयनादीनामन्ते ' प्रत्युपस्पृश्य ' अनुपद-वक्ष्यमाणप्रत्युपस्पर्शनं प्रकृत्यैव ' शुचिर्भवति ' ॥ २८॥

भा०:—सो कर उपने पर इत्यादि समय दोबारे आचमन न करने से शुद्धि होगी ॥ २८ ॥

हृदयस्पृशस्त्वेवापआचामेत् ॥ २९ ॥

आचमनजलपरिमाणमाह—' हृदयस्पृशः ' यावन्त्यः पीताः हृदयं स्पृशन्ति, तावन्तयएवापः हृदयस्पृशः ताः ' आपः ' ' आचामेत् ॥ २९ ॥

भा०:—जितना जल पीने से हृदय पर्य्यन्त सिक्त हो सके, न्यून से न्यून उतने जल से अवश्य आचमन करना चाहिये ॥ २९ ॥

उच्छिष्टोहैवातोऽन्यथा भवतीति ॥ ३० ॥

' अतोऽन्यथा ' उक्तादन्यप्रकारकृताचमनः ' उच्छिष्टः एवं ' अशुद्धएव 'ह' निश्चयं ' भवति '–' इति ' ' आहुः ' (सू० १) इति पूर्वेणान्वयः ॥ ३० ॥

भा०:—ऐसा नहीं करने पर (हृदय तक जल नहीं पहुंचने से) उच्छिष्ट ही रह जाता है ॥ ३० ॥

अथ प्रत्युपस्पर्शनानि ॥ ३१ ॥

'अथः' अनन्तरम् 'प्रत्युपस्पर्शनानि' कीदृक्स्थलकृताचमनं प्रत्युपस्पर्शनसंज्ञां लभते ? तत् उपदेक्ष्यामइति ॥ ३१ ॥

भा०:—किस २ स्थान के आचमन को "प्रत्युपस्पर्शन" कहते हैं ? सो कहा जाता है ॥ ३१ ॥

सुपूत्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा विपरिधाय च रथ्यामाक्रम्य श्मशानञ्चाचान्तः पुनराचामेत् ॥ ३२ ॥

'सुपूत्वा' स्वापानन्तरम् १, 'भुक्त्वा' भोज्यभोजनानन्तरम् २, 'क्षुत्वा' क्षवनानन्तरम् ३, 'स्नात्वा' स्नानानन्तरम् ४, 'पीत्वा' पेयपानानन्तरम् ५, 'विपरिधाय' वसनादिपरिधानानन्तरम् ६, 'च' अपिच 'श्मशानम्' 'रथ्याम्' ग्राम्यमार्गम् ७, 'आक्रम्य' विचरणानन्तरम् ८ 'आचान्तः च' यागाद्यनुरोधतः प्रथम माचान्तोऽपि पुनराचामेत् द्वितीयमाचमनं कुर्वीत । अत्रेदं तत्वम् स्वापाद्यनन्तरमाचामेत्, तत्रैकमेवाचमनं कर्त्तव्यम्; अथ आचम्यारब्धकर्मकेण तु स्वापाद्यनन्तरं पुनश्च द्वितीयमाचमनं कर्त्तव्यम्; तदिदमेवंस्थानिकमाचमनमेव प्रत्युपस्पर्शनमुच्यतेइति ॥ ३२ ॥

इति श्रीगोभिलीय-गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् । १, २, ।

भा०:—सो कर उठने पर, भोजन करने पर, हिचकी आने पर, स्नान करने पर, रसादि पीने पर, वसन, भूषणादि पहनने के श्रम के ‡ उपशमार्थ

‡ शयनादि के पीछे जो आचमन किया जाता है उसी को "प्रत्युपस्पर्शन" कहते अर्थात् नीन्द टूटने पर आचमन अवश्य करना चाहिये; यदि किसी देवानुष्ठानादि कार्य्य करते २ आलस्य जात तन्द्रा रूप निद्रा, या किसी प्रकार आहार या हिचकी हो तो ऐसे स्थान में पुनर्वार आचमन करे ऐसा न समझे कि एक वार आचमन कर चुका हूं फिर क्या आवश्यकता है ॥

एवं गली और मुर्दे जलाने के स्थान में भ्रमण करने पर, या इस के पूर्व अपर किसी कार्य्य के अनुरोध से आचमन किया गया हो,तो ऐसे स्थलों में भी पुनः आचमन करे ॥ ३२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड का अनुवाद पूरा हुआ ॥ १, २ ॥

(इति सर्वकर्मसाधारण-प्रकरणं समाप्तम्)

(अथ ब्रह्मयज्ञप्रकरणम्)

अग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेनाग्निमदितेऽनुमन्यस्वेत्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ १ ॥

'अग्निम्' पूर्वोक्तप्रकारेण (१, २७-२८) 'उपसमाधाय', 'परिसमूह्य' वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण, 'दक्षिणजान्वक्तः' दक्षिणं जानु अक्तं भूमिगतं यस्य, तादृशः सन्;—'अदितेऽनुमन्यस्व' हे अदिते ! देवि ! एतत्कर्मकरणे अनुमतिं देहि 'इति' अनेन मन्त्रेण 'अग्निम् दक्षिणेन' कृत्वा 'उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥१॥

भा०:—पूर्वोक्त (१, २७—२८) अग्नि उपसमाधान कर, परि समूहन करके दक्षिण जानु भूमि पर टेककर, हे अदिते ! मुझ को इस कार्य्य के करने में अनुमति देओ', इस मन्त्र से अग्नि के दक्षिण भाग में उदकाञ्जलि सींचे ॥ १॥

अनुमतेऽनुमन्यस्वेति पश्चात् ॥ २ ॥

'अनुमतेऽनुमन्यस्व' हे अनुमते देवि ! अत्रानुमतिं देहि—'इति' मन्त्रेण 'पश्चात्' अग्नेः पश्चिमतः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ २ ॥

भा०:—' हे अनुमते ! मुझ को इस कार्य्य के करने में अनुमति देओ'—इस मन्त्र से अग्नि के पश्चात् भाग में दूसरी उदकाञ्जलि सींचे ॥ २ ॥

सरस्वत्यनुमन्यस्वेत्युत्तरतः ॥ ३ ॥

'सरस्वत्यनुमन्यस्व' हे सरस्वति ! देवि ! अत्रानुमतिं देहि—' इति ' मन्त्रेण ' उत्तरतः ' अग्नेः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ ३ ॥

भा०:—और 'हे सरस्वति ! मुझको इस कार्य्य के करने में अनुमति देओ' इस मन्त्र से अग्नि के उत्तर में तीसरी उदकाञ्जलि सेंचन करे ॥ ३ ॥

देवसवितः प्रसुवेति प्रदक्षिणमग्निं पर्य्युक्षेत् सकृद् वा त्रिर्वा ४॥

'देवसवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्योगन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचन्नः स्वदतु ' इत्यनेन मन्त्रेण (म० ब्रा० १ क०) 'अग्निं प्रदक्षिणं' यथाभवेत् 'सकृत् वा' एकवारं वा 'त्रिर्वा' अथवा वारत्रयं 'पर्युक्षेत्' उदकधाराभिरिति शेषः ॥ ४ ॥

भा०:—एकवार या तीनवार 'देव सवितः प्रसुव इस मन्त्र से अग्नि की प्रदक्षिणानुसार जल धारा गेरे । इसी को पर्युक्षण कहते हैं ॥ ४ ॥

पर्य्युक्षणान्तान् व्यतिहरन्नभिपर्य्युक्षन् होमीयम् ॥ ५ ॥

'पर्युक्षणान्तान्' अङ्गयागान् 'व्यतिहरन्' व्यवहरन् 'होमीयम्' होमो-

पयोगितया सङ्गृहीतं वस्तुजातम् ' अभिपर्युक्षन् ' उदकविन्दुभिः सिञ्चन् ।५।

भाः—उक्त प्रकार ' पर्य्युक्षन् ' पर्यंत कार्यों को शेष कर अनन्तर होम के उपयोगी अन्नादि को जल विन्दु से सींचे। इसी को 'पर्य्युक्षण' कहते हैं ॥५॥

अथ हविष्यस्यान्नस्याग्नौ जुहुयात् कृतस्य वाऽकृतस्य वा॥६॥

' अथ ' अनन्तरम् ' अग्नौ ' तस्मिन् ' कृतस्य ' वा पक्वस्य वा 'अकृतस्य वा' अपक्वस्य वा ' हविष्यस्य ' अन्नस्य यवादेः (अंशमितिशेषः) 'जुहुयात्' ॥६॥

भा०:—अनन्तर उसमें अग्नि में का पका या कच्चा हव्य हवन करे ॥ ६ ॥

अकृतञ्चेत् प्रक्षाल्य जुहुयात् प्रोदकं कृत्वा ॥७॥

तत्र होमीयं ' अकृतम् ' अपक्वं ' चेत् ' तत् ' प्रक्षाल्य ' उदकैः, 'प्रोदकं' जलार्द्रं च ' कृत्वा ' ' जुहुयात् ' ॥७॥

भा०:—यदि अग्नि-पक्व भात आदि होम के योग्य न हो, प्रत्युत तण्डुल या फलादि ही हवनीय हो, तो उन सब को अच्छे प्रकार धोकर जल से भींगे ही दशा में हवन करे ॥ ७ ॥

अथ यदि दधिपयोयवागूं वा, कंꣳसेन वा चरुस्थाल्या वा स्रुवेण वै वा ॥८॥

' अथ ' तत्रापि यदि दधि पयः यवागूं 'वा' होतव्यं भवेत् तदा 'कंसेन वा' कांस्यपात्रेण वा ' चरुस्थाल्या वा ' चरुपाकपात्रेण 'वा' अथवा ' स्रुवेण ' 'वै' एव जुहुयात् न तु साक्षात् हस्तेन ॥८॥

भा०:—विशेषता-यदि दही, दूध या यवागू, होम करना हो, तो उसके धोने की आवश्यकता नहीं, जैसा हो उसी प्रकार विन धोये ही कांस्यपात्र चरुस्थाली में रक्ख कर उस से या स्रुवा से हवन करे (हाथ से नहीं) ॥८॥

अग्नये स्वाहेति पूर्वां तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये चैवापराजिता-याञ्चैव दिशीति सायम् ॥९॥

'मध्ये' अग्नेर्मध्यस्थले 'पूर्वां' प्रथमामाहुतिम् "अग्नये स्वाहा" 'इति' अनेन मन्त्रेण ' अपराजितायां ' दिशि अग्नेरैशान्यां ' उत्तराम् ' द्वितीयामाहुतिम् 'तूष्णीम्' मन्त्रशून्याम् जुहुयात् । 'इति' एवं 'सायम्' सायङ्कालीनो होमः ॥९॥

भा०:—प्रथम आहुति तो " अग्नये स्वाहा " इस मन्त्र से अग्नि के बीच में और द्वितीय आहुति ईशान कोण में विना मन्त्र ही करे। यही सायङ्काल के होम का विधि हुआ ॥ ९ ॥

अथ प्रातः,-सूर्य्याय स्वाहेतिपूर्वां, तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये चैवापराजितायाञ्चैव दिशि ॥१०॥

"अथ प्रातः—" 'पूर्वाम्' प्रथमामाहुतिं "सूर्याय स्वाहा" "इति" अनेन मन्त्रेण । अन्यत् समानं पूर्वेण ॥१०॥

भाः—प्रातःकाल के होम की व्यवस्था भी इसी प्रकार, होगी, केवल " अग्नये स्वाहा " मन्त्र के बदले " सूर्याय स्वाहा " मन्त्र से आहुति होगी इतना ही इस में विशेषता है ॥ १० ॥

समिधमाधायानुपर्य्युक्ष्य तथैवोदकाञ्जलीन् प्रसिञ्चेदन्वमंस्था इति मन्त्रविशेषः ॥११॥

सायं प्रातश्चोभयत्रैव होमानन्तरम्–' समिधम् ' अमन्त्रकमेव आधाय' तत्राग्नौ हुत्वा ' अनुपर्युक्ष्य ' पुनः पर्युक्षणं कर्तुं प्रवृत्तः ' तथैव ' पूर्ववदेव ' उदकाञ्जलीन् ' प्रसिञ्चेत् । तत्र ' अन्वमंस्था '–' इति ' अयमेव भूतार्थपद-प्रयोगएव ' मन्त्रविशेषः ' मन्त्रे विशेषः कर्त्तव्यः ॥ ११ ॥

भा०—' सायं ' या ' प्रातः ' दोनों ही काल में होम के पीछे अग्नि में एक समित् (होम की लकड़ी) बिना मन्त्र के डाल कर पहिलेकी नाईं फिर ' पर्य्युक्षण ' करने को प्रवृत्त होकर उदकाञ्जलि सींचे । इसी को 'अनुपर्य्युक्षण' कहते हैं । इसी ' अनुपर्य्युक्षण ' में पूर्व मन्त्र के बदले में ' हे अदिते ! तू ने मुझे इस कार्य्य के करने में अनुमति प्रदान किया था ' (मैं ने भी उस के अनुयायी कार्य्य सम्पन्न किया)–इसी मन्त्र का व्यवहार करना चाहिये यही विशेषता है ॥ ११ ॥

प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्यापाᳬशेषं निनीय पूरयित्वा चमसं प्रतिष्ठाप्य यथार्थम् ॥ १२ ॥

उक्तानुपर्युक्षणानन्तरम्–' अग्निं ' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'परिक्रम्य' 'अपाम्' अनुगुप्तानां कुम्भादिगृहीतानां वा 'शेषं' 'निनीय' पुनर्गृहीत्वा, तेनैवोदकशेषेण 'चमसं' पानपात्रं 'पूरयित्वा' 'प्रतिष्ठाप्य' संस्थाप्य च 'यथार्थम्' यथा-प्रयोजनम् एतदुत्तरवक्ष्यमाणं सायं सायमाशादिकं प्रातः प्रातराशादिकञ्च कुर्वीतेति ॥ १२ ॥

भा०—उक्त " अनुपर्य्युक्षण " के पीछे प्रदक्षिण द्वारा अग्नि परिक्रमा

करके, गृहीत जल के अवशिष्ट को ' चमसि ' में ढाल कर यथा आवश्यक कार्य के लिये रक्ख छोड़े ॥ १२ ॥

एवं मत ऊर्द्ध्वं गृह्येऽग्नौ जुहुयाद्वा हावयेद्वाऽऽजीवितावभृथात् ॥ १३ ॥

'अतः ऊर्द्ध्वम्' एतद्दिवसत ऊर्द्ध्वम् 'आ जीवितावभृथात्' जीवितं जीवनम्, अवभृथश्च अश्वमेधादिमहायागक्रियान्त्यकर्म, तयोः समाहारः तस्मात् यावज्जीवनं महाक्रतुसम्पादनान्तं वा प्रतिदिनमेव सायं प्रातश्च 'एवम्' अनेन प्रकारेणैव तत्र 'गृह्ये अग्नौ' 'जुहुयात् वा' स्वयम्, 'हावयेद्वा' अपरेण प्रतिनिधिना ॥ १३ ॥

भा०—जिस दिन अग्नि ग्रहण पूर्वक प्रथम होम करे, उस दिन से यावज्जीवन या अश्वमेधादि महायाग में ' अवभृथ (अन्तिम स्नान) स्नान करने पर्यन्त प्रतिदिन सायं और प्रातः दोनों ही समय उपदिष्ट प्रकार से स्वयं होम करे या प्रतिनिधि (अपने बदले में दूसरे किसी के) द्वारा इस होम को करावे ॥ १३ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ १४ ॥

'अथ' अत्र विषये 'उदाहरन्ति अपि' अपरेण हावने विशेष विधिमप्यनेके वदन्ति ॥ १४ ॥

भा०—इस प्रतिनिधि के विषय में कतिपय लोग यह (विशेष) कहते हैं ॥१४॥

कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायंप्रातर्होमौ गृहाः पत्नी गृह्यएषोऽग्निर्भवतीति ॥१५॥

'एषः अग्निः' 'गृह्यः' गृहाय हितएव 'भवति',-'पत्नी' च 'गृहाः' गृहा, 'इति' अतोहेतोः 'गृह्ये अग्नौ' अत्र 'पत्नी', 'कामं' यथा स्यात्तथा, इच्छेच्चेत् 'सायंप्रातर्होमौ' यथोक्तौ द्वावेव, 'जुहुयात्' ॥ १५ ॥

भा०—पत्नी को गृहा (गृह कार्य्य की उपयोगिनी) कहते हैं एवं इस अग्नि को भी गृह्याग्नि कहते हैं अर्थात् घर के काम के उपयोगी अतएव पत्नी इच्छा करने पर सायं और प्रातः दोनों ही होम करे ॥ १५ ॥

निष्ठिते सायमाशप्रातराशे भूतमिति प्रब्राचयेत् ॥ १६ ॥

अनन्तरम्, ' सायमाशप्रातराशे ' सायं सायम्भोजने प्रातः प्रातर्भोजने च 'निष्ठिते' अनुष्ठिते, ततः 'भूतम्' इदानींकर्त्तव्यजातं सम्पन्नम् ' इति ' मनसि

विचार्य अन्तेवासिनो विज्ञाप्य वा 'प्रवाचयेत्' स्वाध्याय मध्यापयेत्; स्वान्ते वासिन इति शेषः। एष एव ब्रह्मयज्ञः ॥ १६ ॥

भा०—अनन्तर सायङ्काल में सायङ्काल का भोजन और प्रातःकाल में प्रातःकाल का भोजन प्रस्तुत होने पर छात्रों (विद्यार्थियों) को अध्ययन करावे। (इसी को 'ब्रह्मयज्ञ' कहते हैं) ॥ १६ ॥

ऋते भगया वाचा शुचिर्भूत्वा—॥१७॥

प्रतिजपत्योमित्युच्चैस्तस्मैनमस्तन्माक्षा इत्युपांशु ॥ १८ ॥

ब्रह्मयज्ञकाले 'भगया वाचा ऋते' वेदवाक्यं विना अपरं किमपि लौकिकं प्रब्रूय 'अशुचिः भूत्वा, तदशुचित्वं दूरीकर्त्तुम् 'उच्चैः ओम् इति' किञ्च 'उपांशु' नीचैः,' तस्मै नमस्तन्माक्षाः ' 'इति' मन्त्रद्वयं 'प्रतिजपति' प्रतिवार यावद्वारं लौकिकं वदेत् तावद्वारमेव जपेदिति ॥ १७-१८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१. ३॥

भा०—(ब्रह्मयज्ञ काल में) जिस वाक्य से कल्याण हो ऐसे वाक्य को छोड़, अन्य वाक्य का व्यवहार करने ही से अशुचि होगी ॥ १७ ॥

अपवित्र—वाक्य के व्यवहार से अशुचि होने पर प्रकट में " ओम् " कह कर, मन ही मन " उन को नमस्कार वे इस प्रकार कहने से फिर प्रवृत्त नहीं करते " इस मन्त्र का जप करे ॥ १८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के तृतीय
खण्ड का अनुवाद पूरा हुआ ॥ १. ३ ॥

अथ वाग्यतो बलीन् हरेत् । १

'अथ' प्रकरणारम्भद्योतकः। 'वाग्यतः' नियतवाक् हास्यकौतुकादिनिमित्तकमनृतभाषणाद्यनियतवाचं परित्यज्य 'बलीन्' बल्यर्थपाकादीनि प्रथमकर्त्तव्यानि 'हरेत्' आहरेत् सम्पादयेदित्यर्थः॥१॥ उक्तनियमवाक्त्वमेव विशदयति—

भा०—हंसी ठट्ठा (हास्य कौतुकादि) के निमित्त भी झूठ बोलना आदि अनियत वाक्य को छोड़ कर अर्थात् काम में मन लगा कर "बलिकर्म" करना चाहिये विचार पूर्वक पाकादि सम्पादन करना उचित है ॥ १ ॥

भाषेतान्नसंसिद्धिमतिथिभिः कामंसम्भाषेत । २

' अन्नसंसिद्धिं ' अन्नसम्बन्धिनीं संसिद्धिं विक्लृत्यादिविषयणीं ' कथां

प्रश्नोत्तरादिकां' 'भाषेत' न तत्र निषेधः । किन्तु 'अतिथिभिः' समागतैः सह 'कामं' यथेच्छं विनयादिकं 'सम्भाषेत' तत्रापि न निषेधः ॥ २ ॥ वैश्वदेवविधिरुच्यते—

भा०—हां, अन्नपाक सम्बन्धी बातचीत (कथोपकथन) करने का निषेध नहीं और आये हुये अतिथिओं के साथ भी नम्रता से बात करने में कोई बाधा नहीं ॥ २ ॥

अथ हविष्यस्यान्नस्योद्धृत्य हविष्यैर्व्यञ्जनैरुपसिच्याग्नौ जुहुयात्तूष्णीं पाणिनैव ॥ ३ ॥

'अथ' पाकनिष्पत्त्यनन्तरं, 'हविष्यस्य अन्नस्य' तस्यैव पक्वस्य हविष्यस्य पाकस्य किञ्चिद् 'उद्धृत्य' गृहीत्वा, 'हविष्यै व्यञ्जनैः' सूपादिभिः 'उपसिच्य' गृहीतं तत् सम्मिश्रय, ' अग्नौ ' पूर्वोक्तलक्षणे गृह्ये, 'तूष्णीम्' अस्फुटवाक् सन् 'पाणिनैव' जुहुयात्, न तत्र स्रुवादेरपेक्षा ॥३॥ तत्र मन्त्रदेवते विधीयते—

भा०—पाक प्रस्तुत होने पर उस हविष्यान्न में से कुछ लेकर हविष्य व्यञ्जन के साथ उसी अग्नि में विना मन्त्र पढ़े एक आहुति देवे । इस आहुति में ' स्रुवादि ' की अपेक्षा नहीं, हाथ ही से उस का काम चल जावेगा ॥ ३ ॥

प्राजापत्या पूर्वाहुतिर्भवति सौविष्टकृत्युत्तरा ॥ ४ ॥

'प्राजापत्या' प्रजापतिदेवताका, तथाच मनसा प्रजापतिं प्रजानामीशानं सृष्टिस्थितिलयकर्त्तारं परमदेवं विचिन्त्य 'प्रजापतये स्वाहा'—इत्यस्फुटमेवोक्त्वा 'पूर्वाहुतिः' प्रथमा आहुतिः 'भवति' सम्पद्यते। 'सौविष्टकृती' स्विष्टकृद्देवताका, स्विष्टं शोभनाभिलाषं करोति पूरयति यः तमेव सर्वान्तर्यामिणं परमेशं मनसा विचिन्त्य 'स्विष्टकृते स्वाहा' इत्यस्फुटएवोक्ते 'उत्तरा' आहुतिः भवति। इत्थमुपदिष्टो देवयज्ञापरनामको नित्यहोमाभिधो वैश्वदेवः ॥ ४ ॥

भा०ः—प्रजापति देवता अर्थात् जो इस विश्व (सम्पूर्ण) राज्य का प्रकृत (असल) राजा होकर प्रजारूप विश्व संसार को पालन कर रहे हैं उन्हीं परमेश्वर का मन ही मन चिन्तमन कर प्रथम आहुति और स्विष्टकृत् देवता अर्थात् जो एक मात्र सम्पूर्ण संसार का अन्तरयामी और सुमनोरथ पूरण करने वाला है उन को मन ही मन चिन्तमन करके द्वितीयाहुति देवे इसी को " देवयज्ञ " " नित्यहोम " और " वैश्वदेव " कहते हैं ॥ ४ ॥

अथ बलीन् हरेत्, वाह्यतोवान्तर्वा सुभूमिं कृत्वा ॥ ५ ॥

'अथ' देवयज्ञापरपर्यायवैश्वदेवहोमानन्तरम्;—

'बाह्यतः वा अन्तर्वा' अग्न्यागारस्येति शेषः, 'सुभूमिं' मार्जनादिभिर्भूमि-शोधनं 'कृत्वा' 'बलीन्' भूतयज्ञात्मकान् पशुपक्षिपिपीलिकादीनामाहारदान रूपान् 'हरेत्' सम्पादयेत् ॥ ५ ॥

भा०:—देवयज्ञ नामक उक्त होम के पीछे अग्नि–गृह के बीच में हो या बाहर। अर्थात् यथायोग्य चाहे जिस किसी स्थान में हो, झाड़ू आदि से भूमि को भली भांति साफ कर उस २ स्थान में पशु, पक्षी, पिपीलिका आदि को आहार देकर "बलिकार्य्य" पूरा करे ॥ ५ ॥

सकृदपो निनीय चतुर्धा बलिं निदध्यात्,सकृदन्ततः परि-षिञ्चेत् ॥ ६ ॥

'सकृत्' एकवारम् 'अपः' उदकानि 'निनीय' भूमौ सिञ्चनं प्रकृत्य 'बलिं' पार्थिवभूताद्युद्देश्यकं दानं 'चतुर्धा' चतुःप्रकारं यथा स्यात् तथा 'निदध्यात' तत्र मार्जितजलसिक्ते च स्थाने संस्थेतः 'अन्ततः' बलिनिधानान्ते पुनरपि पूर्ववत् 'सकृत' एकवारम् अपः 'परिषिञ्चेत्' ॥ ६ ॥

भा०:—मार्जित (साफ किया हुई) भूमि में पहिले एक वार जल छींट कर ४ भाग बलि अलग २ रक्खे और फिर उस पर जल छिड़के ॥ ६ ॥

एकैकं वानुविधानमुभयतः परिषिञ्चेत् ॥ ७ ॥

'वा' अथवा 'अनुविधानम्' एकस्य पश्चादपरमिति क्रमेण चतुर्णामेव बलीनां स्थापनं कार्यमिति शेषः, किन्तु 'एकैकम्' एव 'उभयतः' स्थापनात् पूर्वस्मिन् पश्चादपि 'परिषिञ्चेत्' ॥ ७ ॥

भा०:—या एक २ भाग करके ही बलि स्थापन करे और प्रत्येक भाग के रखने के पहिले एकवार और पीछे एकवार जल छिड़के ॥ ७ ॥

स यत् प्रथमं निदधाति स पार्थिवो बलिर्भवत्यथ यद्द्वितीयथ्ं स वायव्यो यत् तृतीयथ्ं स वैश्वदेवो यच्चतुर्थथ्ं स प्राजापत्यः ८

'स' बलिप्रदाने प्रवृत्तः पुरुषः 'यत् प्रथमं निदधाति', 'सः' प्रथमो 'बलिः' 'पार्थिवः' पृथिवीदेवताको भवति। 'अथ' अनन्तरं 'यत् द्वितीयं' निदधाति, 'स' बलिः 'वायव्यः' वायुदेवताको भवति। 'यत् तृतीयं' निदधाति, 'सः' बलिः 'वैश्वदेवः' विश्वदेवदेवताको भवति। 'यत् चतुर्थं' निदधाति, 'सः' बलिः 'प्राजापत्यः' प्रजापतिदेवताको भवति ॥ ८ ॥

भा०:—बलि के उक्त ४ भागों में से प्रथम बलि पृथिवी देवी का, द्वितीय वायु देवता का, तृतीय विश्वेदेवा देवता का, चतुर्थ प्रजापति देवता का है ॥८॥

अथापरान् बलीन् हरेदुदधानस्य मध्यमस्य द्वारस्याब्दैवतः प्रथमोबलिर्भवत्योषधिवनस्पतिभ्योद्वितीय आकाशायतृतीयः ९

'अथ' तद्बलिचतुष्टयविधानानन्तरम् 'अस्य' बलिनिधातुः 'उदधानस्य' यस्मिन् गृहे परिचरणीया आपो रक्षिताः तस्य 'द्वारस्य' मध्यम्' मध्यतः अपरान्' त्रीन् 'बलीन्' 'हरेत्' सम्पादयेत्। तत्र, 'प्रथमः बलिः' 'अब्दैवतः' 'भवति'; 'द्वितीयः' 'ओषधिवनस्पतिभ्यः' ओषधिवनस्पतिदेवताकः भवति; 'तृतीयः' 'आकाशस्य भवति; नोषायेति सर्वत्र शेषणीयः ॥९॥

भा०:—इन चार बलि के स्थापन के पीछे यह बलि स्थापयिता (रखने वाला) के निज गृह के अर्थात् जिस गृह में "परिचरणीय" जल रक्षित रहता हो, उसी घर के द्वार के मध्य देश में अन्य तीन बलि रक्खे। उन में से प्रथम बलि जल देवता का, द्वितीय औषधि-वनस्पति का, और तृतीय आकाश का होता है ॥ ९ ॥

अथापरं बलिꣳ हरेच्छयनं वाधिवर्च्चं वा स कामाय वा बलिर्भवति मन्यवे वा ॥ १० ॥

'अथ' उक्त बलित्रयहरणानन्तरम् 'अपरम्' अपि एकं 'बलिम्' 'हरेत्' सम्पादयेत्। तस्य स्थानं निर्दिशति-'शयनं वा अधिवर्च्चं वा' शय्यागृहस्य मध्ये शयनस्थानं वा तद्गृहमध्ये एव अधिवर्च्चं मूत्रत्यागादिस्थानं वा अभिलक्ष्येति। देवतां विधत्ते-'सः' शयनस्थाने वा स्थापितो बलिः 'कामाय' भवति, अधिवर्च्चस्थाने वा स्थापितो बलिः 'मन्यवे' भवति ॥ १० ॥

भा०:—इन तीन बलियों के रखने के बाद शयन गृह में चाहे सोने ही की जगह हो, या मल मूत्र त्याग आदि स्थान ही में हो, एक और बलि रक्खे। उन में से शयन-स्थान वाला बलि 'काम देवता' का और अधिवर्च्च स्थान (मूत्र त्यागादि स्थान-जो सोने के घर में होता है) का बलि 'मन्यु देवता' का होता है ॥ १०॥

अथ सस्तूपꣳ स रक्षोजनेभ्यः ॥ ११ ॥

'अथ' अनन्तरं 'सस्तूपं' गृहावर्जनादिप्रक्षेपस्थान मभिलक्ष्य तत्रापि बलि सेकं प्रक्षिपेत्। 'सः' बलिः 'रक्षोजनेभ्यः' भवति ॥ ११ ॥

भा०:—उस के पश्चात्—कूड़ा आदि फेकने के स्थान में एक बलि देवे, यह बलि राक्षसों का होगा ॥ ११ ॥

अथैतद्बलिशेषमद्भिरभ्यासिच्यापसलवि दक्षिणानिनयेत् पितृभ्यो भवति ॥१२॥

'अथ' तदनन्तरम्, 'एतद्बलिशेषम्' अद्भिः अभ्यासिच्य जलसेकेन धौतप्रायं प्रकृत्य 'अपसलवि' अपसव्येन पितृतीर्थेन 'दक्षिणा' दक्षिणस्यां दिशि 'निनयेत्' विकिरेत्। स एव विकीर्णो बलिः 'पितृभ्यः' पितृदेवताकः 'भवति'१२

भा०:—उसके बाद पात्रस्थ बचे हुए अन्न को जल में धोकर हाथ की पैत्र अंगुली से दक्षिण की ओर फेके, वह बलि पितृगण का होगा ॥ १२ ॥

[इस से गोभिलाचार्य्य के मत से १० भूतबलि निर्णीत हुए। उन में से ४ अग्निगृह में, ३ जलगृह के द्वार पर, एक शय्या—स्थान में हो या मूत्र-त्याग स्थान में हो, शयन—के कक्ष (बग़ल) में एक, और कूड़ा रखने की जगह एवं शेष को मकान के दक्षिण भाग में। किन्तु साधारणतः उत्तरोत्तर जल की तीन रेखा करके उस के ऊपर क्रमोद्‌र्ध्व भाव से ४ करके १२ बारह एवं सब के उत्तर एक और सब के दक्षिण एक इस प्रकार १४ बलि * का व्यव-हार इन दिनों देखा जाता है]

आसीन एवाग्नौ जुहुयात् ॥ १३ ॥

आसीनः पितृभ्यो दद्यात् यथोपपादमितरान् ॥१४॥

'आसीनः' उपविष्टः 'एव' 'अग्नौ जुहुयात्' पूर्वोक्तप्रकार मथ हविष्यस्यान्नस्योद्धृत्येत्यादिकं वैश्वदेवहोमं कर्त्तव्यम्। 'पितृभ्यः' अपि अथैतद्बलिशेषमित्युक्तं बलिशेषम् 'आसीनः' एव 'दद्यात्'। 'इतरान्' अथापरानित्याद्युक्तान् उदधानादिबलीन् 'यथोपपाद' यथा यथा उपपद्यते तथातथैव तिष्ठन् प्रह्वश्चलन् वा दद्यात्। १३, १४ ॥

---

*(१)—जैसे——
०——ब्रह्मणेन मः १२ ०——कामाय नमः ८ ०——प्रजापतये नमः ४
०——वासुकये नमः ११ ०——आकाशाय नमः ७ ०—विश्वेभ्योदेवेभ्यो नमः ३
१३ रक्षोजनेभ्यः ० ०—पितृभ्यःस्वधा १४
०——इन्द्राय नमः १० ०—ओषधिवनस्पतिभ्यो नमः ६ ०——वायवे नमः २
०——मन्यवे नमः ९ ०——अद्भ्यो नमः ५ ०——पृथिव्यै नमः १

इस प्रकार १४ बलि की चाल वा प्रणाली यद्यपि अमूलक नहीं, परन्तु जिस कारण गोभिलाचार्य्य ने नहीं कहा है, इस लिये कौथुमी शाखा वाले द्विजों को ये १४ बलि कर्त्तव्य है ऐसा नहीं बोध होता है ॥ १२ ॥

भा०—पूर्वोक्त वैश्वदेव होम बैठकर ही करे; पितृगण को देने योग्य बलि-शेष भी (सू० १२) बैठ कर ही प्रदान करे। अन्य अर्थात् पूर्वोक्त जल गृहादि में देने योग्य बलि आदिक जिस २ प्रकार सम्पन्न हो सके उस २ प्रकार करे अर्थात् खड़े होकर, बैठ कर, निहुर कर, (जहां जैसा सुभीता हो वहां वैसा) करे ॥ १३, १४ ॥

स्वयन्त्वेवैतान् यावद्वसेद् बलीन् हरेत् ॥ १५ ॥

अपि वाऽन्यो ब्राह्मणः ॥ १६ ॥

दम्पती एव ॥ १७ ॥

'एतान्' 'बलीन्' 'यावद्' 'वसेत्' स्वगृहे, तावत् 'स्वयमेव' 'हरेत्'। 'अपिवा' पीड़ादौ 'अन्यः ब्राह्मणः' प्रतिनिधिरपि अत्र अधिकारी। अत्र कार्ये 'दम्पती' भार्या पतिश्च उभौ 'एव' तुल्याधिकारिणौ ॥१५,१७॥

भा०—ये बलि जिस समय मकान पर रहे उस समय स्वयं ही सम्पन्न करे अथवा (पीड़ा आदि होने के कारण स्वयं असमर्थ होने पर) अन्य ब्राह्मण द्वारा भी कराने से हो सकत है। इस कार्य्य के लिये स्त्री पुरुष दोनों ही समान अधिकारी हैं। इससे पत्नी भी बलिहरण कर सकती है *॥१५,१६,१७॥

इति गृहमेधिव्रतम् ॥ १८ ॥

'इति' एतत्खण्डोक्तं वैश्वदेवादिकं 'गृहमेधिव्रतम्' गृहमेधिनः गृहस्थस्य व्रतम् अवश्यं प्रतिपाल्य नियमितकार्य्यम् ॥ १८ ॥

भा०:—यह (इस खण्ड के आरम्भ से अब तक जो कुछ कहा गया है) गृहस्थों के लिये अवश्य कर्त्तव्य है ॥ १८ ॥

स्त्री ह सायं प्रातः पुमानिति ॥ १९ ॥

'सायं स्त्री' 'प्रातः पुमान्' कुर्यादिदं बलिहरणम् 'इति' एवं नियमः कस्यचिदाचार्यस्य अभिमतः। अत्राप्यस्य गोभिलस्य नासम्मतिः ॥ १९ ॥

भा०:—'प्रातः काल में गृहस्वामी ही और सायंकाल में उस की पत्नी ही बलिहरण करे' यह भी किसी २ आचार्य का मत है ॥ १९ ॥

सर्वस्य त्वेवान्नस्यैतान् बलीन् हरेत् पित्र्यस्य वा स्वस्त्ययनस्य वाऽर्थार्थस्य वा ॥ २० ॥

---

* पत्नी बिना वेद मन्त्र पढे बलिकर्म्म करे ऐसा आचार्य ने नहीं कहा। मनु में स्त्रियों को बिना मन्त्र पढे बलि हरण करे ऐसा लिखा है वह उन लोगों के लिये है जिन की मानव शाखा है ॥

'पित्र्यस्य वा' पितृकर्मार्थं शृतस्य, 'स्वस्त्ययनस्य वा' स्वस्त्ययनार्थं कल्याणार्थं ब्राह्मणभोजनाय शृतस्य वा, 'अर्थार्थस्य वा' अर्थः प्रयोजनं किं-अपि प्रयोजनं स्वभोजनादिकमुद्दिश्य पक्वस्य वा 'सर्वस्य एव' सर्वप्रकारस्यै-वान्नस्य 'एतान् बलीन् हरेत्' बलिहरणे इदमेवान्नं ग्राह्यमिति न नियमः ॥२०॥

भा०:—पितृ कार्य के लिये हो, या ब्राह्मण भोजनादि कल्याण कार्य के लिये हो या अपने ही पेट भरने के लिये हो, सब ही प्रकार के अन्न से बलि कार्य सम्पन्न कर सकते हैं ॥ २० ॥

यज्ञादेव निवर्त्तते ॥ २१ ॥

'यज्ञात्' ज्योतिष्टोमादिकं यज्ञमारभ्य (ल्यब्लोपे पञ्चमी) 'एव' 'निवर्त्तते' इतः कर्मणः पुरुषइति यावत्। यज्ञे दीक्षितस्य नास्त्यत्रातिकर्त्त-व्यतेति भावः ॥ २१ ॥

भा०:—ज्योतिष्टोमादि जिस किसी यज्ञ का क्यों न हो, अनुष्ठान आरम्भ करने पर फिर यह बलिकार्य करना उचित नहीं ॥ २१ ॥

यद्येकस्मिन् काले व्रीहियवौ प्रक्रियेतान्यतरस्य कृत्वा कृतं मन्येत ॥ २२ ॥

'यदि' 'एकस्मिन् काले' 'व्रीहियवौ' उभयविधे अन्ने प्रक्रियेताम् प्रस्तु-तीकृते स्याताम्, तर्हि 'अन्यतरस्य' व्रीहेर्यवस्य वा बलिहरणं 'कृत्वा' 'कृतम्' सम्पन्नं विधिविहितं बलिहरणमिति 'मन्येत' जानीयात् ॥ २२ ॥

भा०:—यदि एक ही समय 'तण्डुल' और "यव" दोनों ही प्रकार का अन्न प्रस्तुत हो, तो दोनों प्रकार के अन्न से बलि कार्य न करना चाहिये, चाहे दोनों अन्न में से किसी से हो एक ही से बलि कार्य हो सकता है ॥२२॥

यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद् बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २३ ॥

'यदि' 'एकस्मिन् काले' 'पुनः पुनः' भृशम् 'अन्नं पच्येत,' तर्हि प्रथमपक्वेनान्नेन द्वितीयाद्येर्वा 'सकृत्' एकवारमेव 'एतद्' 'बलितन्त्रं' 'कुर्वीत' ॥२३॥

भा०:—यदि एक ही समय दो, तीन, या इससे भी अधिक वार, अन्न पके तो प्रतिवार बलिकार्य नहीं करना किन्तु एक ही वार करे ॥ २३ ॥

यद्येकस्मिन् कुले बहुधाऽन्नं पच्येत गृहपतिमहानसा-देवैतद्बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २४ ॥

' यदि ' ' एकस्मिन् कुले ' बहुभ्रात्राद्यधिकृते एकवेश्मन्यपि पृथगन्नत्वाद् बहुमहानसेषु सत्सु बहुधा अन्नं पच्येत ', तर्हि ' गृहपति–महानसात् ' तेषां मध्ये यस्य गुरुत्वादेर्हेतोः स्वामित्वं तस्यैवैकस्य महानसात् पाकस्थानात् 'एव' एतद् बलितन्त्रं ' ' कुर्वीत ' न तु प्रतिमहानसात् ॥ २४ ॥

भा०ः—यदि एक ही मकान में एक वंश के अनेक व्यक्ति भिन्न २ पाक करके रहते हों, तो उन में से जो सब से श्रेष्ठ होने से घर के स्वामी या मालिक बने हों, वही पाकशाला से इस बलि कार्य को करें; प्रत्येक ' महानस ' (रसोई घर) से बलि कार्य न करना चाहिये ॥ २४ ॥

यस्य त्वेषामग्रतः सिध्येन्नियुक्तमग्नौ कृत्वाऽग्रं ब्राह्मणाय दत्त्वा भुञ्जीत॥२५॥

यस्यो जघन्यं भुञ्जीतैवेति ॥ २६ ॥

' एषाम् ' एकगृहस्थितानां पृथगन्नानां भ्रात्रादीनां मध्ये ' यस्य तु ' ' अग्रतः सिध्येत् ' अन्नमिति यावत्, सः किञ्चिदन्नम् ' अग्नौ 'नियुक्तं' 'कृत्वा' अनन्तरम् 'अग्रं' पक्वान्नस्याग्रभागं 'ब्राह्मणाय' अतिथये ' ' दत्त्वा ' ततः स्वयं ' भुञ्जीत ' । ' यस्य उ ' यस्य तु निष्पन्नाग्रपाकस्य ' जघन्यम् ' अरुचिकरं कदर्यमन्नं पाकादिदोषेण स्यात्, स तु ' भुञ्जीत एव ' न तेनान्नेनातिथिं सेवयेत् अपितु तदनन्तरकृतपाकएवातिथिं सत्कुर्यात् ॥ २५, २६ ॥

भा०ः—यदि एक घर में अनेक पाक वाले (लोग) रहते हों तो उनमें से जिस का भोजन सब से पहिले प्रस्तुत हो वही थोड़ा अन्न अग्नि में डाल कर पके अन्न में से अतिथि सेवा के पश्चात्, आप भोजन करे; परन्तु यदि वह अन्न पाकादि दोष से अग्राह्य (ख़राब) हो जावे तो उस से अतिथि सेवा न करके उसे स्वयं भोजन करे; और फिर से पाक करके अतिथि सेवा करे* ॥२५,२६॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥२७॥

'अथापि' अपरमपि किञ्चित् 'उदाहरन्ति' वदन्ति पूर्वाचार्याः, अत्रैवेति शेषः । तथाहि– ॥२७॥

भा०ः—पूर्वाचार्यगण इस " बलिहरण " के विषय में और भी कुछ विशेषता कहते हैं ॥ २७ ॥ जैसेः—

---

* इस से नरमेध अर्थात् अतिथि सेवा में जिस का जिस दिन पहिले पाक हो और अच्छा पाक हो उस दिन उसी को अतिथि सेवा करनी आवश्यक है, अन्य लोगों की इच्छा रहा करें या न करें ऐसा सूचित होता है २५,२६

एतस्यैव बलिहरणस्यान्ते कामं प्रब्रुवीत भवति हैवास्य २८

'एतस्यैव बलिहरणस्य' 'अन्ते' अनन्तरं कामं स्वाभिलाषं 'प्रब्रुवीत' प्रार्थयीत । 'अस्य' प्रार्थकस्य 'ह' निश्चयं 'भवति' प्रार्थितसिद्धिरिति ॥२८॥

किं कुर्वन् कामं प्रब्रुवीतेत्यत्रोत्तरमाशस्यबलिहरणं कुर्वन्निति, तदेव स्वमतं विशदयितुमाशस्यबलिहरणं विधत्ते—

भा०:—इस बलि के करने पश्चात् जैसी अपनी इच्छा हो " वर " मांगे (अर्थात् परमात्मा से मन ही मन) यह प्रार्थना निश्चय सिद्ध होगी ॥ २८ ॥

स्वयन्त्वेवाशस्यं बलिं हरेत् यवेभ्योऽध्याव्रीहिभ्यो व्रीहिभ्योऽध्यायवेभ्यः सत्वाशस्यो नाम बलिर्भवति ॥२९॥

दीर्घायुर्हैव भवति ॥३०॥

'आशस्यं बलिं हरेत्' एतेनैव कामप्रार्थनं सम्पन्नं भवेन्नाम । तञ्च बलिं 'स्वयम्' एव हरेत्, नात्र प्रतिनिधिः कार्यः । कीदृशश्च स आशस्यबलिरित्याह—'अध्याव्रीहिभ्यः' व्रीह्यन्नोत्पत्तितः पूर्वं 'यवेभ्यः' यवाधारोपरि, किञ्च 'अध्यायवेभ्यः' यवशस्योत्पत्तितः पूर्वं 'व्रीहिभ्यः' व्रीह्याधारोपरि बलिं हरेत् 'स तु' स एव 'आशस्यो नाम बलिर्भवति' । ' ह ' निश्चयम् 'एवं' एतेन बलिप्रदानेन 'दीर्घायुः भवति' पुरुष इति । २९. ३० ॥

भा०:—उक्त वर प्रार्थना करनी हो तो एक " आशस्य " नामक 'बलि' स्वयं (प्रतिनिधि द्वारा नहीं) प्रदान करे । जिस समय तक हेमन्त ऋतु का धान्य शस्य (खेत में लगा हुआ अनाज) प्रस्तुत न हो तब तक यव के अन्न होने के पूर्व और तत्पश्चात् जब तक यव शस्य प्रस्तुत न हो तब तक धान्यकी उत्पत्ति के निकट एक बलि होना चाहिये । इसी को आशस्य बलि कहते हैं । इस बलिप्रदान से अवश्य ही दीर्घायु लाभ होगा ॥ २९ ॥ ३० ॥

विश्राणिते फलीकरणानामाचामस्यापामिति बलिꣳहरेत् स रौद्रो भवति स रौद्रो भवति ॥३१॥ ४ ।

इदानीं तत्राशस्ये बलौ द्रव्यं विधत्ते—' फलीकरणानां ' वितुषीकृतानां धान्यानां यवानां वा 'विश्राणिते' पाकसिद्धे सति, 'आचामस्य, मण्डस्य 'अपां' मण्डद्रवीभूतानामिति यावत्, अंशं गृहीत्वा तेनैव 'बलिम्' आशस्यं 'हरेत्' । तत्रैव देवतां निर्दिशति,—' सः ' बलिः ' रौद्रः ' रुद्रदेवताको 'भवति' । एतेन 'रुद्राय नमः'—इत्येव तत्र मन्त्रः इत्यपि सूचितम् । अभ्यासः खण्डसमाप्ति सूचकः ३१

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके चतुर्थखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१, ४॥

भा०:—यह बलि, यव या भात के मावड से सम्पन्न करे और " रुद्राय नमः " इस मन्त्र को पढ़े ॥ ३१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥

अथ दर्शपौर्णमासयोः ॥१॥

इत्यधिकारसूत्रम् । प्रपाठकान्तमधिकृतं वेदितव्यम् ॥१॥

भा०:—अब यहां से दर्श और पौर्णमासयाग के विषय में उपदेश आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

सन्ध्यां पौर्णमासीमुपवसेदुत्तरामित्येके ॥२, ३ ॥

'सन्ध्यां पौर्णमासीं यस्मिन्नहनि प्रातःसन्ध्याकालतस्तत्पूर्वत एव वा पौर्णमासी आरब्धा, तत्रेयाहः 'उपवसेत्' । 'एके' आचार्याः 'उत्तराम्' अस्तमितोदयामुष्वैरुदयां वा पौर्णमासीमुपवसेत् 'इति' आहु; तत्रापि न दोष इत्याशयः २—३

भा०:—दर्श पौर्णमासयाग करना हो तो, उस २ दिन के पूर्व उपवास रहना चाहिये । उसी विषय में कहा जाता है कि सन्ध्या पौर्णमासी * लक्ष्य करके उस दिन उपवास करे; उत्तरा पौर्णमासी में अर्थात् अस्तमितोदया * वा उच्चैरुदया * में ही उपवास करना योग्य है । यह कतिपय आचार्य लोग कहते हैं । अर्थात् गोभिलाचार्य के अपने मत से जिस दिन सूर्योदय में पूर्णिमा हो, पश्चात् अपरान्ह में या रात्रि में प्रतिपत् (परिवा) हो, या अरुणोदय पर्यन्त ही पूर्णिमा हो, उसी दिन उपवास कर्त्तव्य है । किसी २ के मत से उत्तरा पौर्णमासी उपवास के योग्य है । अर्थात् जिस दिन चतुर्दशी होकर पीछे सूर्यास्त समय या उसके पीछे पूर्णिमा हो उस दिन उपवास करे ॥२, ३॥

अथ यदहश्चन्द्रमा न दृश्येत साममावास्याम् ॥४॥

उपवसेतेत्यनुवर्त्तते । एतेन गताध्वाऽमावास्या नोपास्येति फलिता ॥ ४ ॥

भा०:—जिस दिन चन्द्र दर्शन की कोई सम्भावना न हो, सूर्योदय ही से सम्पूर्ण अमावास्या वा पीछे प्रतिपत् हो, उसी दिन अमावास्या का उपवास होगा । इस से जिस दिन चतुर्दशी के पीछे अमावास्या हो जिस को 'गताध्वा' कहते हैं, उस में उपवास सुतरां निषिद्ध हुआ । फल तो पूर्णिमा और अमावास्या के उपवास में है, और दोनों ही में उदयातिथि ग्राह्य है, सुतरां पूर्वपक्ष याग की परिवा और अपर पक्षयाग के प्रतिपत्, सूर्योदय

---

* १० म और ११ एकादश सूत्र देखने से ये तीन भेद समझ पड़ेंगे ॥

में जिस दिन जो तिथि हो, वही ग्राह्य है ॥ ४ ॥

पक्षान्ताउपवस्तव्याः पक्षादयोऽभियष्टव्याः ॥ ५ ॥

यावज्जीवं सर्वेषामेव मासानां 'पक्षान्ताः' अमावास्याः पूर्णिमाश्च 'उपवस्तव्याः' तासु उपवासः कार्य्यः। किञ्च 'पक्षादयः' कृष्णानां शुक्लानाञ्च सर्वेषामेव पक्षाणामादिभूताः प्रतिपदः 'अभियष्टव्याः' तासु वक्ष्यमाणलक्षणोयागः कार्य्यः ॥५॥

भा०—जबतक जीवे, प्रतिमास के पक्षान्त में अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा में उपवास करना चाहिये एवं प्रतिमास के पक्षादि में अर्थात् शुक्ल और कृष्ण दोनों परिवा तिथि में याग करे ॥ ५ ॥

आमावास्येनहविषापूर्वपक्षमभियजतेपौर्णमास्येनापरपक्षम्६

अमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपदि यद्धविर्हूयते तेनैव 'आमावास्येन' हविषा' 'पूर्वपक्षम्' शुक्लपक्षं पञ्चदशाहं समग्रमेव 'अभि' व्याप्य 'यजते' यागं कृतमिति स्वीकृतं स्यात्। एवं 'पौर्णमास्ये' हविषापि 'अपरपक्षं' सर्वमिति ॥६

अत्र प्रसङ्गात्, उपवास्य-पौर्णमास्यामावास्यानिर्णयाय च पौर्णमास्यादि लक्षणं तद्भेदनिर्णयञ्चाह—

भा०—अमावास्या को उपवास करके शुक्ल पक्ष की परिवा को जो "याग" किया जायेगा, वही याग सम्पूर्ण शुक्ल पक्ष में व्याप्तयाग किया हुआ मानना चाहिये, और पूर्णिमा में उपवास करके कृष्णपक्ष की परिवा में जो याग किया जा येगा, उसी में समस्त कृष्णपक्ष व्यापी याग सम्पन्न हुआ—समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यः परमो विकर्षः सूर्याचन्द्रमसोः सा पौर्णमासी यः परमः सन्कर्षः सामावास्या ॥७॥

'सूर्याचन्द्रमसोः' ग्रहयोः मिथः 'यः' यस्यां तिथौ "परमः' अतिशयितः 'विकर्षः' विप्रकर्षः दूरतोऽवस्थानम् (उभयोर्मिथः सप्तमराशिस्थत्वात्), 'सा' तिथिः 'पौर्णमासी'; 'यः' यस्यां तु 'परमः' अतिशयितः 'सन्कर्षः' सन्निकर्षः सान्निध्यम्' (उभयोरेकराशिस्थत्वात्), 'सा' तिथिः 'अमावास्या' ॥७॥

भा०—सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों ग्रहों के जिस तिथि में परम विकर्ष हो अर्थात् परस्पर सप्तम राशि में स्थिति होने से अति दूर में अवस्थिति होती है, उसी तिथि को 'पौर्णमासी' कहते हैं। एवं जिस तिथि में इन दोनों ग्रहों के परम सन्कर्ष घटे (अत्यन्त निकट) उस तिथि को अमावास्या कहते हैं ॥७॥

यदहस्त्वेव चन्द्रमा न दृश्येतताममावास्याङ्कुर्वीत दृश्यमानेऽप्येकदा गताध्वा भवतीति ॥८, ९॥

'यदहः' यस्मिन् दिने 'तु' 'चन्द्रमा न दृश्येत एव', 'ताम्' तिथिम् 'अमावास्यां' 'कुर्वीत' स्वीकुर्वीत । 'एकदा' एकस्मिन् काले अहोरात्रयोः दृश्यमानेऽपि' चन्द्रमसि, सा 'गताध्वा' प्राप्तपथा अमावास्येति लब्धनामा 'भवति' 'इति' गतमिदं पौर्णमास्य वास्यालक्षणम् ॥ ८,९ ॥ पौर्णम सी त्रिविधेत्याह—

भा०—जिस दिन रात्रि में चन्द्रदर्शन की सम्भावना नहीं, उस को अमावास्या कहते हैं । एकवार केवल कुछ समय के लिये चन्द्रदर्शन की सम्भावना के स्थानमें भी अमावास्या स्वीकार किया जाय उस को 'गताध्वा' कहते हैं । अर्थात् आरब्धगति अमावास्या कहने से इस से जिस सूर्योदय काल में या उस के पीछे सन्ध्या के पीछे तक भी चतुर्दशी हो किन्तु रात्रि में अमावास्या हो उसी को " गताध्वा " कहते हैं, एवं जिस दिन सूर्योदय से अमावास्या, सम्पूर्ण रात्रि भी' अमावास्या वा कुछ रात्रि बीते पर भी प्रतिपदा आरम्भ हो; उस को भी अमावास्या ही कहते हैं । इस प्रकार दो प्रकार की अमावास्या निश्चित हुई ॥ ८, ९ ॥

त्रयः पौर्णमासीकाला भवन्ति सन्ध्या वास्तमितोदिता वोच्चैर्वाऽथ यदहः पूर्णोभवति ॥१०, ११॥

'अथ' 'यदहः' यस्मिन् दिने ' पूर्णः भवति ' चन्द्रमा, सैव पौर्णमासीति शेषः । 'पौर्णमासीकालाः' 'त्रयः भवन्ति ।' तथाहि—सन्ध्येत्यादि । सूर्योदयात् तत्पूर्वतो वा पूर्णिमा यत्र सा सन्ध्या—पौर्णमासी, सूर्यास्तमितेन साकमेव पूर्णोदयो दृश्येत चेत् साऽस्तमितोदिता—पौर्णमासी, सूर्यास्तात् उच्चैः ऊर्द्ध्वं रात्रौ पूर्णश्चेत् चन्द्रः, सैव उच्चैः—पौर्णमासीत्युक्तास्त्रयः कालाः ॥ १०, ११ ॥

भा०—जिस दिन रात्रि में पूर्ण चन्द्रमा की सम्भावना हो, उसी दिन पूर्णिमा होती है। यह पूर्णिमा तीन प्रकार की है । प्रथम, सन्ध्या पूर्णिमा, अर्थात् प्रातःसन्ध्या के पहिले आरम्भ, रात्रि में पूर्णिमा वा प्रतिपदा होती है । द्वितीय, अस्तमितोदया पूर्णिमा; यह सूर्यास्तकाल में प्रारब्ध सुतरां दिन में चतुर्दशी एवं रात्रि में और उस के पीछे दिन बहुतर—पूर्णिमा होती है। तृतीय, उच्चैः पूर्णिमा, अर्थात् सूर्यास्त के पीछे चतुर्दशी छोड़ कर पूर्णिमा जो पर दिन बहुल रात्रि तक रहेगी ॥ १०, ११ ॥

पृथगेवैतस्य ज्ञानस्याध्यायो भवत्यधीयीत वा तद्विद्भ्यो वा पर्वावगमयेत ॥१२॥

'एतस्य ज्ञानस्य' ग्रहनक्षत्रकालादिबोधस्य 'पृथगेव 'अध्यायः' पाठयोग्रन्थः 'भवति' ज्योतिःशास्त्रमिति। 'अधीयीत वा' तं ग्रन्थं समग्रं 'तद्विद्भ्यः' ज्योतिर्वेत्तृभ्यः; सम्पूर्णशास्त्राध्ययनेऽप्रवृत्तश्चेत् 'पर्व' पक्षान्तकालः तन्मात्रमेव 'अवगमयेत्' अवगतं स्यात्। अतोऽप्रकृतवर्णनाविस्तारोऽत्रास्माभिर्नक्रियतइति भावः॥१२

भा०—ग्रह नक्षत्रादि की स्थिति गत्यादि विषय विशेष जानने से,ये सब बातें भली भांति जानी जासकती हैं। यदि यह जानना हो तो इस के लिये भिन्न ज्योतिषशास्त्र है उसी को ज्योति विद् पण्डित के निकट पढ़े या सामान्यतः इस को कुछ २ जान लेने से भी होसकता है ॥१२॥

अथ यदहरुपवसथो भवति तदहः पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वैतदग्नेः स्थण्डिलं गोमयेन समन्तम्पर्युपलिम्पत्यथेध्मानुपकल्पयते खादिरान् वा पालाशान् वा खादिरपालाशालाभे विभीतकतिल्वकबाधकनीवनिम्बराजवृक्षशाल्मल्यरलुदधित्थकोविदारश्लेष्मातकवर्जꣳ सर्ववनस्पतीनामिध्मोयथार्थꣳस्याद्दिशाखागि प्रति लूनाः कुशाबर्हिरुपमूललूनाः पितृभ्यस्तेषामलाभेशूकतृणशरशीर्यबल्वजमुतवनलशुण्ठवर्जꣳसर्वतृणान्याज्यꣳस्थालीपाकीयान् ब्रीहीन् वा यवान् वा चरुस्थालीं मेक्षणꣳस्रुवमनुगुप्ता अप इति यानि चानुकल्पमुदाहरिष्यामो न तदहः प्रसृज्येत दूरादपि गृहानभ्येयादन्यतस्नुधनं क्रीणीयान्न विक्रीणीताबहुवादी स्यात् सत्यं विवदिपेदथापराह्ण एवाप्लुत्यौपवसथिकं दम्पती भुञ्जीयातां यदेनयोः काम्यꣳ स्यात् सर्पिर्मिश्रꣳ स्यात् कुशलेन ॥१३—२६॥ ५

'अथ' कालनिर्णयानन्तरमुपवासदिनकर्त्तव्यतां वदामइति। 'यदहः' यस्मिन् दिने 'उपवसथः' उपवासः कर्त्तव्यः 'भवति', 'तदहः' तस्मिन् दिने, अर्थतः पूर्वपक्षयागाय अमावास्यायामपरपक्षयागाय सन्ध्यासमीपौर्णमास्यां

च 'पूर्वाह्णे एव', प्रातराहुतिं हुत्वा' अग्निहोत्रीयप्रातर्होमं समाप्य इमानि कर्त्तव्यानि। तानि च यथा-'एतदग्नेः' प्रातराहुत्यादिसाधनाग्नेः 'स्थण्डिलं' 'गोमयेन' 'समन्तं पर्युपलिम्पति' समन्तात् सर्वत उपलिम्पेत् इत्येकम्। 'अथ' तदनन्तरम्। 'खादिरान् वा पालाशान् वा' 'इध्मान्' इन्धनकाष्ठान् 'उपकल्पयते' उपकल्पयेत उपस्थितान् कुर्वीतेति द्वितीयम्। तत्र 'खादिरपालाशालाभे' एतत्सूत्रपरिगणितद्भिभीतकादिकतिपयवृक्षेध्मवर्जं 'सर्ववनस्पतीनाम्' एव 'इध्मः' 'यथार्थं' अर्थः प्रयोजनं सिद्धं यथा स्यात् तथा कृत्वा ग्रहणीयः 'स्यात्'। 'विशाखानि' येभ्यः स्थानेभ्यः शाखा विश्लिष्टा भवन्ति, तानि सन्धिस्थानानि 'प्रति' लक्षीकृत्य 'लूनाः' 'छिन्नाः' 'कुशाः' कुशतृणानि 'बर्हिम्' बर्हिषे बर्हिरास्तरणादिदैवकार्य्यार्थ मुपकल्पयेतेति तृतीयम्। 'उपलूनमूलाः' मूलसमीपतश्छिन्नाः कुशाः कुशतृणानि 'पितृभ्यः' पितृकार्य्यार्थमुपकल्पयेतेति चतुर्थम्। तत्र 'तेषां' कुशानाम् 'अलाभे' शूकादिकवर्जम् 'सर्वतृणानि' एव ग्राह्याणि। 'आज्यं' घृतं सम्पाद्यमिति पञ्चमम्। 'स्थालीपाकीयान्' स्थालीपाके पक्तव्यान् 'व्रीहीन् वा यवान् वा' सम्पादयेदिति षष्ठम्। 'चरुस्थालीं' पाकपात्रं सम्पादनीय मिति सप्तमम्। 'मेक्षणं' दर्व्वीविशेषमासाद्यमित्यष्टमम्। 'स्रुवम्' आहुतिसाधनमासाद्यमिति नवमम्। 'अनगुप्ता अपः' पूर्वोक्त लक्षणाः आसादनीयाइति दशमम्। अन्यानि 'यानि च' 'अनुकल्पम्' पश्चादिहैव दर्शपौर्णमासयागकर्त्तव्यानि 'उदाहरिष्यामः' वक्ष्यामः, तान्यपि सर्वाणि सम्पाद्य स्थण्डिले उपस्थाप्यानि। अथ तद्दिनप्रतिपाद्यनियमानाह-'तदहः' तस्मिन्नहनि 'न प्रसृज्येत' गृहत्यागं न कुर्वीतेति प्रथमनियमः। यदि पूर्वं दूरगत स्तिष्ठेत् तर्हि तद्दिने तस्मात् 'दूरादपि' 'गृहान्' स्वकीयान् 'अभ्येयात्' आगच्छेदिति द्वितीयनियमः। 'अन्यतस्तु' वणिजादेः सकाशात् 'धनं' क्रय्यद्रव्यं 'क्रीणीयात्' 'न विक्रीणीयात्' इति तृतीयनियमः। 'अबहुवादी' मितभाषी 'स्यात्' इति चतुर्थनियमः। 'सत्यं' 'विवदिषेत' वक्तुमिच्छेत् "सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः" (ऐ०ब्रा० ३, १, ३,)-इति श्रुतिपरिचयान्निश्चयमेव सवतः सत्यपालने न विद्यते शक्तिर्मनुष्याणामिति यावच्छक्यं सत्यमेव वदेदिति पञ्चमनियमः। 'अथ' इध्मादिसम्पादनानन्तरम् 'अपराह्णे एव' 'दम्पती' यजमानस्तस्य पत्नी च उभावेव स्नानं प्रकृत्य 'औपवसथिकं' उपवासदिननियमसेव्य मन्नादिकं तथा च 'लवणं' मधु मांसं च क्षारांशो येन भुज्यते। उपवासे न भुञ्जीत, नोरुरात्रौ च किञ्चन'-इति गृह्यान्तरव चनानुगतमिति यावत् (उरुरात्रौ समधिकारात्रौ;

अधिकरात्रिभोजनेन पीड़ासम्भवस्तया च सत्यां परदिनकार्य्यव्याघातः स्यादित्य-भिप्रायः)। 'एतयोः' दम्पत्योः 'यत्' किञ्चन 'काम्यम्' ईप्सितं 'स्यात्' तदेव 'सर्पिर्मिश्रं' घृतसहितं 'कुशलेन' सन्तृप्तमनसा 'भुञ्जीयाताम्' ॥ १३—२६ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १। ५॥

भा०:—इसके अनन्तर उपवास दिन के कर्त्तव्य आदि उपदेश करते हैं। जिस दिन उपवास कर्त्तव्य हो, उस दिन अब कि सूर्योदय में पूर्णिमा हो और जिस दिन सूर्योदय में अमावास्या हो उस दिन पूर्वाह्ण में अग्निहोत्र की प्रातराहुति समाप्त कर ये सब कार्य करे अर्थात् प्रथम गोवर से अग्निगृह अच्छी प्रकार लीपे। दूसरे, खैर, या पलाश के इन्धन इकट्ठा करे। यदि खैर या पलाश के संग्रह करने में कठिनता हो तो बहेड़ा (विभीतक) लोध, बाधक (?) कदम्ब, निम्ब, राजवृक्ष, शाल्मली, अरलु, दधित्थ, इन ग्यारह को छोड़ कर अपर जो कोई काष्ठ हो यज्ञीय इन्धन हो सकता है। तृतीय, देव कार्य के लिये स्कन्ध से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे। चतुर्थ, पितृ कार्य के लिये मूल से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे। यदि कुशा संग्रह करने में कोई कठिनता हो तो, शुकतृण, शर, शीर्य, बल्वज, मुतव, (?) इन सात प्रकार के तृणों को छोड़ कर अपर जो कोई तृण हो यज्ञार्थ व्यवहृत हो सकता है। ५ म घृत. ६ ठे, स्थाली पाक में पाक के उपयुक्त कतिपय धान्य या यव, सप्तम, चरुस्थाली (पाकपात्रं), ८ म, मेक्षण; ९ म, स्रुव; १० म, रक्षित जल इन उक्त १० को एवं आगे जो दो कहे जायेंगे इन सब को सम्पादन कर अग्निगृह में उपस्थित करे। उस दिन वक्ष्यमाण कतिपय नियम भी प्रतिपालन करना चाहिये। प्रथम, गृहत्याग नहीं करना, दूसरे, दूरस्थ होने पर भी ऐसे अवसर में अपने घर को लौट आवे; तीसरे, अन्य व्यक्ति से वस्तु मोल तो ले, पर अपनी वस्तु बेचे नहीं; चतुर्थ, मितभाषी अर्थात् प्रयोजन से अधिक नहीं बोलना; पाचवें, सम्पूर्ण रूप से सत्य ही बोलने की इच्छा रखनी। अनन्तर स्त्री, पुरुष, दोनों ही अपराह्ण में स्नान कर उपवास दिन के नियमानुसार * जो इच्छा हो वही घी मिलाकर तृप्ति के साथ भोजन करे ॥१३—२६॥

गो० गृ० सू० के प्रथमाध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १, ५ ॥

मानतन्तव्यो होवाचाहुता वा एतस्य मानुष्याहुति-

* अर्थात् उपवास दिन लवण, मधु, मांस, अपर जिस २ वस्तु से शरीर में क्षारांश उत्पन्न हो, उस २ को नहीं खाना। इसे छोड़ सब ही वस्तु खा सकते हैं परन्तु अधिक (रात्रि में) नहीं खाना अर्थात् जिस से पचने में अजीर्ण होकर दूसरे कार्य्य करने में व्याघात हो॥

भवति य औपवसथिकं नाश्नात्यनीश्वरो ह क्षोधुको भवत्यकाम्यो जनानाम्पापवसीयसी हास्य प्रजा भवति य औपवसथिकं भुङ्क्त ईश्वरो ह भवत्यक्षोधुकः काम्यो जनानां वसीयसी हास्य प्रजा भवति तस्माद्यत् कामयेतौपवसथिकं भुञ्जीयातामध एवैतांꣳ रात्रिꣳ शयीयातान्तौ खलु जाग्रन्मिश्रावेवैतांꣳ रात्रिं विहरेयातामितिहासमिश्रेण वा केनचिद्वा जुगुप्सेयातान्त्वेवाव्रत्येभ्यः कर्म्मभ्यो न प्रवसन्नुपवसेदित्याहुः पत्नया व्रतं भवतीति ॥१–९॥

'मानतन्तव्यो' नामाचार्यः 'उवाच ह' निश्चयत्वेन कथितवान्। तथाहि आहुतेत्यादि पत्नया व्रतं भवतीत्यन्तम्। 'यः' यजमानः 'औपवसथिकम्' उवाच स–दिन–भोज्यं भोजनं 'न अश्नाति' निराहारएव तिष्ठति, 'एतस्य' 'मानुष्याहुतिः' मनुष्योपकारार्था आहुतिः यागक्रिया 'वै' निश्चयम् 'आहुता' निष्फला 'भवति' एवञ्च 'क्षोधुकः' क्षुद्युक्तः पुरुषः 'ह' निश्चयमेव अनीश्वरः' व्रतकर्मकरणे दौर्बल्यादसमर्थः 'भवति' किञ्च 'जनानाम्' लोकसाधारणानमपि 'अकाम्यः' अप्रियः भवति। अपिच 'ह' निश्चयमेव 'अस्य' क्षुद्युक्तस्य 'प्रजा' सन्ततिः 'पापवसीयसी' पापबुद्धिवशीभूता 'भवति'। पक्षान्तरे–'यः औपवसथिकं भुङ्क्ते' सः सुतराम् 'अक्षोधुकः' क्षुत्शून्यः 'ईश्वरः' व्रतकर्मकरणे सबलत्वात् 'भवति'। किञ्च 'जनानां' लोकसाधारणानामपि 'काम्यः' प्रियः भवति। अपिच 'ह' निश्चयमेव 'अस्य' क्षुत्शून्यस्य 'प्रजा' सन्ततिः 'वसीयसी' स्ववशभूता 'भवति'। तस्मात्' क्षुद्युक्तस्य यजमानस्य एवं निन्दाश्रवणात् 'औपवसथिकम्' उपवसथ–दिन–भोज्यं 'यत् कामयेत्' 'भुञ्जीयाताम्' दम्पतीति। 'एताम्' उपवासदिवसीयां 'रात्रिम्' 'अधः' नीचैः 'शयीयाताम्'। किञ्च 'तौ' दम्पती 'खलु' निश्चयम्। 'एतां रात्रिं' 'जाग्रन्मिश्रौ' अंशशो निद्रितौ अंशशो जागरितौ 'एव' 'विहरेयातां' यापयेताम्। तत्र जागरणोपायमभिगमयितुमाह–इतिहासमिश्रेण वा' इतिहासो वैदिकेतिवृत्तः "असद्वा इदमेक मग्र आसीदित्यादिः" तदालोचनामिश्रितेन स्वापेन रात्रिं यापयेताम्; 'वा' अथवा 'केनचित्' येनकेनाप्यभियुक्ततरजनेन साकं धर्मालोचनया जागरितौ रात्र्यंशं यापयेताम्, न

तु सर्वां रात्रिम् आद्यादयान्तां जहाविव सुप्तौ भवेतामिति भावः । 'तु' परन्तु जाग्रदवस्थायाम् 'अव्रत्येभ्यः कर्मभ्यः' स्त्रीसंसर्गादिभ्यः 'जुगुप्सेयातामेव' आत्मनो रक्षणं कुर्वीयातमेवेति । 'प्रवसन्' प्रवासं कुर्वन् 'नउपवसेत्' 'इति आहुः' केचनेति । परं तत्रापि गृहे पत्नीस्याश्चेत् तया 'पत्न्या' व्रतं भवति' न तु व्रतभङ्गाशङ्केति भावः । 'इति' खण्डारम्भादि एतत्पर्यन्तं समस्तमेव मानतन्तव्याचार्याभिमतमिति यावत्, ममाप्यभिमतमेवेति प्रदर्शितम् । १—९

भा०:—'मानतन्तव्य' नामक आचार्य कहते हैं कि "जो कोई यजमान उपवास दिन में उस दिन के नियमानुसार यदि भोजन न करे तो उस के मनुष्योपकारार्थ कियी हुयी सम्पूर्ण यागक्रियायें निष्फल होती हैं। पूर्व दिन निराहार रहने से परदिन में क्षुधा से व्याकुल होकर चञ्चलता के कारण यागक्रिया करने में अवश्य असमर्थ होगा । * और साधारण लोगों को भी अप्रिय होगा । एवं उसके पुत्र, पौत्रादि प्रजा भी पापबुद्धि (१) के वशी भूत होंगी (२) । तात्पर्य यह है कि क्षुधा रहित होकर अर्थात् भोजन करके कार्य करने से मन स्थिर रहने से यागक्रिया सब सम्पन्न होगी और साधारण लोगों को प्रिय भी होगा, एवं उस के पुत्र, पुत्रादि, प्रजा भी वश में रहेगी। इस लिये क्षुधातुर होकर कोई कार्य नहीं करना, स्त्री पुरुष दोनों ही (उपवास दिन के भोज्य वस्तु) यथेच्छ भोजन करे। उपवास के दिन रात्रि में खाट के ऊपर शयन न करें एवं वैदिक इतिहास की आलोचना में या अन्य लोगों के साथ जिस किसी प्रकार हो धर्म के विचार में रात्रि का आद्यन्त काल जाग कर व्यतीत करे अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि गाढ़ निद्रा में विभूत न रह कर, थोड़ा सोना, परन्तु स्त्री संसर्गादि व्रतनाशक कार्य से आपे को बचावे। प्रवास में रहने से उपवास नहीं रहना चाहिये या घर में स्थित पत्नी द्वारा भी यह व्रत हो सकता है ॥ १—९ ॥

यथा कामयेत तथा कुर्य्यात् ॥ १० ॥

उपवासदिने भोजनफलमभोजनफलञ्च द्वे एवोक्ते, तदत्र यथा कामयेत तथा कुर्यात्' अनीश्वरत्वादिकमिच्छेच्चेत् अभोजनएव स्यात्, अपीश्वरत्वादि कमिच्छेच्चेद् भोजनं कुर्वीतेव ॥ १० ॥

---

* क्षुधातुर चञ्चल चित्त व्यक्ति किसी काम के योग्य नहीं। (१)-अपने शरीर में कष्ट देखकर क्या कोई भाई प्रसन्न होंगे। (२) पितृ गण के दृष्टान्तानुसार निराहार रह कर कार्य करना चाहिये, ऐसा जान कर सन्तति गण उत्कट दुःकष्ट सहने के कारण दोनों ही नित्य कर्म के करने से अलग रहेंगे अर्थात् छोड़ देंगे, सुतरां वे लोग पितृगण के अवश एवं पाप वश हैं यह कौन नहीं कहेगा ॥

भा०:—भोजन करके याग क्रिया करने में क्या फल है एवं भूखे रह कर करने में क्या विशेषता है सो कहा गया—इन दोनों में से जैसी इच्छा हो करे ॥१०॥

एवमेवाहिताग्नेरप्युपवसथो भवति यच्चाम्नायो विदध्यात्॥११,१२

'एवं' कथितप्रकारः 'एव' आहिताग्नेः' अपि नित्याग्निहोत्रिणोऽपि 'उपवसथः' उपवासनियमः 'भवति', 'यच्च' उपवसथकार्यं स्थण्डिललिम्पनादिकम् 'आम्नायः' वेदः 'विदध्यात' विधातुं युज्यते, तदेवास्माभिः संस्मृत्य विहितमिति श्रद्धोत्पादनम् ॥ ११, १२ ॥

भा०:—उक्त उपवास के नियमादि सब "आहिताग्नि" के लिये भी हुए, इसी प्रकार वेद का विधि (हो सकता) है ॥ ११, १२ ॥

अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिꣳहुत्वाऽग्रेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणतोऽग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्य्य तेषां पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठन् सव्यस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्या ब्रह्माऽऽसनात् तृणमभिसङ्गृह्य दक्षिणापरमष्टमं देशं निरस्यति निरस्तः परावसुरिति ॥ १३, १४ ॥

'अथ' अनन्तरं तत्परदिने प्रतिपदि पूर्वाह्णे एव प्रातराहुतिं हुत्वा' 'अग्निम्' 'अग्रेण' सम्मुखीकृत्येति यावत् 'परिक्रम्य' प्रदक्षिणीकृत्य 'अग्नेः' 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां दिशि 'प्रागग्रान्' पूर्वस्यां दिशि कृताग्रभागान् 'दर्भान्' 'आस्तीर्य' पातयित्वा 'तेषां' पातितदर्भाणां 'पुरस्तात्' सम्मुखे 'प्रत्यङ्मुखः' पश्चिमाभिमुखः 'तिष्ठन्' स्थितिं कुर्वाणः 'सव्यस्य पाणे' वामहस्तस्य 'अङ्गुष्ठेन' 'उपकनिष्ठकया' अनामिकया 'अङ्गुल्या च' ब्रह्मासनात्' ब्रह्मानामस्त्विंज उपवेशनाय पातितात् दर्भपुञ्जात् 'तृणम्' एकम् 'उपसंगृह्य' गृहीत्वा 'दक्षिणापरं' दक्षिणस्याः अपरस्याः पश्चिमायाश्च दिशोरन्तरालं नैर्ऋतं कोणम् 'अष्टमं देशं' प्रति 'निरस्तः परावसुः'—इति मन्त्रेण निरस्यति' प्रक्षिपेत् ॥ इति तृणनिरसनम् ॥१३, १४॥

भा०:—अनन्तर उस के पर दिन में अर्थात् प्रतिपदा को पूर्वाह्ण ही में यथानियम प्रातराहुति होम समाप्त कर तदनन्तर अग्नि को अपने सम्मुख रख, प्रदक्षिण करके, अग्नि के दक्षिण में कई एक कुशा गिरावे, उन कुशाओं के अग्रभाग पूर्व दिशा में रहेंगे। उस डाले हुए कुशासन पर सम्मुख पश्चिमाभिमुख कर वाम हाथ की अङ्गुष्ठ और अनामिका अङ्गुली के द्वारा ब्रह्मा

के लिये डाले हुए कुशासन से एक तृण लेकर ' निरस्त परावसु ' इस मन्त्र से नैऋत कोण में फेके । इसी को ' तृणनिरसन ' कार्य कहते हैं ॥ १३, १४ ॥

अपउपस्पृश्याथ ब्रह्माऽऽसनउपविशत्यावसोः सदने सीदामीत्यग्निमभिमुखो वाग्यतः प्राञ्जलिरास्तआकर्म्मणः पर्यवसानाद्भाषेत यज्ञसंसिद्धिन्नायज्ञीयां वाचं वदेद्यज्ञीयां वाचं वदेद्वैष्णवीमृचं यजुर्वा जपेदपि वा नमोविष्णव इत्येवं ब्रूयात् ॥१५–२०॥

'अथ' अनन्तरम् 'ब्रह्मा' नाम सर्वकार्यपर्यवेक्षक ऋत्विक् 'अपः' उदकानि 'उपस्पृश्य' स्पृष्ट्वा 'आसने' तत्र, 'आवसोः सदने सीदामि' 'इति' मन्त्रमुच्चरन् 'उपविशति' उपविशेत् । 'आ कर्मणः पर्यवसानात्' कर्म्मान्तं यावत् 'अग्निम् अभिमुखः' सुतरामुत्तरास्यः, 'वाग्यतः' नियमितवाक् यज्ञीयवचनातिरिक्तवाक् शून्यः, 'प्राञ्जलिः' कृताञ्जलिपुटः सन् ' आस्ते ' आसीत । यदुक्तं वाग्यतइति तदेव स्फुटयति,—'यज्ञसंसिद्धिं' यज्ञानुकुलां वाणीं 'भाषेत' वदेत्, 'अयज्ञीयां वाचं न वदेत्', 'यदि' भ्रमादपि 'अयज्ञीयां वाचं वदेत्', 'वैष्णवीम्' विष्णुदेवताकां यां कामपि 'ऋचं' 'यजुर्वा' 'जपेत्' पठेत्, 'अपिवा' अथवा 'नमोविष्णवे', 'इति' एतदेव 'ब्रूयात्' ॥ १५–२० ॥

भा०:—अनन्तर ब्रह्मा नामक सब कार्य के निरीक्षक एक प्रधान पुरुष जल से हाथ पांव धोकर उस डाले हुए कुशासन पर अग्नि की ओर सम्मुख करके सुतरां उत्तर मुख हो दोनों हाथ जोड़ " आवसोः सदने सीदामि " अर्थात् यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त इसी स्थान में रहूंगा ऐसा कह कर नियमित वाक्य मात्र बोलने को मन ही मन दृढ़ प्रतिज्ञ होकर कार्य समाप्ति पर्यन्त बैठे । यज्ञ–सम्बन्ध में जो कुछ उपदेश देने की बात होगी उसे ही कहे, अन्यान्य कोई वाक्य नहीं बोले, यदि भ्रम से कोई दूसरी बात बोले तो उसी समय विष्णु देवता की स्मारिका किसी ऋचा वा यजुर्वेद का मन्त्र पाठ करे; किम्वा 'नमो विष्णवे' इतना कहने से भी निर्वाह होगा ॥ १५–२०॥

यदु वा उभयं चिकीर्षेद्धौत्रञ्चैव ब्रह्मत्वञ्चैतेनैव कल्पेन छत्रं वोत्तरासङ्गं वोदकमण्डलुं दर्भवटुं वा ब्रह्मासने निधाय तेनैव प्रत्याव्रज्याथान्यच्चेष्टेत् ॥२१–६॥

'यदि उ वै' यदि 'हौत्रं च ब्रह्मत्वञ्च' उभयमेव एकः 'चिकीर्षेत् कर्तुमि-

च्छेत्, तर्हि 'एतेनैव कल्पेन' पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण 'छत्रं', 'वा' अथवा 'उत्तरासङ्ग' उत्तरीयकम्, 'वा' अथवा 'उदकमण्डलुं' उदकपूर्णं कमण्डलुं 'वा' अथवा 'दर्भवटुं' कुशानिर्मितं ब्राह्मणं ब्रह्मासने' तत्रैव 'निधाय' संस्थाप्य 'तेनैव' पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण प्रदक्षिणादिना 'प्रत्यावर्त्य' प्रत्यावृत्य 'अथ' तदनन्तरम् 'अन्यत्' इह दर्शपौर्णमासे चरुप्रकरणादिकं यत् किमपि विशेषकार्यजातमग्रे वक्ष्यति, तदतिरिक्तम्, अग्निहोत्रप्रकरणे कथितं भूमिजपादिकं सर्वमविशेषेण 'चेष्टेत' कुर्वीत ॥२१॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके षष्ठखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१-६॥

भा०:—यदि होतृ-कार्य और ब्रह्मत्व इन दोनों क्रियाओं को एक ही व्यक्ति करने की इच्छा करे तो ब्रह्मा के लिये उसी डाले हुए आसन पर उसी प्रकार छत्र या उत्तरीय या जल पूर्ण कमण्डलु या कुशा निर्मित ब्राह्मण स्थापन करके उसी प्रकार प्रदक्षिणा आदि पूर्वक स्वीय होतृ-के आसन पर वापस आवे। अनन्तर इसके अग्नि कार्य मात्र ही साधारण कार्य सब अर्थात् अग्निहोत्र प्रकरणोक्त भूमि जपादि सब ही करे। (चरु-पाकादि जो कुछ इस में विशेष कर्त्तव्य है, उस विषय में विशेष विधि पीछे कहा जावेगा ॥२१॥
गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथमाध्याय के छठे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ।१।६॥



अथोलूखलमुसले प्रक्षाल्य शूर्पञ्च पश्चादग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्योपसादयति ॥१॥

'अथ' तदनन्तरम् 'उलूखलमुसले' 'शूर्पञ्च' 'प्रक्षाल्य' 'अग्नेः पश्चात्' 'प्रागग्रान् दर्भान्' आस्तीर्य तदुपरि प्रक्षालितानि तानि 'उपसादयति' उपस्थापयति ॥१॥

भा०—तदनन्तर उलूखल, मूसल, और शूर्प अच्छे प्रकार जल से धोकर अग्नि के पीछे भाग में कई एक प्रागग्र कुशा डाल कर उसके ऊपर रक्खे ॥१॥

अथ हविर्निर्वपति व्रीहीन् वा यवान् वा कꣳसेन वा चरुस्थाल्या वामुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामीति देवतानामादेशꣳसकृद् द्विस्तूष्णीम् ॥२-३॥

'अथ' तदन्तरमुपसादिते तत्रोलखले 'हविः' हविषे हविर्योग्यान् 'व्रीहीन् वा यवान् वा' 'निर्वपति' निर्वपेत् प्रक्षिपेत्। 'कंसेन वा चरुस्थाल्या वा' तत्र

प्रक्षेपः कर्त्तव्यः । 'अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामि' अत्रामुष्मै–पद–श्रुतेः यत्र यद्देवताकं हविः कार्यं तत्र तथैवोल्लेखः, अग्न्यर्थहविर्निर्वापे 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इत्यादि यथा, 'इति' अनेन मन्त्रेण 'देवतानामादेशं' देवतानामोल्लेखं 'सकृत्' एकवारं, 'द्विः' द्विवारं 'तूष्णीम्' मन्त्रशून्यं देवतानामोच्चारणरहितमपि निर्वपतीत्यनेन सम्बन्धः । इति निर्वापः ॥२, ३॥

भा०–तदनन्तर हविः पाकके उपयोगी करने के लिये चाहे धान्य हो या यव, कांसे के वर्त्तन से या चरुस्थाली से फेंके (प्रक्षेप करे) जितना धान्य या हवि के योग्य करना हो वह तीन ही वार में प्रक्षिप्त करदे उन में से एकवार 'अमुक देवता के सेवने योग्य करने के लिये धान्य या यव तुम को इस उलूखल में डालता हूं'–इस मन्त्र से, अपर दोवार विना मन्त्र के डाले ॥२–३॥

अथ पश्चात् प्राङ्मुखोऽवहन्तुमुपक्रमते दक्षिणोत्तराभ्यां पाणिभ्यान्त्रिः फलीकृताᳩंस्तण्डुलाᳩंस्त्रिर्देवेभ्यः प्रक्षालयेदित्याहुर्द्विर्मनुष्येभ्यः सकृत्पितृभ्यइति ॥४ । ५॥

'अथ' निर्वापानन्तरं 'पश्चात्' उलूखलस्य 'प्राङ्मुखः' तिष्ठन् 'दक्षिणोत्तराभ्याम्' उभाभ्यामेव 'पाणिभ्याम्, 'अवहन्तुम् उपक्रमते' । तत्र 'त्रिः' त्रिवारं 'फलीकृतान्' कण्डितान् 'तण्डुलान्' धान्यानां यवानां वा गृहीत्वा, देवेभ्यः देवकार्यार्थं 'त्रिः' त्रिवारम्, 'मनुष्येभ्यः' ब्राह्मणभोजनाद्यर्थं द्विः द्विवारम्, 'पितृभ्यः' पितृकार्यार्थं 'सकृत्' एकवारमेव 'प्रक्षालयेत्', 'इति' एवम् 'आहुः' पूर्वतनाः । इति अवहननम् ॥४–५॥

भा०–अनन्तर उलूखल के पीछे पूर्वाभिमुख खड़े होकर दोनों हाथ में मूसल पकड़ कर कूटे । कूटने से–तुष–विमुक्त धान्य या यव के तण्डुल * आदि तीनवार साफ कूट कर देवकार्य के लिये, ब्राह्मण भोजनादि मनुष्यकार्य के लिये दोवार, एवं पितृकार्य के लिये एक ही वार जल में धो लेवे । यही प्राचीन आचार्यों की सम्मति है ॥ ४५ ॥

पवित्रान्तर्हिताᳩंस्तण्डुलानावपेत्कुशलशृतमिव स्थालीपाकᳩंश्रपयेत्प्रदक्षिणमुदायुवञ्छृतमभिघार्य्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥६–८॥

* तुष आदि (भूसा वा छिलका) आवरण रहित शस्य (धान्य) मात्र का तण्डल कहते हैं ॥

'तण्डुलान्' तान् पवित्रान्तर्हितान्' प्रक्षालनार्थं पवित्रस्य कुशनिर्मित-बहुच्छिद्रपात्रविशेषस्य मध्ये स्थापितान् ततएव 'आ वपेत्' स्थाल्यामिति शेषः । 'प्रदक्षिणं' यथास्यात्तथा 'उदायुवन्' मेक्षणेन मिश्री कुर्वन् 'कुशलशृतम् इव' पाकपटुना पक्वमिव 'स्थालीपाकं' तं 'श्रपयेत्'। श्रपणानन्तरं तत्र पक्वेऽन्ने 'घृतमभिघार्य' घृताभि-घारणं प्रकृत्य अग्नेः 'उदक्' उत्तरस्याम् 'उद्वास्य, संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' पुनरपि तत्र घृतपातं कुर्यात्। इति निष्पन्नः स्थालीपाकः ॥६-८॥

भा०—कुश का बना "पवित्र" (कुश का बहुत छिद्रवाला) (नामसे प्रसिद्ध) में प्रक्षालनार्थ गृहीत उस तण्डुल को, उस में से लेकर स्थाली में डाले। पाक समय में "मेक्षण" द्वारा मिलाकर ऊपर नीचे इस प्रकार पाक करे। यह पाक एक प्रवीण पाक कर्त्ता के हाथ के बने हुए की नाईं होना आवश्यक है। पाक प्रस्तुत होने पर घृत का ढार दे अग्नि के उत्तर में उतार कर पुनः उस में भागानुसार घृत मिलावे ॥ ६ । ७ । ८ ॥

अग्निमुपसमाधाय कुशैः समन्तं परिस्तृणुयात् पुरस्ताद्दक्षिणतउत्तरतः पश्चादिति सर्वतस्त्रिवृतम्पञ्चवृतं वा बहुलमयुग्मसंहतम्प्रागग्रैरग्रैर्मूलानिच्छादयन् पश्चाद्वास्तीर्य्य दक्षिणतः प्राञ्चम्प्रकर्षति तथोत्तरेण दक्षिणोत्तराण्यग्राणि कुर्य्यादेष परिस्तरणन्यायः सर्वैस्वाहुतिमत्सु ॥९-१५॥

वक्ष्यत्यनुपदं बर्हिषि स्थालीपाकेत्यादि (१९ सू०), ततश्च स्थालीपाकोत्तरणात् प्रागेव परिस्तरणं कर्त्तव्यमिति तत्प्रकार उच्यते;—'अग्निम्' 'उप समाधाय' समिद्भिः प्रज्वाल्य, तस्य प्रज्वलितस्याग्नेः 'समन्तं' समन्तात् सर्वतः सर्वासु दिक्षु 'कुशैः' कुशासङ्घैः 'परिस्तृणुयात्' परिस्तरणमाच्छादनं कुर्वीत तत्र क्रममाह—'पुरस्तात्' पूर्वस्यां, ततः 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां, ततः 'उत्तरतः' उत्तरस्यां ततः 'पश्चात् पश्चिमस्याम् 'इति' एवम् । तत्राप्यन्यदप्याह 'सर्वतः' सर्वास्वेव दिक्षु 'त्रिवृतं पञ्चवृतं वा' परिस्तरणं कार्यम् । तत्रापि 'बहुलं' बहुतृणं, परं तृणानां परस्परयोगेन युग्मत्वं संहतत्वं वा यथा न स्यात् । द्वयोर्योगे युग्मत्वं त्र्यादियोगे तु संहत्व मिति विवेकः । किञ्च 'प्रागग्रैः' पूर्वदिङ्मुखैर्दर्भैः 'अग्रैः' अग्रभागैः प्रथमस्तृतानां कुशानां 'मूलानि छादयन्' एवमुत्तरत्रापि । 'वा' अथवा अग्रैर्मूलाच्छादनं न कुर्याच्चेत् 'पश्चात्' पश्चिमस्यां प्रथमतः 'आस्तीर्य' 'दक्षिणतः' 'तथा उत्तरेण' प्राञ्चं'

पूर्वदिग्भागं 'प्रकर्षति' प्रकृष्टं कर्षेत् आकर्षणपूर्वकं मिश्रयेत। तत्र तथा कर्षणाय 'दक्षिणोत्तराणि' दक्षिणाभिमुखानि उत्तराभिमुखानि च 'अग्राणि' कुशानां 'कुर्यात्'। 'एषः' उभयविधएव परिस्तरणन्यायः' सर्वेषु आहुतिमत्सु अनुष्ठानेषु ज्ञेयः ॥ ९–१५ ॥

भा०—उन्नीसवें सूत्र में स्थालीपाक उत्तरणान्तर आज्यसंस्कार कहा जावेगा इसलिये स्थालीपाक उतारने के पूर्व ही "परिस्तरण" करना चाहिये। जैसे—समित् प्रक्षेप आदि द्वारा अग्नि जलाकर उक्त अग्नि के चारो ओर कुशों से ढाक देवे। पहिले पूर्व दिशा में, अनन्तर दक्षिण दिशा में, उस के पश्चात् उत्तर दिशा में, अन्त में पश्चिम दिशा में, सब ही ओर तीन या पांच बार कुशा से आच्छादन करे किन्तु ऐसी युक्ति से आच्छादन करे कि जिसमें दो, तीन, या उससे अधिक कुशा एक स्थान में मिल न जावें और सबही कुशाओं का अग्रभाग पूर्व की ओर रहे और उन्हीं कुशाओं के अग्रभाग के द्वारा उन का मूल (जड़) आच्छादित रहे या (यदि कुश थोड़े हों) पश्चिम दिशा को छोड़ कर दक्षिणाग्र कुशा के द्वारा दक्षिण से एवं उत्तराग्र कुशा के द्वारा उत्तर से पूर्व की ओर आकर्षित होगा अर्थात् वृत्त या चतुष्कोण रूप नहीं आच्छादित कर त्रिकोणरूप आच्छादित करने से भी हो सकता है। इसी को "परिस्तरण" कहते हैं; यह सब प्रकार के आहुति विशिष्ट अनुष्ठानों में व्यवहृत होगा। ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५ ॥

परिधीनप्येके कुर्वन्ति शामीलान् पार्णान् वा । १६

'एके' आचार्याः 'शामीलान्' शमीकाष्ठीयान् 'वा' 'पार्णान्' पलाशकाष्ठीयान् 'परिधीन्' कर्मप्रदीपोक्तलक्षणान् सीमरूपान् कुर्वन्ति'। १६

भा०—कोई २ आचार्य शमीकाष्ठ की, या पलाश काष्ठ की परिधि अर्थात् सीमास्थापन भी करते हैं ॥ १६ ॥

उत्तरतोऽपाम्पूर्णः स्रुवः प्रणीता भावेन वा स्यादित्येके।१७,१८

'उत्तरतः' अग्नेरिति यावत्, 'अपां पूर्णः स्रुवः' 'प्रणीता' एतत् संज्ञको भवेत्। 'भावे' पूर्वोक्तचमसपात्रस्य 'न वा स्यात्' स्रुवः प्रणीता 'इति' एवम् 'एके' आचार्या वदन्ति तदपि न विरुद्धम् ॥ १७–१८ ॥

भा०—अग्नि के उत्तर में जल—पूर्ण स्रुव की रक्षा करे उस को प्रणीता कहते हैं। कोई २ आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त चमस पात्र में जल रक्षित रखने से, स्रुवा में जल स्थापन नहीं करने से भी हानि नहीं ॥१७,१८॥

बर्हिषि स्थालीपाकमासाद्येध्ममभ्याधायाज्यꣳसꣳस्कुरुते सर्पिस्तैलन्दधि पयो यवागूं वा । १९, २० ॥

'बर्हिषि' आस्तृते तत्र कुशासमूहे 'स्थालीपाकम्' स्थाल्यां पक्वं चरुं तत्सहितस्थालीपात्रमिह ग्राह्यम् 'आसाद्य' संस्थाप्य, अथाज्यसंस्कारः ;– 'इध्मम्' इन्धनकाष्ठं पूर्वोक्तं पालाशाद्यन्यतमम् 'अभ्याधाय' अग्नौ अभितः प्रदाय पुनरपि सुप्रज्वाल्याग्नि–मिति यावत् । ततस्तत्र प्रज्वलितेऽग्नौ 'आज्यम्' अनुपदवक्ष्यमाणं सर्पिरादीनामन्यतमं 'संस्कुरुते' संस्कुर्वीत । तथा च'सर्पिः' घृतं 'तैलं' तिलस्नेहं 'दधि' 'पयः' दुग्धं 'यवागूं वा । १९, २० ॥

भा०–उस डाले हुए कुशाओं पर स्थालीपाक स्थापन करके पुनः इन्धन डालकर अग्नि जला कर उस में आज्यसंस्कार करे । आज्य–इस स्थल में घृत तैल,दधि,दुग्ध, या–यवागू इन पांच वस्तुओंमें से जो कोई वस्तु मिले उसी से हो सकता है ॥ १९ ॥ २० ॥

ततश्च पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं कर्त्तव्यमिति प्रथमं पवित्रनिर्माणमुच्यते;

ततएव बर्हिषः प्रादेशमात्रे पवित्रे कुरुते ओषधिमन्तर्धाय च्छिनत्ति न नखेन पवित्रे स्थो वैष्णव्यावित्यैने अद्भिरनुमार्ष्टि विष्णोर्मनसा पूते स्थ इति । २१–२३ ॥

'ततः' पूर्वोसादितात् 'बर्हिषः एव' 'प्रादेशमात्रे' प्रादेशप्रमाणे 'पवित्रे' 'कुरुते' कुर्वीत । कथमित्याकाङ्क्षायां वदति.–ओषधिम्' व्रीह्यादिकम् 'अन्तर्धाय' मध्ये स्थाप्य "पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ"–' इति' अनेन मन्त्रेण 'छिनत्ति' छिन्द्यात् 'न नखेन' । अथ तदनन्तरम् 'एते' पवित्रे 'अद्भिः' "विष्णोर्मनसा पूतेस्थः" –'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमार्ष्टि' अनुमृज्यात् । २१–२३ ॥ निर्मिताभ्याञ्च ताभ्यां पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं विधत्ते;–

भा०–अनन्तर उसी पूर्व संगृहीत कुशाओं के बीच से प्रादेश प्रमाण (बालिश्तभर) दो कुश ले कर 'तुम विष्णुदेवता के हो सुतरां पवित्र हो' इस मन्त्र का पाठ करते ओषधि के बीचोबीच छेदन करे । उसके अनन्तर, 'विष्णु देवता के अभिप्राय से ही तुम पवित्र हो' इस मन्त्र का पाठ करके उस को जल में धोवे ॥ २१–२३ ॥

सम्पूयोत्पुनात्युदगग्राभ्याम्पवित्राभ्यामङ्गुष्ठाभ्याञ्चो-

पकनिष्ठकाभ्याञ्चाङ्गुलिभ्यामभिसंगृह्य प्राक्शस्त्रिरुत्पुनाति देवस्त्वासवितोत्पुनात्वच्छिद्रेणपवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिरिति सकृद् यजुषा द्विस्तूष्णीम् ॥ २४,२५ ॥

'सम्पूय' ते पवित्रे पूर्वोक्तप्रकारेण शोधयित्वा शोधिताभ्यां ताभ्यामेव 'पवित्राभ्याम्' कीदृशाभ्याम् उदगग्राभ्याम् 'उत्पुनाति' आज्यमित्याशयः। आज्ये पतितं तृणादिकं ततउद्धृत्य अग्नौ निक्षिपेदित्यर्थः। कथङ्कृत्वा ? कतिवारम् ? केनै मन्त्रेणेत्याकाङ्क्षात्रयं पूरयति;– 'अङ्गुष्ठाभ्याम्' 'उपकनिष्ठिकाभ्याम्' अनामिकाभ्यां 'च' 'अङ्गुलिभ्याम्' 'अभि' अभितः 'संगृह्य' 'प्राक्शः' प्राग्गतं यथा स्यात्तथा, 'त्रिः' त्रिवारम् 'उत्पुनाति'। तत्र त्रिषु वारेषु 'सकृत्' एकवारं 'देवस्त्वेत्यादिना' 'यजुषा' यजूरूपमन्त्रेण 'द्विः' द्विवारं 'तूष्णीम्' अमन्त्रक मेवेत्याज्योत्पवनम् ॥ २४।२५ ॥

भा०–उक्त प्रकार से दोनों "पवित्र" को शोध कर उत्तराग्र करके उसके द्वारा आज्योत्पवन करे अर्थात् आज्य में पतित तृण आदि बाहर कर पूर्व की ओर फेंक देवे "आज्योत्पवन" काल में दोनों "पवित्र" को अङ्गुष्ठ और अनामिका अंगुलि से पकड़े एवं एकवार 'देवस्त्वा' इत्यादि 'यजू' रूप मन्त्र पाठ करे, पुनः दोवार विना मन्त्र उत्पवन करना चाहिये ॥ २४, २५ ॥

अथैने अद्भिरभ्युक्ष्याग्नावप्युत्सृजेदथैतदाज्यमधिश्रित्योदगुद्वासयेदेवमाज्यस्य सꣳस्करणकल्पो भवतीति॥२६–२८॥

'अथ' तदाज्योत्पवनानन्तरम् 'एने' पवित्रे 'अद्भिः अभ्युक्ष्य' जलधौते प्रकृत्य 'अग्नौ अपि' 'उत्सृजेत्' क्षिपेत्। अपि शब्दबलादन्यत्र क्षेपणेऽपि दोषाभावः। 'अथ' अनन्तरम् 'आज्यं' तदेव 'अधिश्रित्य' ज्वलदङ्गारेषु कृत्वैव 'उदक्' अग्नेरुत्तरस्यां दिशि 'उद्वासयेत्' स्थापयेत्। 'आज्यस्य संस्करणकल्पः' 'एवम्' एव 'भवति' ॥ २६–२८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके सप्तमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम्। १,७।

भा०–आज्योत्पवन के पीछे इन दो "पवित्रों" को जलमें धो कर अग्नि में फेंक दे। अनन्तर अग्नि के उत्तर में जलते हुए कई एक अंगारे पर, "पूत-आज्यपात्र" रक्खे। आज्यसंस्कार इत्यादि करे ॥ २६, २७, २८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथमाध्याय के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १,७॥

पूर्वामाज्यमपरः स्थालीपाकः ॥ १ ॥

अग्नेरुत्तरस्मिन्नेव 'पूर्वं' पुरस्तात्स्थानम् 'आज्यम्' आज्यसहितमाज्यपात्रं भवेत्, किञ्च तत्रैव 'अपरः' तत्पश्चात्स्थानः 'स्थालीपाकः' पक्वचरुसहितस्थाल्याधारः भवेत् ॥ १ ॥

भा०—चरुस्थाली और आज्यपात्र इन दोनों के अग्नि के उत्तर में स्थापन करने के लिये व्यवस्था हुई है। (१ । ४ । ५, १ । ७ । २६—२८) उन में पहिले आज्यपात्र रहेगा, और उस के पीछे चरुस्थाली रक्खे ॥ १५ ॥

पर्युक्ष्य स्थालीपाक आज्यमानीय मेक्षणेनोपघातꣳहोतुमेवोपक्रमते ॥ २ ॥

'पर्युक्ष्य' अदितेऽनुमन्यस्वेत्यादिना पर्युक्षणान्तं प्रकृत्य, 'स्थालीपाके' चरौ 'आज्यं' सर्पिरादीनामन्यतमम् 'आनीय' क्षिप्त्वा 'मेक्षणेन' दर्वीविशेषेण 'उपघातम्' उपस्तरणाभिघारणरहितं होमं 'होतुम्' 'उपक्रमते' प्रवर्त्तेत। स्रुचि स्रुवेण प्रथममाज्यग्रहणं, ततश्चरुग्रहणं, ततः पुनराज्यग्रहणम् चेत् उपस्तीर्णाभिघारितं तदुच्यते होमीयम्; तत्र चरुग्रहणात् पूर्वमाज्यग्रहणमुपस्तरणमुच्यते, परस्ताच्चाभिघारणमिति। यत्र तु उपस्तरणमभिघारणञ्च न भवतः, स एव होम उपघात इति विवेकः ॥ २ ॥

भा०—अग्नि कार्यमात्र में अनुष्ठेय पूर्वोक्त 'अदितेऽनुमन्यस्व' प्रभृति 'पर्युक्षण' के अन्त में कार्य सब (१ । ३ । १—५) सम्पन्न होने पर स्थालीपाक में आज्य प्रक्षेप कर 'उपघात' होम * करने के लिये उपक्रम करे ॥ २ ॥

यद्युवा उपस्तीर्णाभिघारितं जुहुषेदाज्यभागावेव प्रथमौ जुहुयाच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा पञ्चावत्तन्तु भृगूणामग्नये स्वाहेत्युत्तरतः सोमाय स्वाहेति दक्षिणतः प्राक्शौजुहुयात् ३,४

'यदि उवा' यदैव 'उपस्तीर्णाभिघारितं' 'जुहुषेत्' होतुमिच्छेत्, तदेव 'प्रथमौ' उपघातनामोपक्रमरूपहोमसम्पादनोपयोगिनौ 'आज्यभागौ' उपर्युपरि होमद्वयनिष्पादकौ 'जुहुयात' अग्नाविति। एतावेव होमौ उपघातसञ्ज्ञौ प्रकृतहोमस्योपस्तीर्णाभिघारितस्योपोद्घातरूपत्वात्। अत्रेतिकर्त्तव्यतादिकं ब्रूते:—'चतुर्गृहीतम्' चतुःकृत्वः गृहीतं स्रुवेण स्रुचीति यावत्,

* स्रुच् के मध्य में चरुग्रहण के पहिले स्रुवा के द्वारा आज्य ग्रहण को उपस्तरण अर्थात् 'आस्तरण' एवं चरुग्रहण के पीछे आज्य ग्रहण को अभिघारण अर्थात् आच्छादन कहते हैं। तदनुयायी प्रथम आज्य पीछे चरु पुनः आज्य लेकर जो होम किया जावे उस को 'उपस्तीर्णाभिघारित' कहते हैं। जिस होम में उपस्तरण या अभिघारण की आवश्यकता नहीं, उस 'उपघात' कहते अर्थात् नाजारम्भ होम कहते हैं।

'आज्य' सर्पिरादीनामन्यतमम् 'गृहीत्वा' अग्निमध्ये एव, उत्तरतः, उत्तरस्याम् 'अग्नये स्वाहा'—'इति' 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां 'सोमाय स्वाहा' 'इति', 'प्राक्शः' प्रागगतं यथा स्यात्तथा जुहुयात। एतावेव होमौ उपघातास्यौ। अत्र विशेषः—'भृगूनां' भृगुगोत्रोत्पन्नानां 'तु, 'पञ्चावत्तं, पञ्चकृत्वः आज्यग्रहणमिति ॥ ३।४॥ इदानीमुपस्तीर्णाभिघारितहोमप्रकारं कथयति—

भा०—जिस समय "उपस्तीर्णाभिघारित" नामक होम करने की इच्छा करे, उसी समय उस के पूर्व दो "उपघातहोम" करे। इस 'उपघातहोम, के करने में स्रुव (यज्ञपात्र) के मध्यमें प्रतिवार स्रुवाके धारा ऊपर चारवार आज्य ग्रहण करना होगा, एवं इस चारवार ग्रहण किया हुआ आज्य पहिले 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के बीच में उत्तर में और तत्पश्चात् 'सोमाय' इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के दक्षिण में, पूर्वदिग्गत करके होम करे। विशेषता—भृगुगोत्रोत्पन्न गण के प्रति होम में पांचवार आज्य ग्रहण करना चाहिये ॥३, ४॥

अथ हविष उपस्तीर्य्यावद्यतिमध्यात्पूर्वार्द्धाच्चतुरवत्ती चेद्भवति मध्यात्पूर्वार्द्धात्पश्चार्द्धादिति पञ्चावत्ती चेद्भवत्यभिघारयत्यवदानानि प्रत्यनक्त्यवदानस्थानान्ययातयामतायाअग्नयेस्वाहेतिमध्येजुहुयात्सकृद्वात्रिर्वैतेनकल्पेन॥५–१०॥

'अथ' उपघातहोमानन्तरम् 'उपस्तीर्य' आज्येन स्रुचं सस्नेहां प्रकृत्य तदुपरि 'हविषः' चरुम् 'अवद्यति' अवदाय गृह्णाति। अवदानप्रकारमाह—'चतुरवत्ती' भृगुवंशीयादन्यः 'भवति चेत्', 'मध्यात्' मध्यं लक्षीकृत्य पूर्वार्द्धात् अवद्यतीत्यनुवर्त्तते; किञ्च 'पञ्चावत्ती' भृगुवंशीयः 'भवति चेत्', 'मध्यात्' मध्यं लक्षीकृत्य 'पश्चार्द्धात्' अवद्यति; 'इति' एवमेव नियमः। अवदानानि' चतुर्गृहीतानि पञ्चगृहीतानि वा तानि 'अभिघारयति' अभिघारयेत् तदुपरि पुनः स्रुवाज्यधारापातं कुर्वीतेति यावत्। किञ्च 'अवदानस्थानानि' चरुस्थालीमध्यतो यतोयतः चरून् चतुः पञ्च वा कृत्वा अवदाय गृहीतानि तानि, 'अयातयामतायै' यातयामता यागायोग्यता तदभावाय यागयोग्यतामेव रक्षयितुमिति यावत्, 'प्रत्यनक्ति' यत्र यत्र मेक्षणप्रवेशचिन्हं तानि सर्वाण्येव प्रति लक्ष्याज्यसिक्तं कुरुते कुर्वीतेत्यर्थः। ततः तदेव उपस्तीर्णाभिघारितं हविः प्रगृह्य "अग्नये स्वाहा"—'इति' इमं मन्त्रमुच्चरन् 'मध्ये' अग्नेः 'जुहुयात्' अयमेव होमोऽभिस्तीर्णाभिघारित उच्यते। 'एतेन कल्पेन' कथितप्रकारेण 'सकृत् वा' एकवारं वा 'त्रिर्वा' त्रिवारं वा जुहुयात् ॥५ १०॥

भा०:—उपघात होम के पीछे उसी स्रुच् के स्रुव के द्वारा एक बार आज्य ग्रहण करके उस के ऊपर 'मेक्षण' द्वारा चरु ग्रहण करे। उस में विशेषता यह है कि यदि वह भृगु गोत्र का हो तो चरुस्थाली के मध्य में पश्चार्द्ध से एवं पांच बार चरु ग्रहण करे और यदि वह अन्य गोत्र का हो तो चरुस्थाली के बीच में पूर्वार्द्ध से एवं चारबार मात्र चरुग्रहण करे। पीछे जिस २ स्थान से 'मेक्षण' द्वारा चरु निकाल ले; आज्य द्वारा, उसी २ स्थान को सिञ्चित करे, जिस से चरु सूख न जावे—याग के योग्य रहे। अनन्तर उसी गृहीत चरु के ऊपर फिर 'आज्य' ढार कर उसी ऊपर नीचे आज्यविशिष्ट चरु से अग्नये स्वाहा इस मन्त्र के मध्य में हवन करे। इसी को उपस्तीर्णाभिघारित होम कहते हैं। इस प्रकार एक या तीन वार करे ॥ ५-१० ॥

अथ स्विष्टकृत उपस्तीर्य्यावद्यत्युत्तरार्द्धपूर्वार्द्धात सकृदेव भूयिष्ठं द्विरभिघारयेद्यदु पञ्चावत्ती स्याद्द्विरुपस्तीर्यावदाय द्विरभिघारयेन् न प्रत्यनक्त्यवदानस्थानं यातयामताया अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्युत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे जुहुयात् ॥११-१४॥

'अथ' अत्राथशब्देन प्रकरणान्तरत्वमात्रं लक्षयति, नत्वानन्तर्यम्; स्विष्टकृद्धोमात् पुरस्तादेव प्रकृतयागस्य वक्ष्यमाणत्वात् (१६ सू०)। 'स्विष्टकृते' स्विष्टकृद्धोमसिध्यर्थम्, पूर्ववत् 'उपस्तीर्य' स्रुवाज्यं स्रुचि आस्तीर्य्य, तत्रैव चरुस्थालीमध्यतएव 'उत्तरार्द्धपूर्वार्द्धात्' उत्तरार्द्धस्य प्रथमार्द्धात् 'भूयिष्ठं' बहुतरं 'सकृत्' एकवारम् 'एव' अवद्यति अवदाय गृह्णाति; तदनन्तरं गृहीतं तं चरुं 'द्विः' द्विवारम् 'अभिघारयेत्' स्रुवाज्यधारया सिञ्चेत्। अत्र विशेषः कथ्यते,—'यदि उ' 'पञ्चावत्ती' भृगुगोत्रः 'स्यात्' यजमानः तर्हि 'द्विः' द्विवारम् 'अवदाय' 'उपस्तीर्य' 'द्विरभिघारयेत्' द्विवारमेवाभिघारणं कुर्यात्। किञ्च स्विष्टकृद्यागे 'यातयामतायै' यागायोग्यताभिया 'अवदानस्थानं' 'न प्रत्यनक्ति' अस्यैव होमस्यान्त्यचरुहोमत्वाच्छुष्केऽपि तस्मिन् क्षत्यभावादिति भावः। स्विष्टकृद्धोमस्य मन्त्रं स्थानं 'च' बोधयति;—'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा'—इति अनेन मन्त्रेण 'उत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे' अग्नेरुत्तरार्द्धस्य पूर्वार्द्धे 'जुहुयात्' ॥ गतोऽयं स्विष्टकृद्धोमः ॥११—१४॥ अथापरोऽप्यस्ति होमः सर्वकर्मसाधारणस्तं विधत्ते—

भा०—(उक्त "उपस्तीर्णाभिघारितहोम" के पीछे प्रकृत होम शेष होने

पर *) 'स्विष्टकृत् होम' करने के लिये भी पूर्ववत् स्रुवा के द्वारा आज्य ले कर स्रुच् में लेने के अनन्तर उस चरुस्थाली मध्यस्थित चरु के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध से एकवार मात्र, किन्तु कुछ अधिक परिमाण से चरुग्रहण करे एवं उसके ऊपर पुनः आज्य सिञ्चन करे। विशेषता यही है जो, कर्त्ता यदि भृगुगोत्रोत्पन्न हो तो उसे दो वार 'उपस्तरण' करना पड़ेगा। अनन्तर इस प्रकार चरुग्रहण और इस प्रकार दो वार अभिघारण करे। (और भी जो, स्विष्टकृत् भाग ही शेष अर्थात् इस के पीछे और होम के लिये चरु की आवश्यकता होती नहीं अतएव) स्विष्टकृत् होम के लिये चरुग्रहण करके, उस चरु को ठीक २ रखने के लिये उस में आज्य सिञ्चन करना आवश्यक नहीं। इस गृहीत होमीय को 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इस मन्त्रद्वारा अग्नि के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध में हवन करे। इसी को 'स्विष्टकृतहोम' कहते हैं ॥ ११—१४ ॥

महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात् ॥ १५ ॥

'महाव्याहृतिभिः' भूर्भुवः स्वरितिमन्त्रेण 'आज्येन' 'अभिजुहुयात्' इति सर्वसाधारणहोमप्रकारः ॥ १५ ॥ इदानीं प्रकृतहोमकालं व्यवस्थापयति—

भा०— 'भूर्भुवः स्वाहा' इस मन्त्र से आज्य द्वारा होम करे। इसी को 'महाव्याहृति—होम, कहते हैं ॥ १५ ॥

प्राक् स्विष्टकृत आवापः ॥ १६ ॥

'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्धोमात् 'प्राक्' पुरस्तादेव 'आवापः' प्रकृतहोमः दर्शपौर्णमासीयो वैवाहिकादिश्च कार्यः ॥ १६ ॥

भा०—स्विष्टकृत् होमके पूर्व ही 'आवाप' अर्थात दर्शपौर्णमास का, या विवाहादि का प्रकृत होम करे ॥ १६ ॥

गणेष्वेकम्परिसमूहनमिध्मोवर्हिःपर्युक्षणमाज्यमाज्यभागौ च सर्वेभ्यः समवदाय सकृदेव सौविष्टकृतं जुहोति १७,१८

'गणेषु' बहुष्वावापेषु कर्त्तव्येषु आवापबहुत्वानुरोधतस्तत् पूर्वापरकार्याणामपि बहुत्वं न भवेदित्याह—'परिसमूहनमित्यादिकम् पूर्वोक्तं समस्तमेव 'एकं' सकृदेव भवेत्, किन्तु 'सर्वेभ्यः' 'समवदाय' अवदानपूर्वकहोमानन्तरं 'सौविष्टिकृतं' 'सकृत्' एकवारमेव 'जुहोति' न तु आवापसङ्ख्यानुगुणमिति यावत् ॥१७, १८॥

---

* दर्शपौर्णमास का प्रकृत होम पीछे कहा जावेगा (सू० २२, २५)। विवाहादि समस्त कार्यों का ही प्रकृत होम होता है। प्रकृत होम को ही 'आवाप' कहते हैं। सब ही 'आवाप' के पहिले उपघातहोम और उपस्तीर्णाभिघारित—होम हुआ करते हैं और अन्त में स्विष्टकृत् होम करना होता है। ये चार प्रकार के होम चरु द्वारा निष्पन्न होते हैं ॥११—१४॥

भा०–जिस स्थान में बहुत आवाप कर्त्तव्य हों, वहां आवाप के बहुल होने से इध्म (लकड़ी) ग्रहण आदि कार्य अनेकवार नहीं किये जावेंगे, और सब ही आवाप के लिये पहिले की नाईं चरुग्रहण पूर्वक होम आदि शेष पीछे सब के अन्त में एकही वार ' स्विष्टकृत् , होम करे ॥१७, १८॥

हुत्वैतन्मेक्षणमनुप्रहरेत्प्रक्षाल्य वैतेनोद्धृत्य भुञ्जीत १९, २०

' एतत् ' स्विष्टकृत होमं हुत्वा ' ' अनु ' पश्चात् अनावश्यकमिति मत्वा तद्धोममात्रहोमसाधनं ' मेक्षणं ' ' प्रहरेत् ' प्रक्षिपेत् अग्नाविति शेषः । 'वा' अथवा ' प्रक्षाल्य ' तन्मेक्षणं रक्षेत यथाकालम् ' एतेन ' मेक्षणेनैव 'उद्धृत्य' अन्नं ' भुञ्जीत ' यजमानः । एवञ्च मेक्षणेन भोजनं यस्य सुखकरं स न प्रक्षिपेदिति भावः ॥१९, २०॥

भा०–इस ' स्विष्टकृत् ' होम के पीछे मेक्षण, अनावश्यक हो तो, उसे अग्नि में फेंक देवे या भोजनार्थ आवश्यक निश्चित होने पर उसे धो कर रक्खे एवं यथा समय उस के द्वारा भोजन करे ॥ १९ । २० ॥

न स्रुवमनुप्रहरेदित्येकआहुः ॥ २१ ॥

'एके' आचार्याः स्रुवं न अनु प्रहरेत्'–'इति आहुः' तदपि सम्मतम् ॥२१॥

अथेदानीमाहिताग्न्यनाहिताग्न्योर्दर्शपौर्णमासावापमन्त्रभेदमाह–

भा०:—कोई २ आचार्य कहते हैं कि ' कार्य के अन्त में स्रुवा भी धोकर रक्खे; उसे अग्नि में न डारे, तौ भी कोई हानि नहीं ॥ २१ ॥

आग्नेय एवानाहिताग्नेरुभयोर्दर्शपौर्णमासयोः स्थालीपाकस्यादाग्नेयो वाग्नीषोमीयो वाऽऽहिताग्नेः पौर्णमास्यायामैन्द्रो वैन्द्राग्नो वा माहेन्द्रो वा अमावास्यामपि वाऽऽहिताग्नेरप्युभयोर्दर्शपौर्णमासयोराग्नेयएव स्यात् ॥ २२–२५

' अनाहिताग्नेः ' अनग्निहोत्रिणः ' उभयोः, ' कयोरित्याह ' दर्शपौर्णमासयोः ' ' स्थालीपाकः ' स्थाल्यां पक्कचरुः ' आग्नेयः ' अग्निदेवताकः ' स्यात् ' उपस्तीर्णाभिघारितं चरुं गृहीत्वा ' अग्नये स्वाहा ' इति मन्त्रेणैवापरोहोम आवापो दर्शपौर्णमासयोरनाहिताग्नेरित्येव पर्यवसितार्थः । ' आहिताग्नेः ' नित्याग्निहोत्रिणस्तु ' पौर्णमास्यायाम् ' ' आग्नेयः ' एव ' वा ' अथवा ' अग्निषोमीयः ' किञ्च ' अमावस्यायाम् ' 'ऐन्द्रः वा ऐन्द्राग्नः वा माहेन्द्रः वा' स्थालीपाकः स्यादिति । ' अपिवा ' ' आहिताग्नेरपि ' ' उभयोः दर्शपौर्णमासयोः ' ' आग्नेयः एव ' ' स्यात् '; अस्मिन् पक्षे आहिताग्न्यनाहिताग्न्योर्न

कोऽपि भेदइति फलितम् ॥२२—२५॥ यज्ञवास्तुनामककर्मपरमपि किञ्चिदुपदिशति—

भा०:—इस के पीछे दर्शपौर्णमास के 'आवाप-मन्त्र' कहते हैं—यदि यजमान 'अग्निहोत्री' हो तो, 'दर्श' और 'पौर्णमास' दोनों याग में 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से 'उपस्तीर्णाभिघारित' चरु होम करे; और यदि अग्निहोत्री हो, तो 'पौर्णमासयाग' के आवाप 'होम' में 'अग्नये स्वाहा' या 'अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' यह मन्त्र व्यवहार करे। और 'अमावास्यायाग' में 'इन्द्राय स्वाहा' या 'इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा' मन्त्र व्यवहार करे। या अग्निहोत्री भी 'दर्श' 'पौर्णमास' दोनों ही याग में, अग्निहोत्री की नांई 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से आहुति देवे ॥ २२—२५ ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्ययज्ञवास्तु करोति तत एव बर्हिषः कुषमुष्टिमादायाज्ये वा हविषि वा त्रिरवदध्यादग्राणि मध्यानि मूलानीत्यक्तꣳरिहाणा व्यन्तु वय इत्यथैनमद्भिरभ्युक्ष्याग्नावप्यर्जयेद्यः पशूनामधिपतीरुद्रस्तन्तिचरोवृषापशूनस्माकं माहिꣳसीरेतदस्तु हुतन्तव स्वाहेत्येतद्यज्ञवास्त्वित्याचक्षते।२६—२९॥८

'समिधम् आधाय अनु पर्युक्ष्य' पूर्वोक्तप्रकारेण समिदाधानं प्रकृत्य पर्युक्षणञ्च समाप्य तस्मिन्नेव काले 'यज्ञवास्तु' नाम किञ्चित् कार्यं 'करोति' कुर्यात् दर्शपौर्णमासादौ। कथमित्याह—'तत एव बर्हिषः' आस्तृतकुशसमूहादेव 'कुशमुष्टिम्' मुष्टिमितानि कुशतृणानि 'आदाय' संगृह्य 'आज्ये वा' पूर्वोक्तान्यतमे वा, 'हविषि वा' पक्वचरौ वा 'अग्राणि, मध्यानि, मूलानि' 'इति' एवं 'त्रिः' त्रिवारम् 'अवदध्यात' अञ्जयेत् 'अक्तं रिहाणा व्यन्तु वयः'—'इति' अनेन मन्त्रेणेति। 'अथ' अनन्तरम्, तानि 'अद्भिः' 'अभ्युक्ष्य' सिक्त्वा यः पशूनामित्यादि स्वाहान्तेन मन्त्रेण 'अग्नौ' 'अर्जयेत अपि' क्षिपेच्च। 'एतत्' कर्म्म 'यज्ञवास्तु'—'इति आचक्षते' ॥ २६—२९ । ८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके अष्टमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् । १,८

भा०:—'दर्शपौर्णमासादि' याग में और एक कार्य करना होता है, उसे 'यज्ञवास्तु' कहते हैं। वह पूर्वोक्त प्रकार से 'समिदाधान' प्रभृति पर्युक्षण' पर्यन्त कर्म के पीछे किया जावेगा। जैसे—आस्तृत कुशसमूह से एक मुट्ठी कुश लेकर आज्य या चरु में अग्र, मध्य, मूल, इस क्रम से 'अक्तरिहाणा' इस मन्त्र को पढ़ कर तीन वार जल सींचे। तत्पश्चात् उसे जल से साफ करके 'यः पशूनामधिपतिः' इत्यादि मन्त्र पाठ करके उसे अग्नि में छोड़ देवे, इसी को 'यज्ञवास्तु' कहते हैं ॥ २६—२९ ॥ १ । ८

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के अष्टम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१,८॥



अथैतद्धविरुच्छिष्टमुदगुद्वास्योद्धृता ब्रह्मणे यच्छेत् तं तितर्पयिषेद् ब्राह्मणस्य तृप्तिमनु तृप्यामीति ह यज्ञस्य वेदयन्तेऽथ यदस्यान्यदन्नमुपसिद्धंस्यात् ॥ १—४ ॥

'अथ' महाव्याहृतिहोमानन्तरम् । 'एतत्' 'उच्छिष्टम्' अवशिष्टं 'हविः' चर्वकं 'उदक्' अग्नेरुत्तरस्मिन् 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'उद्धृत्य' पात्रान्तरे गृहीत्वा 'ब्रह्मणे' ब्रह्मनामर्त्विजे 'प्रयच्छेत्'। 'तं' ब्रह्माणं 'तितर्पयिषेत्' अतिशयेन तर्पयितुं तृप्तं कर्त्तुमिच्छेत्। 'ह' यतः 'ब्राह्मणस्य तृप्तिम् अनु तृप्यामि'—'इति' 'यज्ञस्य' यज्ञपुरुषस्य अभिमतं 'वेदयन्ते' ऋषयः; ब्राह्मणतृप्त्यर्थमेव यज्ञानुष्ठानमिति भावः। 'अथ' किञ्च 'अन्यत्' अपरमपि भक्तादिकं 'यत् अन्नम्' 'अस्य' यजमानस्य 'उप' समीपे 'सिद्धं स्यात्' तदपि तस्मै देयमिति ॥ १—४ ॥

भा०:—यज्ञ का शेष कार्य कहा जाता है। प्रथम, इस महाव्याहृति होम के पीछे अवशिष्ट चरु को अग्नि के उत्तर दिशा में रख कर उसी चरु-स्थाली से दूसरे पात्र में चरु लेकर ब्रह्मा, उसे ऋत्विक् को देवे, उस समय यजमान के निकट में यदि और भी दूसरा अन्न, भात प्रभृति हो, तो उसे भी उन को देना चाहिये। जिस किसी प्रकार हो उन्हें तृप्त करने की इच्छा रक्खे; कारण, यह है कि ऋषिगण—कहते हैं कि ब्राह्मण की तृप्ति अनुसार ही हम तृप्त होते हैं—यही यज्ञपुरुष का अभिप्राय है ॥ १—४ ॥

अथ ब्राह्मणान् भक्तेनोपेप्सेत ॥ ५ ॥

'अथ' अनन्तरं 'भक्तेन' अन्नेन 'ब्राह्मणान्' निमन्त्रितान् 'उपेप्सेत' सम्बद्धुमिच्छेत् भोजयेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

भा०:—अनन्तर द्वितीय कार्य—निमन्त्रित ब्राह्मण आदिक को भात आदि खिलाकर हो परितृप्त करे ॥ ५ ॥

पूर्णपात्रो दक्षिणा तं ब्रह्मणे दद्यात् कंसं चमसं वान्नस्य पूरयित्वा कृतस्य वाऽकृतस्य वापि वा फलानामेवैतं पूर्णपात्रमित्याचक्षते ब्रह्मैवैकऋत्विक् पाकयज्ञेषु स्वयं होता भवति पूर्णपात्रोऽवमः पाकयज्ञानां दक्षिणाऽपरिमितं परार्ध्यमपि ह सुदाः पैजवन ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेनेष्ट्वा शतं सहस्राणि ददौ ॥ ६—१२ ॥

'पूर्णपात्रः' पूर्णपात्रम् 'दक्षिणा' भवति दर्शपौर्णमासादियागस्येति। 'तं' दक्षिणारूपं पूर्णपात्रं ब्रह्मणे' ब्रह्मनामर्त्विजे 'दद्यात्'। किन्तत् पूर्णपात्रमिति? वदति—'कंसं' कांस्यपात्रम्, 'चमसं' पानपात्रं 'वा' 'कृतस्य' पक्कस्य 'अकृतस्य' अपक्कस्य 'वा' अन्नस्य' समूहैः, 'अपि वा' 'फलानां' समूहैः 'पूरयित्वा'; 'एतम् एव' पूर्णपात्रम् इति आचक्षते'। दर्शपौर्णमासादौ कर्मणि 'ब्रह्मा एव एकः ऋत्विक्' वरणीयः बहुतराणामृत्विजां नापेक्षा। होतृकार्यं कथं भवेदित्याह—'पाकयज्ञेषु' दर्शपौर्णमासप्रभृतिषु 'स्वयं' यजमान एव 'होता' भवति' भवेत्काम। ननु दर्शपौर्णमासादिपाकयज्ञस्य पूर्णपात्रं दक्षिणा विहिता, ततोऽधिकदाने दोष सञ्जायते किम्? नेत्याह:—'पाकयज्ञानां' पाकैः चर्वैर्यजनीयानां दर्शपौर्णमासादीनां कर्मणां पूर्णपात्रः' पूर्णपात्रम् 'दक्षिणा' 'अवमः' अवमम् अधमं न्यूनकल्पत इति यावत्। 'अपरिमितम्' बहुमह्र्घकस्वर्णादिकमेव दक्षिणा 'परार्ध्यम्' उत्तमं प्रशस्तमित्यर्थः। अत्र बहुतरदानव्यवहारोऽपि निदर्श्यते;—'ह' निश्चयम्; 'पैजवनः' पिजवनस्य पुत्रः 'सुदाः' ऋषिः 'ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेन इष्ट्वा' 'शतं' शतगुणितं 'सहस्राणि' तथा च लक्षं सम्पन्नम् लक्षम् 'अपि' दक्षिणाः 'ददौ' ॥६—१२॥

भा०—इस दर्शपौर्णमास याग की 'दक्षिणा' पूर्णपात्र होगा। वह 'पूर्णपात्र' ब्रह्मा नामक ऋत्विक् को देना चाहिये कच्चा या पका अन्न, या कतिपय फलों के द्वारा 'कांस्यपात्र' या 'चमस' को भर देने का नाम,पूर्णपात्र' है। दर्शपौर्णमास प्रभृति कार्य में एक मात्र ब्रह्मा ही 'ऋत्विक्' होना चाहिये। पाक यज्ञ में अर्थात् चरुपाक मात्र करके जो यज्ञ किया जाता, इन सब यज्ञों में यजमान ही 'होता' होवे। इस स्थानमें और भी जानने की बात है—जो, पाक यज्ञ को, उक्त पूर्णपात्र दक्षिणा न्यून कल्प (अधम) समझना चाहिये। यदि सामर्थ्य हो तो अपरिमित दक्षिणा देना उचित है। पिजवन नामक ऋषि के वंशधर सुदा ऋषि ने, इन्द्राग्नी देवता के उद्देश्य से स्थाली पाक द्वारा याग करके अर्थात् अमावास्या याग के अनन्तर लाख (सुवर्ण, या मुद्रा या गौ) दक्षिणा दियी थी ॥ ६—१२ ॥

अथ यदि गृह्योऽग्नौ सायं प्रातर्होमयोर्वा दर्शपूर्णमासयोर्वा हव्यं वा होतारं वा नाधिगच्छेत् कथं कुर्यादित्या सायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नात्येत्याप्रातराहुतेः सायमाहुतिरामावास्यायाः पौर्णमासं नातत्येत्यापौर्णमास्या आमावास्य-

मेतेनैवावकाशेन हव्यं वा होतारं वा लिप्सेतापि वा यज्ञियानामेवौषधिवनस्पतीनां फलानि वा पलाशानि वा श्रपयित्वा जुहुयादप्यप एवान्ततो जुहुयादिति ह स्माह पाकयज्ञ ऐडो हुतं ह्येव ॥१३-१७॥

'अथ' प्रकरणान्तरम् । 'यदि' 'गृह्योऽग्नौ' 'सायम्प्रातर्होमयोर्वा' 'दर्शपूर्णमासयोर्वा, कर्मणोः' 'हव्यं' हवनीयमाज्यादिकं 'वा' अपि 'होतारं' स्वयमशक्तौ प्रतिनिधिं 'न अधिगच्छेत्' नाप्नुयात्, तर्हि 'कथं' केन प्रकारेण 'कुर्यात्' सायम्प्रातर्होमौ दर्शपूर्णमासौ वे त्याशङ्का । इमामाशङ्कामपनुदति ,-' आ सायमाहुतेः' सायमाहुतिकालं यावत् 'प्रातराहुतिः' प्रातर्हवनकालो 'न अत्येति' नातिक्रमते, एवम् 'आ प्रातराहुतेः सायमाहुतिः,' किञ्च 'आ अमावास्यायाः' अमावास्यामारभ्य 'पौर्णमासं' यावत् अमावास्याहवनकालो 'न अत्येति'; एवमेव 'आ पौर्णमास्याः' पौर्णमास्यामारभ्य 'आमावास्य' यावत् पौर्णमास्याहवनकालो नात्येत्येव । तदित्थं हव्यहोत्रोरन्वेषणाय सायम्प्रातराहुत्योश्चत्वारि यामा अवकाशः, दर्शपूर्णमासयोस्तु पञ्चदशाहानि । 'एतेन' चतुर्यामरूपेण पञ्चदशाहात्मकेन वा 'अवकाशेन एव' 'हव्यं' होतारं वा 'लिप्सेत' लब्धुमिच्छेत् । 'अपिवा' होतृलाभे 'यज्ञियानाम् ओषधिवनस्पतीनां फलानि पलाशानि वा एव श्रपयित्वा जुहुयात्' । 'अपि' तदलाभे च 'अन्ततः' अपएव उदकान्येव ' जुहुयात्', ' ह ' निश्चयम्,'पाकयज्ञः' पाकयज्ञनियमः 'इति' एवं 'ऐडः' नामर्षिः 'आह स्म', तथा च फलाद्याहुतो अपि 'हि' निश्चयं 'हुतम् एव' स्वीकार्यमस्माकम् । १३-१७ ॥

भा०:-यदि किसी दैवी दुर्घटना से गृह्याग्नि में सायं और प्रातर्होम और दर्श पौर्णमास याग करने के लिये 'सामग्री' इकट्ठी न हो, या पीड़ा आदि निबन्धन से स्वयं और पत्नी दोनों ही असमर्थ हों और उस समय शीघ्र कोई प्रतिनिधि (बदले में दूसरा व्यक्ति) भी दुष्प्राप्य हो, तो ऐसे दशा में, सायं होम करने पर्यन्त भी प्रातराहुति का समय अतीत न समझा जायेगा और प्रातराहुति के समय पर्यन्त भी सायं होम का समय अतीत न समझा जायगा (ऐसी दशा में) अमावास्या से पूर्णिमा के पूर्व दिन पर्यन्त १५ दिन में चाहे जिस दिन हो, 'अमावास्या याग' हो सकेगा । और पूर्णिमा से अमावास्या के पूर्व दिवस पर्यन्त १५ दिन में से चाहे जिस किसी दिन हो 'पौर्णमासयाग' हो सकेगा इतने समय में जो कुछ सामग्री न हो, उसे इकट्ठी करे और होता भी कहीं से ढूंढ कर लावे। यदि हवनीय अन्नादि इकट्ठा न हो, तो उससे भी

हानि नहीं, फल से भी हवन हो सकता है, यदि यह भी न हो तो धान्य, शस्य, वृक्ष का, या आम्र आदि वनस्पति के पत्र से भी होम का काम पूरा करे, एड नामक ऋषि कहते हैं कि निदान कुछ न मिलने पर केवल जल से भी याग करे (पर नियम न तोड़े) ॥ १३–१७ ॥

अहुतस्याप्रायश्चित्तंभवतीति नाव्रतोब्राह्मणःस्यादिति ।१८,१९।

अथाप्युदाहरन्ति यावन्न हूयेताभोजनेनैव तावत् सन्तनुयादथ यदाधिगच्छेत् प्रति जुहुयादेमप्यस्य व्रतꣳसन्ततं भवतीति ॥ २०–२३ ॥

'अहुतस्य' गृह्योऽग्नौ सायम्प्रातराहुती येन न हुते, नापि दर्शपौर्णमासयोर्हुते येन, तस्य 'प्रायश्चित्तं' कर्त्तव्यं 'भवति'–'इति' हेतोः 'ब्राह्मणः' 'अव्रतः' नियमाहुतिदानशून्यः 'न स्यात्' 'इति' आदेशः । १८, १९॥

'अथ अपि' अपरमपि पक्षम् 'उदाहरन्ति' वदन्ति आचार्याः । तथाच– 'यावत्' कालं 'न हूयेत' सायम्प्रातर्होमौ दर्शपौर्णमासहोमौ वा 'तावत्' 'अभोजनेन' भोजनमकृत्वैव 'सन्तनुयात्' कालहरणं कुर्यात् । 'अथ' अनन्तरं कालातीतेऽपि 'यदा' यस्मिन्नेव समये 'अधिगच्छेत' हव्यं होतारं वा, तदैव 'प्रति जुहुयात्' सायमादिकालं प्रतीक्ष्य जुहुयात् । 'एवमपि' अभोजनेन दिनकर्त्तनेनापि 'व्रतं' नित्यानुष्ठेयं 'सन्ततम्' अविच्छिन्नं 'भवति'; 'इति' गतमिदं प्रकरणं नित्यानुष्ठानस्य । २०–२३॥

भा०:–यदि ऐसी कोई घोर आपत्ति हो जावे कि जिससे जल मिलना भी कठिन हो वा न मिले, तो जब तक होम का उपाय न हो, भूखे रहे, पश्चात् जिस समय हवनीय पदार्थ पावे या 'होता' मिले, उसी समय ठीक समय पर सायं या प्रातराहुति प्रदान करे और दर्श या 'पौर्णमास याग' करे । इस प्रकार भी उक्त कार्यों की नियमित–कर्त्तव्यता रक्षा करे परन्तु ब्राह्मण किसी प्रकार भी विना 'व्रत' न रहे, व्रतशून्य होने पर प्रायश्चित करना पड़ेगा ॥ १८–२३ ॥

एषोऽत ऊर्द्ध्वꣳहविराहुतिषु न्यायः ॥ २४ ॥

'अतऊर्द्ध्वं' इतःपरं 'हविराहुतिषु' हविर्भिः चरुभिर्निष्पाद्येषु नैमित्तिकेषु काम्येषु च सर्वत्रैव होमेषु 'एषः' एव 'न्यायः' प्रकारः, अर्थतः पूर्वमुपघातहोमद्वयं ततश्च उपस्तीर्णाभिघारितं प्रकृत्यैव हवनं कार्यमिति ॥ २४ ॥

भा०:—इस के पीछे चरुद्वारा होने योग्य जितने याग कहे जावेंगे, उन सब स्थानों में भी ठीक २ उसी प्रकार उलूखल, मूसल, स्थापनादि कार्य करना चाहिये ॥ २४ ॥

मन्त्रान्ते स्वाहाकारः ॥ २५ ॥

'मन्त्रान्ते' हविःप्रदानमननसाधनवाक्यान्ते पूर्वत्र परत्र च सर्वत्रैव होमे 'स्वाहाकारः' स्वाहापदं प्रयोक्तव्यम् ॥ २५ ॥

भा०:—आहुति के सब मन्त्रों ही के अन्त में 'स्वाहा' यह पद जोड़ कर प्रयोग करे (बोले) ॥ २५ ॥

आज्याहुतिष्वाज्यमेव सꣳस्कृत्योपघातं जुहुयान्नाज्यभागौ न स्विष्टकृदाज्याहुतिष्वनादेशे पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च महाव्याहृतिभिर्होमो यथा पाणिग्रहणे तथा चूडाकर्म्मण्युपनयने गोदाने च ॥ २६–२८ ॥

'आज्याहुतिषु' यत्र हविर्भिन्नं हवनं विधेयमपि तु आज्यैरेवाहुतयो विधास्यन्ते,तत्र 'आज्यमेव संस्कृत्य' चरुपाकाद्यायोजनमनर्थकमित्युलूखलाद्युपसादनादिकमकृत्वैव 'उपघातं' प्रकृतयागस्योपोद्घातरूपमेकमेवहोमं 'जुहुयात्', 'न आज्यभागौ' चतुर्गृहीताद्याज्यभागद्वयात्मकमुपघातहवनं न कार्यम्; 'न स्विष्टकृद्' स्विष्टकृद्यागोऽपि तत्रानावश्यकः । अपिच 'आज्याहुतिषु' सर्वत्रैव 'अनादेशे' विशेषविध्यभावे सुतरां गर्भाधानादौ 'पुरस्तात्' प्रधानकर्मणः 'उपरिष्टाच्च' तस्य 'महाव्याहृतिभिः' भूर्भुवःस्वरिति समस्ताभिः 'होमः' एकएव कार्यः । ननु चूडाकरणादावपि नास्ति कश्चिद् विशेषादेशइति तत्रापि किमेकएव होमो महाव्याहृतिभिरिति व्युदस्यत्यनेनातिदेशसूत्रेण,–'पाणिग्रहणे' पाणिग्रहणनिमित्ते सति 'यथा' वक्ष्यामो होम–चतुष्टयम् 'महाव्याहृतिभिश्च पृथक् समस्ताभिश्चतुर्थीम्' इति 'चूडाकर्मणि, उपनयने, गोदाने च' 'तथा' एव कार्यं होमचतुष्टयमित्यतिदेशसूत्रम् ॥ २६–२८ ॥

भा०:–जो २ होम केवल आज्य ही द्वारा होने योग्य हैं, उन में आज्यसंस्कार मात्र करना योग्य है, उलूखल स्थापनादि की उन में आवश्यकता नहीं । और ऐसे स्थान में चरु होम की नाईं चतुर्गृहीत या पञ्चगृहीत (४ या ५ बार लिया हुआ) आज्यद्वारा दो 'उपघात' नामक होम करना आवश्यक नहीं, एक ही बार 'उपघात' होम करे और 'उपस्तीर्णाभिघारित' होम भी अनावश्यक है और 'स्विष्टकृत' होम भी न करे । आज्याहुति के बदले और भी विशेषता है जो जिस किसी स्थान में विशेष विधि नहो * ऐसे स्थान में प्रकृत (मुख्य) याग के पहिले और पीछे "भूः, भुवः, और स्वः" इन तीन

* अर्थात् गर्भाधानादि में ॥

महाव्याहृतियों का पाठ कर एक २ आहुति प्रदान करे, परन्तु विवाह की जिस प्रकार व्यवस्था कियी जावेगी ** चूडाकरण, उपनयन, और गोदान में भी उसी प्रकार होगी ॥ २६—२८ ॥

अपवृत्ते कर्मणि वामदेव्यगानꣳशान्त्यर्थꣳशान्त्यर्थम् ।२९।९

'कर्मणि' नित्ये, नैमित्तिके, काम्ये वा सर्वत्रैव 'अपवृत्ते' समाप्ते सर्वान्ते-इति यावत् 'वामदेव्यगानम् वामदेव्यनामकस्य साम्नोगानम् (ऊ० गा० १, १, ५) कर्त्तव्यम्, तच्च 'शान्त्यर्थं' भवतीति शेषः। द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतिका ॥२९॥ ९

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके नवमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥

इति गोभिल-गृह्यसूत्रे प्रथमः प्रपाठकः ॥

भा०:—क्या नित्य (प्रति दिन करने योग्य), क्या नैमित्तिक, (किसी निमित्त विशेष से करने योग्य), क्या काम्य (किसी कामना से) सब ही प्रकार के होम के अन्त में ' वामदेव्य ' * गान करे; उस से सब प्रकार की आपत्तियों की शान्ति होती है ॥ २९—९ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के नवमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१,९॥

प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ ॥ १ ॥



—:०॥ महावामदेव्य साम ॥०:—

३ र ४ २ ४र ५
महावामदेव्यम् ॥ काऽ५या। नश्चा३ इत्रा३ आभुवात्।

** विवाह में विशेष विधि यह होगा कि 'भूः, भुवः, स्वः, इन तीन महाव्याहृतियों के द्वारा भिन्न २ तीन और फिर इन को एकत्र करके पढे और एक, सुतरां ४ होम करना चाहिये। उक्त महाव्याहृति आदि भिन्न २ कर होम करने का ही नाम व्यस्तहोम है और एकत्रित पाठ पूर्वक होम करने को 'समस्तहोम, कहते हैं। बिवाहादि में व्यस्त—समस्त (अलग और एकत्र) दोनो प्रकार होम होते हैं ॥

* छन्द आर्च्चिक के द्वितीय प्रपाठक के द्वितीयार्द्ध में तृतीय दशति के प्रथम " कयानश्चित्र आ, ऋक् अवलम्बन करके तीन साम मन्त्र गाये गये हैं, वह 'गेय गान, के प्रथम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध में २३, २४, २५, है उन में तृतीय आर्षेय ब्राह्मणोक्त (१, १६) श्रुतिअनुसार 'वाम देव्य, । उत्तरार्च्चिक के प्रथम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध में द्वादश सूक्त के प्रथम भी 'कयानश्चित्र आ, ऋक् एवं इस सूक्त के इस छन्द के और भी दो 'ऋक्, हैं, " यद् योन्यां तदुत्तरयोर्गायति ,, ताण्ड्य ब्राह्मणोक्त इस श्रुति के अनुसार इन दो में भी " वामदेव्य ,, गान होता है। इन वामदेव्य का एकत्र गान होने से महावामदेव्यगान कहाता है। यह महावाम देव्य उहगान के प्रथम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध में प्रथम साम है ॥

उ। तीसदा वृधःस। खा। औ३ हो हाइ। कया२३ शचाइ। ष्ठयौहो३ हुम्मा २। वार्त्तो३ऽ५ हाइ (१)॥ काऽ५स्त्वा। सत्योऽ३ मा३ दानाम्। मा। हिष्ठोमात्सादन्ध। सा। औ३ होहाइ। दृढा२३ चिदा। रुजौहो३। हुम्मा२। वाऽ३ सो३ऽ५ हायि॥ (२)॥ आऽभी। युणा३ः सा३ रवीनाम्। आ। विता जरायितॄ। णाम्। औ२३ होहायि। शता२३ म्भवा। सियौ हो३। हुम्मा२। ताऽ२ यो३ऽ५ हायि॥ (३) सामवेद० उ० अ० १ खं० ३। म० १। २। ३॥

अथ द्वितीयप्रपाठकः॥

॥ ओं ॥ पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ १

'पुण्ये नक्षत्रे' ज्योतिःशास्त्रोक्ते 'दारान्' पत्नीं 'कुर्वीत' स्वीकुर्वीत। १

भा०:–जिन नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा का समागम उत्तम होता है (रोहिणी आदि) ऐसे समय में विवाह करना चाहिये॥ १॥

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन। २

कीदृशान् दारानित्याह–'लक्षणप्रशस्तान्' प्रशस्तलक्षणोपेतान् 'कुशलेन' लक्षणाभिज्ञजनेन परीक्ष्येति। २

भा०:–जो लोग सुलक्षण कुलक्षण समझ सकते, ऐसे एक अभिज्ञ जन कर्त्तृक परीक्षा करा कर प्रशस्त लक्षण वाली कन्या से विवाह करे॥ २॥

तदलाभे पिण्डान्। ३

'तदलाभे' लक्षणपरीक्षकालाभे लक्षणविचारेण सुलक्षणाया अभावे च 'पिण्डान्' मृत्पिण्डग्राहणपरीक्षान् कुर्वीतेति। ३

भा०:–यदि उस समय की लक्षण पहचानने वाला कोई पुरुष न मिले,

या लक्षण देखने से सब लक्षणों से सुसम्पन्न कन्या न पाई जावे, तो कन्या को ढेला बुला कर उस की इस प्रकार परीक्षा करे कि ॥ ३ ॥

वेद्याः सीताया ह्रदाद्गोष्ठाच्चतुष्पथादादेवनादादहनादीरिणात्सर्वेभ्यः सम्भार्यं नवमं समान् कृतलक्षणान्। ४—६

'वेद्याः' 'यज्ञीयवेदीतः' 'सीतायाः' लाङ्गलकृष्टस्थानात्, 'ह्रदात्' अगाधजलस्थानात्, 'गोष्ठात्' गोस्थानात्, 'चतुष्पथात्' 'आदेवनात्' देवनं द्यूतस्थानं तस्मात्, 'आदहनात्' श्मशानात्, 'ईरिणात्' ऊषरप्रदेशात् मृदो गृहीत्वा 'समान्' तुल्यप्रमाणादिकान् किन्तु 'कृतलक्षणान्' यतश्च यो मृत्पिण्डोगृहीतः तद्द्योतकचिन्हीकृतान् पिण्डान् कुर्वीतेति अष्टौ पिण्डाः सम्पन्नाः। 'सर्वेभ्यः' पिण्डेभ्यएव 'सम्भार्यं' किञ्चित् किञ्चिदाहृतमपि पिण्डमेकं कुर्वीत, तदेव 'नवमं' पिण्डानां भवेत् ॥ ४—६ ॥

भा०:—यज्ञवेदी से, जोती हुई भूमि से, अगाधि जल स्थान से, या गोशाला से, चतुष्पथ से, या द्यूतस्थान से, श्मशान से, ऊषर भूमि में से कुछ २ मिट्टी लेकर आठ स्थानों में भिन्न २ उस मिट्टी को पिण्ड बनाकर रक्खे, और इन पिण्डों में से कुछ २ मिट्टी निकाल कर एक पिण्ड रक्खे इस प्रकार ९ पिण्ड रक्खे ॥४—६॥

पाणावाधाय कुमार्य्या उपनामयेदृतमेव प्रथमं-मृतं नात्येति कश्चनर्त्तइयं पृथिवी श्रिता सर्वमिदमसौ भूयादिति तस्या नाम गृहीत्वैषामेकं गृहाणेति ब्रूयात्पूर्वेषां चतुर्णां गृह्णन्तीमुपयच्छेत् सम्भार्यमपीत्येके ॥ ७—९ ॥

उक्तान् पिण्डान् 'पाणौ' 'आधाय' 'कुमार्याः' विवाहार्थपरीक्षणीयायाः 'उप' समीपे 'नामयेत्' स्थापयेत। तत्र मन्त्रः—ऋतमेवेत्यादिर्भूयादित्यन्तः। ततश्च 'तस्याः' कुमार्याः 'नाम' गृहीत्वा तां सम्बोधयित्वेति यावत्, 'एषां' पिण्डानां नवानाम् 'एकं' यं कमपि 'गृहाण'—'इति' ब्रूयात्। तथाचोक्ते—'पूर्वेषां चतुर्णां' वेदी-सीता-ह्रद-गोष्ठीयमृन्निर्मितानां यं कमपि 'गृह्णन्तीम्' ताम् 'उपयच्छेत्' उद्वहेत। 'एके' आचार्याः 'सम्भार्यं' नवमं पिण्डं गृह्णन्तीमपि उपयच्छेत् इत्याहुः। चतुष्पथ-देवन-श्मशानोषरस्थानीयमृन्निर्मितपिण्डानामेकतमं गृह्णन्ती दुर्लक्षणेति नोद्वाह्येति सुतरां कलितम्। इति कन्यापरीक्षणम् ७—९

भा०:—उक्त नव पिण्डों को हाथ में लेकर जो कन्या विवाह के लिये हो उस के निकट लावे, और 'ऋत' प्रभृति मन्त्रों का पाठ कर बोले कि

'हे अमुकि ! इन पिण्डों में से जिसे तुम्हारी इच्छा हो उसे उठा लो। इस प्रकार कहने पर वह, यदि उक्त चार में से एक अर्थात् वेदी, कृष्टभूमि, ह्रद, या गोशाला का पिण्ड लेवे तो उस को सुलक्षणा समझ कर विवाह करे। कोई २ कहते हैं कि, नवम पिण्ड अर्थात् आठ प्रकार की मृत्तिका जिस में इकट्ठी हैं उसे जो ग्रहण करे, तो उस कन्या के साथ भी विवाह कर सकते हैं, किन्तु चतुष्पद, द्यूत स्थान, श्मशान, या उषर मृत्तिका के ग्रहण करने से कदापि विवाहने योग्य नहीं ॥ कन्यापरीक्षा पूरीहुई ॥ ७–९ ॥

क्लीतकैर्यवैर्म्माषैर्वाऽऽप्लुताꣳ सुहृत् सुरोत्तमेन सशरीरां त्रिर्मूर्द्धन्यभिषिञ्चेत् कामवेद ते नाम मदोनामासीति समानयामुमिति पतिनाम गृह्णीयात् स्वाहाकारान्ताभिरुपस्थमुत्तराभ्यां प्लावयेत् ज्ञातिकर्मैतत् । १०,११ ॥

'क्लीतकैः' चूर्णीकृतैः 'यवैः माषैः वा' 'आप्लुताम्' मर्दिताङ्गां कन्यां 'सुहृत' कन्यायाएव काचित् सखी 'सुरोत्तमेन' उत्कृष्ट जलेन 'सशरीरां' शरीरसहितां तां 'मूर्द्धनि' मस्तके 'त्रिः' त्रिवारम् 'अभिषिञ्चेत्'। तत्र "काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुꣳसुरा ते अभवत्। परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोसि स्वाहा ॥२॥ इमन्त उपस्थं मधुना सꣳसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्। तेन पुꣳसोऽभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्वसि राज्ञी स्वाहा ॥३॥ अग्निं क्रव्यादकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः। तेनाज्यमकृण्वꣳस्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा" ॥ ४ ॥ (मं० ब्रा० १, १,) आभिरभिषिञ्चनम् तत्र च समानयामुमिति मन्त्रे अमुमित्यस्य स्थाने 'पतिनाम' भाविभर्तृनाम 'गृह्णीयात्' । किञ्चोक्ताभिषिञ्चनमन्त्राणाम् 'उत्तराभ्यां' द्वाभ्याम् 'उपस्थं' कन्याया विशेषेण 'प्लावयेत्' धावयेत्। 'एतत्' अभ्यङ्ग–मर्द्दन पूर्वकमुपस्थधावनान्तं स्नानं 'ज्ञातिकर्म' इत्युच्यत इति गतं ज्ञातिकर्म ॥१०, ११॥

भा०:—यव चूर्ण, या उड़द, कलाई के चूर्ण से कन्या का सर्वाङ्ग मर्दन कर कन्या ही की किसी सखी द्वारा उसी कामवेद प्रभृति स्वाहा कारान्त मन्त्रत्रय पढ़ कर कन्या के माथे पर तीन वार उत्तम जल डाल दे, इस प्रकार जल डाल देवे जिस से कन्या का शरीर अच्छे प्रकार धो जावे, विशेषतः इन तीन के शेष (३ य और ४ र्थ) दो का पाठ कर इस कन्या के उपस्थ इन्द्रिय (प्रजनन–प्रदेश) अच्छे प्रकार धो दे। इसी को 'ज्ञातिकर्म' कहते हैं ॥१०, ११॥

पाणिग्रहणे पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति। १२

'पाणिग्रहणे' करणीये 'शालायाः' मध्ये 'पुरस्तात्' पूर्वस्यां दिशि' 'अग्निः' 'उपसमाहितः' संस्थापितः 'भवति' भवेत्। १२

भा०:—पाणि-ग्रहण करने में अग्नि शाला के, या घर के बीच पूर्व दिशा में अग्नि स्थापन करना चाहिये॥ १२॥

अथ जन्यानामेको ध्रुवाणामपाङ्कलशं पूरयित्वा सहोदकुम्भः प्रावृतो वाग्यतोऽग्रेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते प्राजनेनान्यः शमीपलाशमिश्रांश्च लाजांश्चतुरञ्जलिमात्राञ्छूर्पेणोपसादयन्ति पश्चादग्नेर्दृशत् पुत्रञ्च१३—१६

'अथ' अनन्तरं 'जन्यानां' कन्याज्ञातिजनानां मध्ये 'एकः' अन्यतमः 'ध्रुवाणां' अतिप्रखरतापेऽप्यशुष्कजलाशयोत्थितानाम् 'अपां' 'कलशं पूरयित्वा' 'प्रावृतः' वस्त्राच्छादितः, 'वाग्यतः' अनियमितवाक्शून्यः, 'अग्निम्' तम् 'अग्रेण' कृत्वा 'परिक्रम्य', 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यामग्नेः 'उदङ्मुखः' उत्तराभिमुखश्च सन् 'अवतिष्ठते' अवतिष्ठेत अवस्थितिं कुर्यात्। 'अन्यः' तथैवैकः पुरुषः 'प्राजनेन' गवादिचालनदण्डेन साकं प्राजनहस्तइति यावत् अवतिष्ठेतेत्येव। 'शमीपलाशमिश्रान्' 'चतुरञ्जलिमात्रान्' 'लाजान्' 'च' सूर्पेण, कृत्वा तत्रैव 'अग्नेः पश्चात्' प्रदेशे 'उपसादयन्ति' स्थापयन्ति स्थापयेयुः ये के चात्मीयजनाइति। 'दृशत्पुत्रं' दृशदः पेषणाधारस्य शिलाखण्डस्य क्रोडे पुत्रवत् शेते य उपलः पेषणकरः तम् 'च' अपि उपसादयन्तीत्येव॥ १३–१६॥

भा०:—इस के अनन्तर कन्या के आत्मीय कोई एक जन, जिस जलाशय का जल कभी न सूखे ऐसे जल में कलश भर कर कपड़े से ढाक कर एकाग्र हो, अग्नि को सम्मुख रख कर प्रदक्षिण क्रम से अग्नि के दक्षिण में उत्तर मुख होकर बैठे। और भी एक व्यक्ति इसी प्रकार डंडा हाथ में लेकर रहे। अग्नि के पश्चात् भाग में शमी पत्र मिला चार अञ्जलि परिमित लाजा रक्खे और एक पेषणकर (लोढ़ा) भी वहीं रखना चाहिये॥ १३–१६॥

अथ यस्याः पाणिं ग्रहीष्यन् भवति सशिरस्काप्लुताभवति। १७

'अथ' अनन्तरं 'यस्याः' कन्यायाः 'पाणिं' 'ग्रहीष्यन् भवति' वरः, सा कन्या 'सशिरस्का, शिरःसहिता आप्लुतां स्नाता 'भवति' भवेत्। इति विवाहदिवसीयकन्यास्नानम्। १७

भा०:-इस के बाद, वर जिस कन्या का पाणिग्रहण करे, उस को मस्तक पर्यन्त स्नान करा देवे। यह विवाह के दिन कन्या का स्नान होता है ॥१७॥

अहतेन वसनेन पतिः परिदध्याद् या अकृन्तन्नित्येतयर्चा परिधत्त धत्त वाससेति च ॥ १८ ॥

एतत्स्नानानन्तरं 'पतिः' भावी "या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत, याश्च देव्यो अन्तानभितो ततन्थ। तास्त्वा देव्यो जरसा संव्ययन्त्वायुष्मतीदं, परिधत्स्व वासः" ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १,१,५)'-'इत्येतया ऋचा' "परिधत्त धत्त वाससैनाꣳ, शतायुषीꣳ कृणुत दीर्घमायुः। शतं च जीव शरदः सुवर्चा, वसूनि चार्ये विभजासि जीवन्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, १, ६)'-'इति' अनया ऋचा 'च' 'अहतेन' अखण्डेन 'वसनेन' परिदध्यात्' अहतं वसनं तां परिधापयेदित्यर्थः। इति कन्यावासःपरिधापनम् ॥ १८ ॥

भा०:-इस स्नान के पीछे भावी-पति 'या अकृन्तन्' यह मन्त्र एवं 'परि धत्त धत्त वाससा" यह मन्त्र पढ़ कर उस कन्या को अखण्ड वस्त्र (किसी पूरे वस्त्र में से फाड़ कर न लिया हो) पहनावे। यही "कन्यावासपरिधापन" है ॥१८॥

प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत् सोमोऽददद्गन्धर्वायेति पश्चादग्नेः संवेष्टितङ्कटमेवञ्जातीयं वाऽन्यत् पदा प्रवर्त्तयन्तीं वाचयेत् प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पतामिति स्वयञ्जपेदजपन्त्याम्प्रास्याइतिबर्हिषोऽन्तङ्कटान्तम्प्रापयेत्१९-२२

ततश्च 'प्रावृतां' आच्छादितां किञ्च 'यज्ञोपवीतिनीं' यज्ञोपवीतयुतां तां कन्याम् 'अभि' अभिमुखम् 'उत्' उत्कृष्टरूपेण 'आनयन्' समीपमानीय भावी पतिः"सोमोऽददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वोऽददद्‌ग्नये रयिञ्च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्य मथोइमाम्"॥ ७ ॥ (म० ब्रा० १, १, ७)'-'इति' मन्त्रं 'जपेत्' पठेत्। अपिच 'अग्नेः पश्चात्' 'संवेष्टितं कटम्' एवञ्जातीयं कटतुल्यम् 'अन्यत्' आस्तरणं वा 'प्रवर्त्तयन्तीं' पदा चालयन्तीं "प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताꣳ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम्"॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, १, ८)'-'इति' वधूं 'वाचयेत्'। 'अजपन्त्यां' तस्यां"प्रास्याः पतियानः पन्थाः कल्पताꣳ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गम्याः"॥९॥ (म० ब्रा० १, १, ९वा)'-'इति' इमं मन्त्रं 'स्वयम्' एव जपेत्। एवमेव चालयन्तीं कटान्तं 'बर्हिषः' आस्तृतस्य 'अन्तं' समीपं 'प्रापयेत्' ॥ १९-२२ ॥

भा०:-पीछे उस कन्या को कपड़ा से ढाक कर, यज्ञोपवीतिनी (जनेउ

पहना कर) करके पति अपने सामने निकट लाकर 'सोमोऽददद्' यह मन्त्र पढ़े, एवं अग्नि के पीछे स्थापित 'कट' या इसी प्रकार का अन्य आसन, उस कन्या के पैर से चलाकर अग्नि के समीप बिछाया हुआ 'बर्हि' तक ले आवे। उस समय इस भावी वधू को "प्र मे" मन्त्र पाठ करावे, वह यदि पाठ न कर सके तो भावीपति 'प्रास्या' मन्त्र स्वयं ही पढ़े ॥ १९—२२ ॥

पूर्वे कटान्ते दक्षिणतः पाणिग्राहस्योपविशति दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमꣳसमन्वारब्धायाः षड़ाज्याहुतीर्जुहोत्यग्निरेतु प्रथम इत्येतत्प्रभृतिभिर्महाव्याहृतिभिश्च पृथक् समस्ताभिश्चतुर्थीम् ॥ २३—२६ ॥

'पूर्वे कटान्ते' कटस्य पूर्वप्रान्ते 'पाणिग्राहस्य' पाणिग्रहणे प्रवृत्तस्य भाविपत्युः 'दक्षिणतः' दक्षिणस्याम् 'उपविशति' वधूरितिशेषः (२३)। दक्षिणेन पाणिना' वरस्य 'दक्षिणम् अंसम्' 'अन्वारब्धायाः' अन्वारम्भणं पृष्ठतः स्पर्शनं तत् कुर्वाणायाः वध्वाः ग्रहणद्योतकमङ्गलकामनया "अग्निरेतु प्रथमो देवताभ्यः, सोऽस्यै प्रजां मुञ्चातु मृत्युपाशात्, तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां। यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥ १० ॥ इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः, प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोतु। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता, पौत्रमानन्दमभि विबुध्यतामियꣳ स्वाहा ॥११॥ द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च स्तनन्धयन्ते पुत्रांत्सविताभिरक्षत्ववासꣳपरिधानाद्, बृहस्पतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षतु पश्चात् स्वाहा ॥ १२ ॥ मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु। मा त्वꣳ रुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज, पश्यन्ती प्रजाꣳ सुमनस्यमानाꣳ स्वाहा ॥ १३ ॥ अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वा अघम्। शीर्ष्णः स्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा ॥१४॥ परैतु मृत्युरमृतं म आगाद्, वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्यं इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ब्रवीमि मानः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरान् स्वाहा" ॥ १५ ॥ १ (म० ब्रा० १, १, १०—१५)'—इत्येतत् प्रभृतिभिः षड्भिर्मन्त्रैः 'षट् आज्याहुतीः' 'जुहोति' जुहुयात् पाणिग्राह इति शेषः (२४)। 'महाव्याहृतिभिः' तिसृभिः 'पृथक्' विभक्ताः तिस्र आहुतीर्जुहुयात् (२५)। समस्ताभिः' ताभिः 'चतुर्थीम्' आहुतिं 'च' जुहुयात् (२६) ॥२२—२६॥

इतिसामवेदीयगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् २, १

भा:०—उस पैर से चलाई हुई चटाई के पूर्व प्रान्त में पाणिग्रहण के लिये प्रवृत्त पति के दाहिनी ओर वधू बैठे ॥ २३ ॥ कन्या अपने दहिने हाथ के द्वारा, वर के दक्षिण स्कन्ध छू लेवे, एवं वर, कन्या के ग्रहण द्योतक कल्याण प्रार्थना करने में प्रवृत्त होकर ' अग्निरेतु प्रथमः ', प्रभृति छः मन्त्र द्वारा छः आहुति प्रदान करे ॥२४॥ पीछे 'भूः', भुवः और स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों का पाठ कर, भिन्न २ तीन होम करे ॥ २५ ॥ एवं इन तीन को एकत्र 'भूर्भुव :स्वः' पढ़ कर चतुर्थ होम सम्पन्न करे ॥ २६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ॥२.१॥

हुत्वोपोत्तिष्ठतः ॥ १ ॥

'हुत्वा' महाव्याहृत्यन्तम् 'उपोत्तिष्ठतः' उपोत्थानं मिथः पृष्ठतः स्कन्धार्पितहस्तौ सन्तौ उत्थानं कुर्वतः दम्पतीति ॥ १ ॥

भा:०—उस महाव्याहृति होम के अनन्तर दोनों एकत्र 'उपोत्थान' करे। अर्थात् उत्थान काल में वर के दहिने हाथ में, कन्या के पीठ पर होकर दहिने कन्धे पर, और कन्या के बायें हाथ, वर के पीठ पर होकर बायें कन्धे पर रहे॥१

अनुपृष्ठं पतिः परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते वध्वञ्जुलिं गृहीत्वा ॥ २ ॥

'पतिः' 'अनुपृष्ठं' परिक्रम्य' पृष्ठपरिक्रमणेन 'दक्षिणतः' पत्न्या दक्षिणस्यां गतः पतिः "वध्वञ्जुलिं गृहीत्वा" 'उदङ्मुखः' सन् 'अवतिष्ठते' ॥ २ ॥

भा:०—पति, वधू के पीठ की ओर हो कर दहिने ओर चल कर, उस की अञ्जुलि पकड़ कर उत्तर मुंह हो बैठे ॥ २ ॥

पूर्व्वा माता लाजानादाय भ्राता वा वधूमाक्रामयेदश्मानं दक्षिणेन प्रपदेन ॥ ३ ॥

'माता भ्राता वा' 'लाजान्' 'आदाय' गृहीत्वा स्वान्तिके 'वधूं' 'दक्षिणेन प्रपदेन' 'अश्मानं' सोपलशिलापट्टकम् 'आक्रामयेत्' आरोहयेत् ॥ ३ ॥

भा:०—माता, या भ्राता लाजा लेकर वधूको दहिने पैरके अग्रभाग से 'अश्माक्रमण' (शिलारोहण) करावे। अर्थात् लोढ़ा सहित शिला पर (चलावे) ॥३॥

पाणिग्रहो जपतीममश्मानमारोहेति ॥ ४

तस्मिन्नेवाक्रमणकाले "इममश्मान मारोहाश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव। द्विष-

समपबाधस्व मा च त्वं द्विषतामधः” ॥ १ ॥ (म० ब्रा० १, २, १) 'इति' इमं मन्त्रं 'पाणिग्राहः' पाणिग्रहणकारी पतिः 'जपति' जपेत् पठेदित्यर्थः ॥४॥

भा०:—उस 'अश्माक्रामण' काल में पाणिग्रहणकारी 'इममश्मानमारोह' इस मन्त्र को पढ़े ॥ ४ ॥

सकृत् संगृहीतं लाजानामञ्जलिं भ्राता वध्वञ्जलावावपति तथ्ंसोपस्तीर्णाभिघारितमग्नौ जुहोत्यविच्छिन्दत्यञ्जलिमियं नार्य्युपब्रूतेऽर्यमणं नु देवं पूषणमित्युत्तरयो र्हुते पतिर्यथेतं परिव्रज्य प्रदक्षिणमग्निं परिणयति मन्त्रवान् ब्राह्मणः कन्यलापितृभ्यइति परिणीता तथैवावतिष्ठते तथाऽऽक्रामति तथा जपति तथाऽऽवपति तथा जुहोत्येवं त्रिः ५–१०

'सकृत्' एकवारं 'संगृहीतं' 'लाजानाम् अञ्जलिं' 'भ्राता' 'वध्वञ्जलौ' स्वभगिन्या अञ्जलौ "आवपति" प्रयच्छति (५) । 'सा' वधूः 'तम्' भ्रातृदत्तम् 'अञ्जलिं' लाजाञ्जलिम् 'उपस्तीर्णाभिघारितं पूर्वोक्तप्रकारेण (१।८। ४) प्रकृत्य 'अविच्छिन्दती' विच्छेदमञ्जलिभेदमकुर्वन्ती "इयं नायर्युपब्रूते अग्नौ लाजानावपन्ती । दीर्घायुरस्तु मे पतिः । शतं वर्षाणि जीवत्वेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १. २, २)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'अग्नौ' 'जुहोति' जुहुयात (६) 'हुते' लाजाहोमे सम्पन्ने अनन्तरं 'मन्त्रवान्' अधीतवेदो 'ब्राह्मणः' * 'पतिः' 'यथा' येन प्रकारेण पत्नीपृष्ठदेशेन 'इतं, गतं, तथैव 'अग्निं, 'प्रदक्षिणं' यथास्यात् तथा 'परिव्रज्य, प्रत्यागत्य "कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमपदीक्षामयष्ट । कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः" ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १, २, ५)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'परिणयति' तां कन्या मिति शेषः; पतिलोकप्रापणं बोधयति कन्या मिति भाव; (७) 'परिणीता' च सा पत्नी 'तथैव' पूर्वोक्तप्रकारेणैव (२ सू०) 'अवतिष्ठते' ; 'तथा' एव 'आक्रामति' अश्मानम् (३ सू०) ; 'तथा' एव 'जपति' (४ सू०) 'पतिः; 'तथा' एव (५ सू०) 'आवपति' भ्राता; 'तथा' एव (६ सू०) 'जुहोति' वारद्वयम् कन्या स्वयमेव (९) । अत्र च 'उत्तरयोः' लाजाहोमयोः "अर्यमणं नु देवं

---

* मन्त्रवत्त्वेनैव ब्राह्मणत्वं पतियोग्यनवञ्चे तयेव द्योतयितु मिह पत्युरेव विशेषणद्वयम् । कश्चिदिह 'वा, पदमपि, परं मदधीतादिपुस्तकेषु सर्वत्रैवात्र 'वा , पदस्यादर्शनात् परिणयकाले कथमपि पत्यनुपस्थितेरसम्भवात् प्रतिनिधरत्यन्तानावश्यकत्वाच्चासङ्गतएव तादृशः पाठ इत्यनिच्छयापि त्यक्त मिह सुहृदो मन मादृतश्च तत्तत्कारस्येति सन्यः ॥

कन्या अग्निमयक्षत । स इमां देवो अर्यमा प्रेतो मुञ्चातु मा मुत स्वाहा" ॥३॥ (म० ब्रा० १,२, ३)'-"पूषणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत । स इमां देवः पूषा प्रेतो मुञ्चातु मा मुत स्वाहा" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, २, ४)'-'इति एतौ मन्त्रौ यथाक्रमेण प्रयोक्तव्याविल्येव विशेषः (९) । 'एवम्' प्रथमलाजाहोमेनोत्तरलाजाहोमद्वयमेलनेन सङ्कलनया 'त्रिः' होमत्रयं सम्पन्नम् । (१०) । इति गता परिणयक्रिया ॥ ५-१० ॥

भा०:—कन्या का भाई, एक ही बार एक अञ्जलि लाजा लेकर अपनी बहिन की अञ्जलि में देवे, उस भाई की दियी हुई लाजा की अञ्जलि को पूर्वोपदेशानुसार (१।८।३-४) 'उपस्तीर्णाभिघारित' कर अञ्जलि अलग २ न हों जावे, इसप्रकार सावधानी से " इयं नार्युपब्रूते " इस मन्त्र से, वधू अग्नि में आहुति देवे । ६ । इस प्रकार आहुति देने पर, वेदज्ञ ब्राह्मण पति ने जिस प्रकार गमन किया था, उसी प्रकार । अर्थात् कन्या को आगे लेकर अग्नि की प्रदक्षिणा कराते हुये, पुनः आकर 'कन्यला पितृभ्यः' इस मन्त्र का पाठ करके उस कन्या को 'परिणीता' करे । अर्थात् कन्या जो पति लोक पाती है, यह बात उसे समझा देवे ॥ ८ ॥ इस प्रकार वधू परिणीता होने पर और भी दो बार उसी प्रकार अवस्थान (सू० २), अश्माक्रमण (३ सू०), मन्त्र पाठ, (सू० ४), लाजा वपन (सू० ५), और लाजाहोम करे । (९) किन्तु इन दोनों होम में पूर्वमन्त्र नहीं पढ़े । प्रत्युत उसके बदले में 'अर्यमणं नु देवं' एवं 'पूषणं', इन दो मन्त्रों का पाठ यथा क्रम से करे ॥ ९ ॥ इस प्रकार तीन लाजा होम सम्पन्न होंगे । इसी को 'परिणय' कहते हैं ॥ ५-१० ॥

शूर्पेण शेषमग्नावोप्य प्रागुदीचीमभ्युत्क्रामन्त्येकमिष इति दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुक्रामेन्मा सव्येन दक्षिणमतिक्रामेति ब्रूयात् ॥ ११-१३ ॥

'शेष' लाजानम्, 'शूर्पेण' गृहीत्वा 'अग्नौ' 'ओप्य' अमन्त्रकमेव निक्षिप्य 'प्रागुदीचीम्' ऐशानीं विदिशम् " एक मिषे विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ६ ॥ द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ७ ॥ त्रीणि व्रताय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ८ ॥ चत्वारि मयो भवाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥९॥ पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥१०॥ षड् रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥११ ॥ सप्त सप्तभ्यो होत्राभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥ १२ ॥ सखा सप्तपदी भव सख्यं ते गमयछं सख्यं ते मायोषाः सख्यं ते मायोष्ठ्याः ॥ १३ ॥ (१, २, ६-७)"-'इति' सप्तभिः यजुर्भिः सप्तवारमुत्तरोत्तरम् अभ्युत्क्रामन्ति

मान्त्रादिपरिजना वधूमिति (११) तत्र चाक्रामक्रमनुपदिशति;—'दक्षिणेन पादेन' 'प्रक्रम्य' भूमिम्, 'अनु' पश्चात् 'सव्येन' पादेन 'क्रामेत्' तामेव स्थलीम् (१२)। परं तत्रापि 'सव्येन दक्षिणं मा अतिक्राम'—'इति' इम मुपदेशं ब्रूयात् ताम् (१३) एवञ्च प्रथमं सव्यपादक्षेपणं, सव्येन पादेन दक्षिणपादाक्रमणञ्च निषिद्धमिति। गतमिदं सप्तपदीगमनम् ॥ ११—१३ ॥

भा०:—तीन वार हुतावशिष्ट लाजा आदि सूप में लेकर विना मन्त्र पढ़े, अग्नि में डाले। ईशान कोण में 'एक मिषे' प्रभृति सात मन्त्र पढ़ २ कर वधू को यथा क्रम से, सात पग चलावे। उस में विशेष लक्ष्य यह हो कि पहिले बायां पैर आगे न रक्खे, और बायें पैर से दक्षिण पग आक्रान्त भी न हो। इसी को सप्तपदीगमन कहते हैं ॥ ११—१३ ॥

ईक्षकान् प्रतिमन्त्रयेत सुमङ्गलीरियं वधूरिति ॥१४॥

तदनन्तरम् "सुमङ्गली रियं वधू रिमाँ समेत पश्यत। सौभाग्य मस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन" ॥१४॥ (म० ब्रा० १,२, ८)—'इति' इमं मन्त्रं पठन् पाणिग्राहः 'ईक्षकान्' विवाहदर्शकान् सर्वानेवाविशेषेण 'प्रति मन्त्रयेत' आशीः प्रार्थयेत। इदमेव प्रेक्षकामन्त्रणम् ॥ १४ ॥

भा०:—उस के अनन्तर 'सुमङ्गलीरियं वधू' इस मन्त्र को पढ़ कर दर्शकों के निकट आशीर्वाद लेने का पात्र होवे ॥ १४ ॥ यही निरीक्षण (प्रेक्षण) है।

अपरेणाग्निमौदकोऽनुसंव्रज्य पाणिग्राहं मूर्द्धदेशेऽवसिञ्चति तथेतराᳬसमञ्जन्त्वित्येतयर्चा ॥ १५

ततश्च 'औदकः उदककुम्भयुक्तः कश्चन पुरुषः 'अग्निम् अपरेण' अग्नेः पश्चिमतः दम्पतीस्थानं 'अनुसंव्रज्य' समागत्य 'पाणिग्राहं' वरं 'तथैव इतरां' वधूञ्च "समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापोः हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु" ॥१५॥ (म० ब्रा० १,२,९) 'इति एतया ऋचा' दम्पतीभ्यामुच्यमानया स्नपनकालं संलक्ष्य 'मूर्द्धदेशं' तयोरुभयोरेव 'अवसिञ्चति' आ सिञ्चेत् उदकेनैवेत्यासिञ्चनम् ॥ १५ ॥

भा०:—अनन्तर कोई जलवाहक व्यक्ति अग्नि के पश्चिम भाग में आकर विवाह के लिये उद्यत वर और कन्या के माथे पर जल डाल कर स्नान करावे और, उसी समय दम्पती एक वाक्य से 'समञ्जन्तु' मन्त्र पढ़े ॥ १५ ॥

अवसिक्तायाः सव्येन पाणिनाञ्जलिमुपोद्गृह्यदक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिᳬ साङ्गुष्ठमुत्तानं गृहीत्वंताः षट्

पाणिग्रहणीया जपति गृभ्णामि त इति ॥ १६ ॥

'अवसिक्तायाः' वध्वाः 'अञ्जलिं' 'सव्येन पाणिना' 'उपोद्गृह्य' स्वसमीपे कञ्चिदूर्ध्वीकरणपूर्वकं प्रगृह्य, तस्याएव 'साङ्गुष्ठम्' अङ्गुष्ठसहितम् 'उत्तानं' पृष्ठनिम्नं 'पाणिं' आमणिबन्धाङ्गुलिचयं 'दक्षिणेन पाणिना' 'गृहीत्वा' "गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वा दुर्गार्हपत्याय देवाः॥१६॥ अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्जीवसूर्देवसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥१७॥ आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोक माविश शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१८॥ इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः सपुत्रां सुभगां कृधि। दशास्यां पुत्रानाधेहि पति मेकादशं कुरु ॥ १९ ॥ संम्राज्ञी श्वशुरे भव संम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि संम्राज्ञी भव संम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥ २० ॥ मम व्रते ते हृदयं दधातु, मम चित्त मनुचित्तं ते अस्तु। मम वाच मेकमना जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्" ॥२१॥ (१, २, १०-१५)-'इति' 'एताः' 'पाणिग्रहणीयाः' पाणिग्रहणार्थबोधिकाः ऋचः षट् 'जपति' जपेत् पाणिग्राह इति शेषः। इति गतं पाणिग्रहणम् ॥ १६ ॥

भा०:-पति, उस जल सिक्त वधू के अञ्जलि को वायें हाथ से ग्रहण कर, अपने निकट कुछ ऊपर लेकर दहिने हाथ से तदीय साङ्गुष्ठ उत्तान दहिना हाथ (मणिबन्ध अर्थात् हाथ के पहुंचे से अङ्गुलि तक) पकड़ कर "गृभ्णामि ते" इत्यादि विवाहार्थ बोधक मन्त्र पढ़े। इसी का नाम विवाह है ॥ १६ ॥

समाप्तासूद्वहन्ति ॥ १७ ॥ २ ॥

'समाप्तासु' पाणिग्रहणान्तक्रियासु 'उद्वहन्ति' पतिलोकं प्रापयन्ति वधूम् स्वजनाः रथादयो वा करणादीनामपि कर्त्तृत्वं भवत्येव, कारकाणां विवक्षाधीनत्वात् 'काष्ठाः पचन्ति' इत्यादि भाष्यमेव निदर्शनमिति। इत्युद्वाहः ॥१७॥

इति सामवेदवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ २, २ ॥

भा०:-पाणिग्रहण के अन्त तक सब क्रिया समाप्त होने पर, उस वधू को स्वजनगण, रथ आदि पर, सवार करा पति के घर पहुंचावें। यही "उद्वाह" है १७

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीयखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ २ । २ ॥

—:०:—

प्रागुदीच्यां दिशि यद्ब्राह्मणकुलमभिरूपन्तत्राग्नि-रुपसमाहितो भवति ॥ १ ॥

'प्रागुदीच्यां' ऐशान्यां 'दिशि' 'यत्' 'अभिरूपं' तपःस्वाध्याययुतं 'ब्राह्मणकुलम्' 'तत्र' ब्राह्मणकुले 'अग्निः' वैवाहिकः 'उपसमाहितः' यथाविधि स्थापितः ' भवति ' भवेत् ॥ १ ॥

भा०:—यदि अपना मकान दूर हो, तो समीपस्थ ईशान कोण स्थित किसी उपयुक्त ब्राह्मण के घर में उत्तरविवाह सम्पादनार्थ यथाविधि अग्निस्थापन करे१

अपरेणाग्निमानडुहꣳ रोहितं चर्म प्राग्ग्रीवमुत्तर-लोमास्तीर्णं भवति ॥ २ ॥

'अग्निम् अपरेण' अग्नेः पश्चात् 'रोहितं' लोहितम् 'आनडुहं चर्म' गोचर्म 'प्राग्ग्रीवं' 'उत्तरलोम' उपरिष्टाल्लोमपृष्ठम् 'आस्तीर्णं' पातितम् 'भवति' भवेत् ॥२॥

भा०:—उस स्थापित अग्नि के पश्चिम भाग में लोहित वर्ण गौ का चमड़ा लेकर, इसप्रकार विछावे कि जिस में लोमपृष्ठ (रोम ऊपर हो) तो ऊपर को हो और पूर्व-पश्चिम लम्बा हो, चमड़े का शिरो देश पूर्वभाग में हो और इस का नीचे का हिस्सा पश्चिम दिग्गत हो ॥ २ ॥

तस्मिन्नेनां वाग्यतामुपवेशयन्ति ॥ ३ ॥

' तस्मिन् ' आस्तृते आनडुहे चर्मणि ' एनां ' ' वाग्यतां ' नियमितवाचाम् 'उपवेशयन्ति' आत्मीयजनाः ॥ ३ ॥

भा०:—उस डाले हुए गो-चर्म के ऊपर वधू को नियमित वाक्य कर बैठावे ॥३॥

सा खल्वास्तएवानक्षत्रदर्शनात् ॥ ४ ॥

'सा' वधूः 'खलु' निश्चयम् 'आनक्षत्रदर्शनात्' अस्तमिते दिवाकरे यावत् नक्षत्रैकमपि दृश्यते तावत् तथा 'एव' 'आस्ते' ॥ ४ ॥

भा०:—वह वधू नक्षत्र के उदय पर्यन्त उसी प्रकार बैठी रहे ॥ ४ ॥

प्रोक्तेनक्षत्रेषडाज्याहुतीर्जुहोतिलेखासन्धिष्वित्येतत्प्रभृतिभिः ५

'नक्षत्रे प्रोक्ते' मेघाच्छन्नादिहेतुभिः नक्षत्रोदयादर्शनेऽपि 'उदितमेव नक्षत्रमण्डलं यतस्तत्कालोऽयमागतः'—इत्येवमभिज्ञैः कथिते "लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वावर्त्तेषु च यानि ते । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ १ ॥ केशेषु यच्च पापकं मीक्षिते रुदिते च यत् तानि पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ २ ॥ शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत् । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥३॥ आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत् ।

तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ४ ॥ ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ५ ॥ यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् । पूर्णाहुतिभि राज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमम्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ३, १-६),-'इत्येतत्प्रभृतिभिः मन्त्रैः षड्भिः 'षट्' 'आज्याहुतीः' 'जुहोति' जुहुयात् पतिरिति शेषः ॥ ५ ॥

भा०:-यदि मेघ आदि के कारण नक्षत्रोदय दीख न पड़े, तो किन्हीं प्राज्ञ ज्योतिषी के बतलाये हुए नक्षत्रोदय काल में 'लेखासन्धिषु' इत्यादि छः मन्त्रों से छः आहुति देवे ॥ ५ ॥

आहुतेराहुतेस्तु सम्पातं मूर्द्धनि वध्वा अवनयेत् ॥ ६ ॥

'आहुतेः आहुतेः' प्रत्याहुतेः ' सम्पातं तु अवशिष्टघृतधारां वध्वा मूर्द्धनि 'अवनयेत्' ॥ ६ ॥

भा०:-उन प्रत्येक छः आहुतियों के अन्त में उस वधू के माथे पर घृत का ढार गिरावे ॥ ६ ॥

हुत्वोपोत्थायोपनिष्क्रम्य ध्रुवं दर्शयति ॥ ७ ॥

'हुत्वा' एतत् षडाज्याहुतिहवनानन्तरं दम्पती 'उपोत्थाय' सहैवोत्तिष्ठन्तौ 'उपनिष्क्रम्य' सहैव होमस्थानान्निर्गत्य 'ध्रुवं' ध्रुवसञ्ज्ञं नक्षत्रं दर्शयति पतिः पत्नीमिति ॥ ७ ॥

भा०:-ये छः आहुति और आहुति शेष ग्रहण के पीछे, वर कन्या उठकर एकत्र होमस्थान से बाहर होकर पति, पत्नी को ध्रुव नामक नक्षत्र दिखलावे ॥७॥

ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयास ममुष्यासाविति पतिनाम गृह्णीयादात्मनश्च ॥ ८ ॥

तत्र ध्रुवदर्शनकाले 'ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासममुष्यासौ'-'इति' इमं मन्त्रं वधूः पठेत् । 'च' अपि अमुष्यइत्यस्य स्थाने स्वपतिनाम षष्ठ्यन्तम् असौ स्थाने 'आत्मनः' नाम प्रथमान्तम् 'गृह्णीयात्' ॥ ८ ॥

भा०:-उस ध्रुव दर्शन के समय 'हे नक्षत्र ! तुम स्थिर स्वभाव वाले हो, इसी कारण 'ध्रुव' (अचल) नाम से विख्यात हो । मैं भी जिससे पति कुल में स्थिरप्रकृति होऊं ? मैं अमुक नामवाली, अमुक नामक व्यक्ति की पत्नी हूं" इस मन्त्र को वधू पढ़े । इस मन्त्र के मध्यगत 'अमुक' इस पद के बदले निज पति का नाम और "अमुक नाम वाली" के बदले अपना नाम कहे ॥८॥

अरुन्धतीञ्च ॥ ९ ॥

'च' अपि 'अरुन्धतीं' नक्षत्रविशेषं दर्शयति तां पतिरिति ॥ ९ ॥

भा०:—उसी समय पति, वधू को "अरुन्धती" नामक नक्षत्र दिखलावे ॥९॥

रुद्धाहमस्मीत्येव मेव ॥ १० ॥

तत्रारुन्धतीदर्शनकाले 'रुद्धाहमस्मि'—'इति'। 'एवमेव'—पूर्वोक्तप्रकारेण पत्युः स्वस्य च नामग्रहणपूर्वकमेव वधूः पठेदिति ॥१०॥

भा०:—इस अरुन्धती के दर्शनसमय वधू कहे कि 'अमुक नाम्नी मैं, अमुक नामक पति की आज्ञा में बद्धा होती हूं' ॥ १० ॥

अथैनामनुमन्त्रयते ध्रुवाद्यौरित्येतयर्चा ॥ ११ ॥

'अथ' अनन्तरम् 'एनां' वधूं "ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्। ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्" ॥७॥ म० ब्रा० १, ६, ६)'-इत्येतया ऋचा' 'अनुमन्त्रयते' पतिरिति ॥११॥

भा०:—उसके पश्चात् पति वधू को 'ध्रुवा द्यौः' इस मन्त्र को पढ़ावे ॥११॥

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ॥ १२ ॥

'अनुमन्त्रिता' सा वधूः 'गोत्रेण' प्राप्तगोत्रं पतिगोत्रम् उच्चरन्ती 'गुरुं' पतिम् 'अभिवादयते' ॥१२॥

भा०:—इस मन्त्र को पढ़ने वाली वधू 'अमुक गोत्रा, अमुक नाम्नी मैं, तुझे अभिवादन करती हूं' कह कर पति के दोनों पैर पकड़ प्रणाम करे ॥१२॥

सोऽस्या वाग्विसर्गः ॥ १३ ॥

'सः' कालः 'अस्याः' वध्वाः 'वाग्विसर्गः' नियमित वाक्प्रयोग—नियम विसर्जनस्येति ॥१३॥

भा०:—यहां तक वधू नियमित वाक्य (आवश्यकतानुसार बोले) रह कर इस के बाद वह नियम त्याग कर अपनी इच्छानुसार बोल सकता है ॥१३॥

तावुभौ तत्प्रभृति त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणौ भूमौ सह शयीयाताम् ॥१४॥

'तत्प्रभृति' विवाहकर्मारम्भदिनतः 'त्रिरात्रं' त्रीण्यहोरात्राणि 'तावुभौ' दम्पती 'अक्षारलवणाशिनौ' क्षारलवणातिरिक्तभोजिनौ हविष्याशिनाविति यावत् 'सह' एकत्रैव तिष्ठन्तावपि 'ब्रह्मचारिणौ' सङ्गमशून्यौ 'भूमौ' पल्यङ्कादि वर्जितशय्यायाम् 'शयीयाताम्' ॥१४॥

भा०:—जिस दिन पहिले विवाह कार्य में प्रवृत्त हो, उस दिन तक पति

और पत्नी दोनों ही क्षार लवण को छोड़, हविष्य भोजन करें, किन्तु ब्रह्मचर्य नष्ट न हो, * और भूमि में शयन करें ॥ १४ ॥

(अत्रार्घ्यमित्याहुरागतेष्वित्येके)॥ १५ । १६ ॥

'अत्र' तिसृषु रात्रिषु यस्मिन् कस्मिन्नपि काले यथावसरं कन्यापित्रा वराय (अर्घ्यं) अर्हणीयवस्तुजातं मधुपर्कादिकम् प्रदातव्यम् 'इत्याहुः' प्राचीनाचार्याः (१५)। 'आगतेषु' वराद्यर्चनीयजनेषु तस्मिन्नेव काले अर्घ्येषु एव अर्घ्यं दानं कर्त्तव्यम् 'इत्येके' नव्याः (१६) ॥ १५. १६ अनयोर्भोजननियमोऽप्युच्यते,–

भा०:–इन तीन दिनों में जिस किसी दिन में,जिस किसी समय हो,कन्या का पिता अपने अवसरानुसार वर की 'मधुपर्क' आदि वस्तुओं से पूजा करे, यही प्राचीन मत है। किन्तु किसी २ का मत है कि जिन लोगों की पूजा करनी हो उनके आने के समय ही करे। इसी को 'अर्घ्यदान' कहते हैं ॥ १५।१६॥

हविष्यमन्नं प्रथमं परिजपितं भुञ्जीत श्वोभूते वा समशनीयꣳ स्थालीपाकं कुर्वीत तस्य देवता अग्निः प्रजापतिर्विश्वेदेवा अनुमतिरित्युद्धृत्य स्थालीपाकं व्यूह्यैकदेशं पाणिनाभिमृशेदन्नपाशेन मणिनेति भुक्त्वोच्छिष्टं वध्वै प्रदाय यथार्थम् ॥ १७–२१ ॥

'हविष्यं' क्षारादिवर्जितम् 'अन्नम्' 'प्रथमं' पत्नीभोजनात् पूर्वं 'परिजपितं' वक्ष्यमाणप्रकारेण विधास्यमानमन्त्रेण च (२० सू०) 'भुञ्जीत' पतिः (१७) 'वा, अथवा 'श्वोभूते' तत्परदिने 'समशनीयं' सहयुग्मभोजनयोग्यं 'स्थालीपाकं' स्थाल्यां पक्वमन्नं 'कुर्वीत' (१८)। 'तस्य' अन्नस्य भोजनाय 'अग्निः प्रजापतिः विश्वेदेवाः अनुमतिः'–'इति' इमाः चतस्रो देवताः' स्तुत्याः (१९)। 'स्थालीपाकम्' 'उद्धृत्य' पाकस्थानात् 'एकदेशं' तदीयं किञ्चिदंशं स्वभोजनयोग्यं 'व्यूह्य' पात्रान्तरे निक्षिप्य अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना। बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते॥ ८॥ यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम यदिदꣳ हृदयं मम तदस्तु तव ॥९॥ अन्नं प्राणस्य षड्विꣳशस्तेन बध्नामि त्वासौ" ॥१०॥ म० ब्रा० १, ३, ८–१०' 'इति' इमान्मन्त्रान् पठन् 'पाणिना' 'अभिमृशेत्'

* कभी जिस कन्या का रजः प्रकाश न हुआ हो ऐसी कन्या गोभिलाचार्य के मत में एवं अन्यान्य सूत्रकार एवं स्मृतिकारादि के मत से भी सम्भोग योग्या नहीं, और इस स्थान में आचार्य ब्रह्मचर्य नष्ट होने के डर से तीन रात में भी सम्भोग निषेध करते हैं। तो इस से भी स्पष्ट प्रकाशित होता है कि रजस्वला होने ही पर कन्या विवाह योग्य उत्तम होती है अन्यथा नहीं॥

परिवेशयेत् (२०) । 'भुक्त्वा' स्वभोजनानन्तरम् 'उच्छिष्टं' तत् 'वध्वै' तस्यै 'प्रदाय' 'यथार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः (२१) ॥ १७–२१ ॥

भा०:–अब आये हुए नये पति एवं भार्या के भोजन की व्यवस्था कही जाती है।–पहिला दिन तो 'अर्घ्य' के आस्वादन में उन की तृप्ति हो सकती, दूसरे दिन वधू अरुन्धती नक्षत्र के देखने पर्यन्त व्याकुल रहेगी, विशेषतः मार्ग में दूसरे के घर पर ऐसी व्याकुलता में पाक की सामग्री होनी भी कठिन होगी; यदि हो तो उसी दिन, अन्यथा, उस के दूसरे दिन प्रभात होते ही से, अपना अच्छे प्रकार भोजन योग्य पाक प्रस्तुत करे। पाक प्रस्तुत होने पर, अग्नि, प्रजापति, विश्वेदेवा, और अनुमति देवता क्रम से आराध्य होंगी। उस के अनन्तर अपने खाने योग्य दूसरे पात्र में डाल कर 'अन्न पाशेन मणिना' इस मन्त्र को पढ़ कर 'परिवेशन' कर भोजन करे। पीछे खाने पर बचे अन्न वधू को देकर स्वयं यथेच्छ विचरण करे ॥ १७–२१ ॥

गौर्दक्षिणा ॥ २२ ॥ ३

अस्य कर्मणः 'दक्षिणा' 'गौः' एकेति ॥ २२ ॥ ३

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेतृतीयखण्डस्य व्याख्यानंसमाप्तम्।२,३

भा०:–इस विवाह कार्य में दक्षिणा एक गौ देवे ॥ २२ ॥

गोभिलगृह्य सूत्र के द्वितीय अध्याय के तीसरे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ॥२,३॥

—:०:—

यानमारोहन्त्याᳬसुकिᳬशुकᳬशाल्मलिमित्येतामृचं जपेत्॥१

'यानं' रथादिकम् 'आरोहन्त्यां' तस्यां वध्वा सुकिᳬ शुकᳬ शल्मलिं विश्वरूपᳬ सुवर्णवर्णᳬ सुकृतᳬ सुचक्रम्। आरोह सूर्ये अमृतस्य नाभिᳬ स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥११॥ (म० ब्रा० १, ३, ११)'–'इत्येताम् ऋचं 'जपेत' पतिरिति शेषः। १

भा०:–पति के घर जाने के लिये वधू को रथ आदि सवारी पर बिठलावे एवं वधू के चढ़ते समय पति 'सुकिं शुकं शाल्मलिं' यह मन्त्र पढ़े ॥ १ ॥

अध्वनि चतुष्पथान् प्रतिमन्त्रयेत नदीश्च विषमाणि च महावृक्षाञ्छ्मशानञ्च मा विदन् परिपन्थिन इति ॥२॥

'अध्वनि' पथि 'चतुष्पथान्, नदीश्च' 'विषमाणि च' सङ्कटस्थानानि च, 'महावृक्षान् श्मशानं च' प्राप्य "मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती सुगेभि र्दुर्गमतीता मपद्रान्त्वरातयः" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० १, ३, १२),–'इति

इमं मन्त्रं पठन् 'प्रति' प्रतिवारं यदा यदा उपतिष्ठेत तदा तदैव 'मन्त्रयेत' मननमीश्वरचिन्तनं कुर्यात्। २

भा०:—मार्ग में चौराहा नदी, या किसी प्रकार का सङ्कट स्थान, बड़ा वृक्ष, और श्मशान, जब २ मिले तब २ 'मा विदन् परिपन्थिनो' इस मन्त्र को पढ़ते हुए ईश्वर का चिन्तन करे ॥ २ ॥

अक्षभङ्गे नद्धविमोक्षे यानविपर्य्यासेऽन्यासु चापत्सु, यमेवाग्निꣳहरन्ति तमेवोपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वान्यद्द्रव्य माहृत्य यज्ञर्तेचिदभिश्रिषइत्याज्यशेषेणाभ्यञ्ज्येत् ॥ ३

'अक्षभङ्गे' रथचक्रे भग्ने, 'नद्धविमोक्षे' नद्धात् प्रच्युतेऽश्वादौ 'यानविपर्यासे' वाहनदौरात्म्येन रथस्य पश्चात् पार्श्वयोर्वा गमने सति, 'च' अपि 'अन्यासु आपत्सु' समापतितासु किंकर्त्तव्यमित्याह;—तदा 'यमेवाग्निं' लौकिकमलौकिकं (१, १, १५–१९ सू०) वा 'हरन्ति' आहरन्ति विपत्पातदर्शनसञ्जातादयः स्वजनाः पान्थास्तद्ग्राम्या वा 'तमेव, अग्निम् 'उप' समीपे 'समाधाय' सम्यक् प्रज्वाल्य तत्रैवाग्नौ 'व्याहृतिभिः' तिसृभिः आज्यतन्त्रेण 'हुत्वा' ततः 'अन्यद्द्रव्यं' अन्यच्चक्रादिकं यानान्तरं वा 'आहृत्य' समीपतो यथालभ्यं संगृह्य 'यज्ञतेचिदभिश्रिषे (सा० छ० आ० ३, २, १, २)'–'इति' ऋङ्मूलकं साम (गे० गा० ६, २, २२) गायन् [अनादिष्टपरिभाषयात्र साम्न एव बोधः सूत्रे ऋगादिपदानुल्लेखात्] 'आज्यशेषेण' हुतावशिष्टेनाज्येन तं चक्रादिकं यथास्थानं 'अभ्यञ्ज्येत्' स्नपयेत् ॥ ३ ॥

भा०:—यदि मार्ग में रथ का पहिया टूट जावे, या रथ हांकने वाला रथ से गिर जावे, या मार्ग से भिन्न, या पीछे रथ को गिरा देवे, तो इस से अशुभ होने का सन्देह करके, इस दोष की शान्ति के लिये उसी स्थान में अग्नि स्थापन कर तीन महाव्याहृति का पाठ कर आहुति देवे। यह अग्नि पूर्वोक्त विधानानुसार (प्र० १ खं० १ सू० १५–१९) संगृहीत करने से अच्छा होगा। यदि किसी कारण ऐसा न हो, तो चाहे जिस प्रकार का हो, क्षति नहीं। पीछे पहिया, या दूसरी सवारी मिलने पर 'य ज्ञतेचिदभिश्रिषे (सा० छ० आ० ३, २, १, २)' ऋङ्मूलकसाम (गे०गा० ६, २, २२) गान करके होमावशिष्ट घृत, उस चक्रादिक के उचित स्थान में लगा देवे ॥ ३ ॥

वामदेव्यं गीत्वाऽऽरोहेत् प्राप्तेषु वामदेव्यम् ॥ ४, ५ ॥

ततः वामदेव्यं वामदेव्यनामकं साम 'गीत्वा' 'आरोहेत्' पुनरपि रथादि यानं, पतिः वधूसहितः(४)।'प्राप्तेषु'स्वगृहेषु पुनरपि 'वामदेव्यं' गायेदितिशेषः॥४,५॥

भा०—सवारी के दोष दूर होने और दूसरी सवारी आ जाने पर। उस में वधू सहित पति के उठते समय 'वामदेव्य सामगान' करे और पीछे अपने २ घर आने पर सवारी से उतरते समय भी 'वामदेव्य' गान करे॥ ४, ५॥

गृहगतां पतिपुत्रशीलसम्पन्ना ब्राह्मण्योऽवरो प्यानडुहे चर्मण्युपवेशयन्तीह गावःप्रजायध्वमिति तस्याः कुमारमुपस्थ आदध्युस्तस्मै शकलोटानञ्जलावावपेयुः फलानि वा॥६-९॥

ततः 'गृहागतां' पतिभवनद्वारोपनीतां तां वधूं 'पतिपुत्र-शीलसम्पन्नाः' 'ब्राह्मण्यः' तस्मात् यानात् 'अवरोप्य' अवतार्य 'आनडुहे चर्मणि' पातितगोचर्मोपरि "इह गावः प्रजायध्व मिहाश्व इह पूरुषः। इहो सहस्र दक्षिणोपि पूषा निषीदतु" ॥१३॥ (म० ब्रा० १, ३, १३)'—'इति' मन्त्रं पठन्त्यः ताएव तां तत्र 'उपवेशयन्ति' (६)। तस्याः 'उपस्थे' क्रोडे ताएव ब्राह्मण्यः 'कुमारम्' यं कमपि 'आदध्युः' स्थापयेयुः (७)। 'तस्मै' कुमाराय क्रीडार्थं 'शकलोटान्' कर्द्दमनिर्मितसुपक्वगोलकान् क्रीडनकान् 'अञ्जलौ' 'आवपेयुः' प्रदद्युः (८)। 'वा' अथवा 'फलानि' आम्रादीनि आवपेयुरित्येव (९)॥ ६—९॥

भा०—इस के बाद पति के घर के द्वार पर लायी हुई उस वधू को, पति पुत्र वाली और शील सम्पन्ना ब्राह्मणीगण, सवारी से उतार कर 'इह गावः प्रजायध्वं' इस मन्त्र को पढ़ कर बिछाए हुए गो-चर्म के ऊपर उसे बिठलावें। ६। उस वधू के गोद में उन्हीं ब्राह्मणी गण में से, कोई एक हो, एक लड़के को अर्पण करे। ७। और उस बालक की अञ्जलि में कई एक मट्टी का बना सुन्दर अग्निपक्व (गेन्द के समान) खेलने के लिये देवे। ८। या खाने के लिये आम्र आदि मधुर फल भी दे सकते हैं। ९। ६—९॥

उत्थाप्य कुमारं ध्रुवा आज्याहुतीर्जुहोत्यष्टाविहधृतिरिति॥१०

ततश्च तस्याः उत्सङ्गतः 'कुमारं' पूर्ववदन्तम् 'उत्थाप्य' 'ध्रुवाः' ध्रुवनामतः प्रसिद्धाः 'अष्टौ' सङ्ख्याकाः 'आज्याहुतीः' आज्यतन्त्रेण आहुतीः "इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रन्ति रिह रमस्व मयि धृतिर्मयि स्वधृतिर्मयि रमो मयि रमस्व॥ १५॥ (म० ब्रा० १, ६, १, ४)'—'इति' एतत्प्रभृतिभिरष्टाभिर्यजुर्भिः यथाक्रमतः 'जुहोति' जुहुयात् पतिः॥ १०

भा०—पश्चात्, पति उस वधू के गोद में दिये हुए बालक को उठा कर 'इहधृति' प्रभृति आठ यजुर्वेद के मन्त्रद्वारा ध्रुव नाम से प्रसिद्ध आठ आहुति, आज्य तन्त्र से प्रदान करे ॥ १० ॥

समाप्तासु समिधमाधाय यथावयसं गुरून् गोत्रेणाभिवाद्य यथार्थम् ॥ ११ ॥ ४

'समाप्तासु' ध्रुवाहुतिषु 'समिधम्' तत्राग्नौ अमन्त्रकमेव 'आधाय' प्रदाय 'यथावयसं' वयोऽनुसारेणोत्तरोत्तरं गुरून् मान्यान् तत्रोपस्थितान् 'गोत्रेण' गोत्रोच्चारणपूर्वकम् 'अभिवाद्य'पादग्रहणेनप्रणम्य'यथार्थम्' स्वप्रयोजनानुसारतो-विहरेत् ११ । ४ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्।२.४

भा०—उक्त ध्रुवाहुति पूरी होने पर, उसी अग्नि में बिना मन्त्र पढ़े एक समिधा डालकर पश्चात् उस स्थान में उपस्थित गुरु गण (मान्य लोगों) के वयसानुसार अर्थात् बड़ी उमर वाले पहिले, पीछे छोटी उमर वाले को इस क्रमसे पैर पकड़ २ कर अभिवादन करे और साथ २ अपना गोत्रभी कहता जावे॥११॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेद्वितीयअध्यायकेचतुर्थखण्डकाभाषानुवादपूराहुआ २, ४ ।

—:०:—

अथातश्चतुर्थीकर्म्म ॥ १ ॥

'अथ' अनन्तरम्, 'अतः' इतआरभ्य 'चतुर्थीकर्म्म' विवाहरात्रितः चतुर्थ्यां तिथौ करणीयम् वक्ष्मीति शेषः ॥ १ ॥

भा०—इसी प्रकार विवाह की रात्रि से तीन रात्रि बीतने पर चतुर्थ दिन में जो २ कार्य करने होंगे उन्हीं का वर्णन करता हूं ॥ १ ॥

अग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताज्याहुतीर्जुहोत्यग्ने प्रायश्चित्ते इति चतुरग्नेः स्थाने वायुचन्द्रसूर्याः समस्य पञ्चमीं बहुवदूह्याहुतेराहुतेः स्रुवसम्पातमुदपात्रेऽवनयेत्तेनैनाᳫं सकेशनखामभ्यज्य ह्रासयित्वा प्लावयन्ति ॥ २-६ ॥

'अग्निम्' 'उपसमाधाय' "अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याःपापी लक्ष्मी स्तामस्या अपजहि॥१॥ वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या पतिघ्नी तनूस्ता मस्या अपजहि ॥२॥ चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यातनूस्ता मस्या

अपजहि ॥ ३ ॥ सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अवग्रथ्या तनूस्ता मस्या अपजहि ॥ ४ ॥ अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीर्या पतिघ्नी या पुत्र्या या पाशव्या ता अस्या अपहत" ॥५॥ (म० ब्रा० १, ४ १)'–'इति' एभिर्मन्त्रैः पतिः 'चतुः' सङ्ख्याः प्रायश्चित्ताहुतीः' प्रायश्चित्ताय वधूपापप्रशमनाय आज्यतन्त्रेण आहुतीः 'जुहोति' जुहुयात् (२) । तत्र च द्वितीयादिषु तिसृष्वाहुतिषु 'अग्ने'–इति पदस्य स्थाने क्रमेण 'वायुचन्द्रसूर्याः' ऊह्याः (३) । किन्तु 'पञ्चमीम्' 'समस्य' सर्वस्य आहुतीम् अग्न्यादिपदचतुष्टयस्य मेलनेन 'अग्निवायुचन्द्रसूर्याः'–इत्येवं सम्बुध्य अपिच 'बहुवद् ऊह्य' एकवचनस्थाने बहुवचनप्रयोगेण मन्त्रपाठं विपरिणमय्य जुहुयादित्येव (४) । 'आहुतेराहुतेः' प्रत्याहुतेरेव 'स्रुवसम्पातं' अवशिष्ट घृतधाराम् 'उदपात्रे' चमसे 'अवनयेत्' स्थापयेत् (५) । 'तेन' रक्षितसम्पातसमुदायेन 'एनां' वधू 'सकेशनखां' आपादमस्तकां सर्वतएव 'अभ्यज्य' म्रक्षयित्वा 'ह्रासयित्वा' यानागमनादिजनितक्लेशान् शरीर व्यथारूपान् लाघवयित्वा 'आप्लावयन्ति, प्रवाहादिषु सन्तरणादिना स्नापयेयुः सख्यादयः स्वजना इति यावत् (६ ॥ २–६ चतुर्थीरात्रिकर्त्तव्यं गर्भाधानमाह;–

भा०—पति, पत्नीके पूर्वकृत पाप के प्रायश्चित्त के लिये अग्नि स्थापन कर 'अग्नेप्रायश्चित्ते' इन मन्त्रों द्वारा आज्य तन्त्र से चार आहुति देवे (२) उनमें से द्वितीय आदि आहुति में इस मन्त्रस्थ अग्नि के बदले 'वायु' 'चन्द्र' और 'सूर्य' पढ़ना चाहिये, यही इसमें विशेषता है ।३। और पांचवी आहुती में 'अग्नि', 'वायु', 'चन्द्र' और 'सूर्य' इन्हीं चार देवताओं को एककाल में सम्बोधन करे, सुतरां मन्त्रस्थ जितने एक वचन हैं, उन सब को बहु वचन करके पढ़े । ४ । इन पांच प्रायश्चित्त आहुति की प्रत्येक आहुति के अन्त में घृत के धारसम्पात क्रमसे चम से में रक्षित रक्खे ।५। इस रक्षित आज्य के द्वारा उस वधू के पैर से मस्तक तक सर्वाङ्ग में अच्छे प्रकार लगा देवे, उस से मार्ग की थकावट दूर होगी, पीछे सखी आदि मिल कर नदी आदि की धारा में तैरने रूप जल क्रीड़ा आदि करके नई बहू को स्नान करावे ॥ ६ ॥ २–६ ॥ इस के अनन्तर चतुर्थी रात्रि में कर्त्तव्य गर्भाधान की व्यवस्था कही जाती है ॥

ऊर्द्धं त्रिरात्रात् सम्भव इत्येके यदर्त्तुमती भवत्युपरतशोणिता तदा सम्भवकालः ॥ ७, ८ ॥

'ऊर्ध्वं त्रिरात्रात् सम्प्रदानरात्रितः त्रिरात्रेऽतीते ' सम्भवः ' सम्भवति गर्भोऽस्मादिति सम्भवः सङ्गमः 'इति' एवम् 'एके' केचिदाचार्याः आहुः । एवञ्च विवाहात् प्राग् दृष्टरजस्काया ऋतुमत्या नवोढायाः पतिगृहे आद्यर्तुप्रकाश-मनपेक्ष्यैव तस्यां चतुर्थ्यामेव रात्रौ गर्भाधानाय सङ्गमः कार्यः इत्येव केषाञ्चि-दाचार्याणां मतम् (७) गोभिलस्य स्वमते तु,–नवोढा पत्नी पतिगृहं समागत्य 'यदा' पुनः 'ऋतुमती' सती 'उपरत–शोणिता' शोणितवेगप्रवाहशून्या 'भवति' भवेत् 'तदा' तस्मिन्नेव पतिगृहागताद्यर्तुकाले सम्भवकालः * (८)॥ इति गतं चतुर्थीकर्म, समाप्तञ्च विवाहप्रकरणम्, निर्णीतश्चाद्यगर्भाधानकालः ॥ ७, ८ गर्भाधानप्रकारमाह;–

भा०:–'सम्प्रादन रात्रि से तीन रात्रि ब्रह्मचर्य्य में व्यतीत कर' उस के अनन्तर चतुर्थ रात्रि में स्त्री प्रसङ्ग करे–यही कई एक आचार्यों का मत है। इस से उन लोगों के मत में विवाह के पूर्व ही दृष्ट रजस्का,ऋतुमती नवोढ़ा के गर्भाधान पक्ष में, पुनः पति के घर में ऋतु–प्रकाश की अपेक्षा नहीं ॥ ७ ॥ किन्तु गोभिलाचार्य का यह स्वकीय मत नहीं है; इन के मत से नवोढ़ा पत्नी, तपि के घर पर आने से पुनः ऋतुमती होने पर जिस समय उस का शोणित वेग (मासिकधर्म) न्यून होगा, वही पति के घर पर प्रकाशित आद्य ऋतु प्रथम सङ्गम काल होगा ॥७।८॥ चतुर्थी कर्म शेष हुआ और विवाह प्रकरण भी पूरा हुआ॥

दक्षिणेन पाणिनोपस्थमभिमृशेद्विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्येतयर्चागर्भन्धेहिसिनीवालीतिचसमाप्यर्चौसम्भवतः।९,१०।५

प्रथमतः पतिः "विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते" ॥६॥ (मं० ब्रा० १ । ४ । ६) 'इत्येतयर्चा, "गर्भन्धेहि सिनीवालि गर्भन्धेहि सरस्वति। गर्भन्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ" ॥७॥ (मं० ब्रा० १, ४, ७)'–(मं० ब्रा०१. ४७)'–'इति च मन्त्राभ्यां स्वकीयेन 'दक्षिणेन हस्तेन' उपस्थं' पत्न्याः प्रजननदेशम् 'अभिमृशेत्' (९) । 'ऋचौ' पूर्वोक्ते 'समाप्य' पाठेन मननेन अभिमर्शनफलदर्शनेन च ततः 'सम्भवतः' मिथः सङ्गमं कुरुतः दम्पतीति (१०) । गतं गर्भाधानम् ॥ ९,१० ॥ ५

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेपञ्चमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्।२,५

भा०:–पहिले पति, "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" ऋक् एवं 'गर्भंधेहि सिनी-वालि' ' यह ' ऋक् पाठ कर पत्नि की योनि प्रदेश मार्जन करे । इन्हीं दो

---

* अतएव वक्ष्यति तृतीये "मातुरसपिण्डानग्निका तु श्रेष्ठा,,—इति दारकर्मणि अनग्निकाया एव प्राशस्त्यम्। परिशिष्टे च "ऋतुमतीं त्वनग्निकां तां प्रयच्छेत्त्वनग्निकाम्,,—इति स्फुटम् ॥

ऋचाओं का पठन, मनन और उस के साथ अभिमर्शन फल दर्शन होने पर दोनों सङ्गम करे * ॥ १० ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के पांचवे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ।२,५।

—:o:—

तृतीयस्य गर्भमासस्यादिसदेशे पुंसवनस्य कालः ॥१

'गर्भमासस्य तृतीयस्य' गर्भमाससम्बन्धितृतीयस्य मासस्य 'आदिसदेशे' आद्यर्द्धस्य प्रथमपक्षस्येति यावत् सदेशे समीपे अष्टम्यभ्यन्तरे एव व्यवहारः 'पुंसवनस्य' संस्कारविशेषस्य 'कालः' ज्ञातव्यइति शेषः। १ पुंसवनप्रकारमाह;—

भा०:—जिस मास में गर्भाधान हो, उस मास से तीसरे मास के आदि पक्ष के निकट ही अर्थात् अष्टमीके भीतर पुंसवन नामक संस्कार काल जानो ॥१॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंसमन्ववमृश्यानन्तर्हितं नाभिदेशमभिमृशेत् पुमांसौ मित्रावरुणावित्येतयर्चाथ यथार्थम् ॥२—४॥

'प्रातः' समये 'उदगग्रेषु दर्भेषु' उपनीता बधूः 'सशिरस्का आप्लुता' शिरः प्रभृतिसर्वाङ्गजलसिक्ता स्नाता सती 'अग्नेः' 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि तथैव 'प्रागग्रेषु' दर्भेषु पातितेषु उपरि 'प्राची प्राङ्मुखी पुरतोऽग्निं कृत्वेति फलितम् 'उपविशति' उपविशेत् (२)। ततः पश्चात् 'पतिः' 'अवस्थाय' तां बधूं क्रोडी कृत्येति यावत्, 'दक्षिणेन पाणिना' तस्याएव बध्वाः 'दक्षिणम् अंसम्' 'अन्ववमृश्य' किञ्चिदुत्तानायथास्यात्तथा पश्चादाकृष्य "पुमांसौ मित्रावरुणौ पुमांसाव-श्विनावुभौ। पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे"॥८॥(म०ब्रा०१,४,८)'—'इति एतया ऋचा' स्मर्त्तव्यं देवसंस्मरन् तस्याएव 'नाभिदेशम्' 'अनन्तर्हितं' वस्त्राद्यावरणशून्यं प्रकृत्य 'अभिमृशेत्' विशेषेण स्पृशेत्, शेषेण सव्येनैव हस्तेनेति गम्यते (३)। अथ तदनन्तरं 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेत् सः (४) ॥ २—४

भा०:—प्रातःकाल उत्तराग्र कुशासन पर उस तीन मास की गर्भवाली वधू को बैठावे एवं मस्तक आदि सर्व शरीर जल में आप्लुत कर अग्नि के पश्चिम ओर डाले हुए उत्तराग्र कुश के आसन पर बैठावे, और उस के पीठ की

* यह गर्भाधान संस्कार आश्वलायन, आपस्तम्ब, कात्यायन प्रभृति गृह्यसूत्र कारों के मत से ऋतु मती कन्या के विवाह के पीछे चौथी रात्रि में भी हो सकता है। परन्तु गोभिलाचार्य के मत से वैसी कन्या के विवाह के पीछे पति के घर फिर रजोदर्शन होने पर, उसी आद्य ऋतु अनिषिद्ध काल में कर्त्तव्य है। गर्भ ग्रहण काल मालूम हो जाने पर प्रतिगर्भ के आधान काल में यह संस्कार करें, अन्ततः पति के घर पहिले रजोदर्शन में तो अवश्य करें।

ओर अर्थात् उस को गोद में लेकर पति भी बैठे। उस के अनन्तर दहिने हाथ से वधू के दक्षिण कांधा अपने गोद की ओर कुछ, ऊपर को खींचकर रक्खे, और बायें हाथ से उस के कंधनी को खोल कर उस के नाभि प्रदेश को अच्छे प्रकार स्पर्श करे और छूते समय 'पुमांसौ मित्रा वरुणौ, इस ऋङ्मन्त्र से स्मरणीय देवताका स्मरण करे। उसके बाद स्वेच्छया विहरे॥२-४॥

अथापरम् ॥ ५

'अथ' तत्कार्य्यानन्तरम् 'अपरम्' अपि एकमस्ति कार्यं पुंसवनस्येति। तदपि पूर्वोक्तकालाभ्यन्तरे [सू० १] एव कर्त्तव्यं परं यस्मिन् दिने नाभिमर्शनं कृतं तस्मिन्नेव, तत्परदिने, तत्पर परदिने वेति नायं नियमः। ५। किन्तदपरं कार्यमिति स्फुटयति,—

भा०:—इस नाभिमर्शन कार्य्य के पीछे पुंसवन संस्कार करने में एक कार्य्य होताहै वह भी पूर्वोक्त ही कालमें होगा। (सू०१) किन्तु जिस दिन नाभि-मर्शन हो उसी दिन, या उस के दूसरे तीसरे दिन करे इस का नियम नहीं ॥ ५ ॥

प्रागुदीच्यां दिशि न्यग्रोधशुङ्गामुभयतःफलामस्रामामकृमिपरिसृप्तां त्रिःसप्तैर्यवैर्माषैर्वा परिक्रीयोत्थापयेद्यद्यसि सौमी सोमाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वारुणी वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वसुभ्यो वसुभ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि मरुद्भ्यो मरुद्भ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि विश्वेभ्योदेवेभ्यो विश्वेभ्योदेवेभ्यस्त्वा परिक्रीणाम्योषधयः सुमनसो भूत्वाऽस्यां वीर्य्यं समाधत्तेयं कर्म करिष्यतीत्युत्थाप्य तृणैःपरिधायाहृत्यवैहायसींनिदध्याद्दृषदंप्रक्षाल्य ब्रह्मचारी व्रतवती वा ब्रह्मबन्धूः कुमारी वाऽप्रत्या हरन्ती पिनष्टि प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्ने रुदगग्रेषु दर्भेषु प्राक्शिराः संविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसङ्गृह्य दक्षिणे नासिकास्रोतस्यवनयेत् पुमानग्निः पुमानिन्द्र इत्येतयर्चाध यथार्थम् ॥ ६-१२ ॥ ६

'प्रागुदीच्यां' ऐशान्यां दिशि सञ्जातां 'न्यग्रोधशुङ्गां' न्यग्रोधस्य वटस्य शुङ्गां अस्फुटितपत्रमिति यावत् 'त्रिः सप्तैः यवैर्माषैर्वा' एकविंशतिमाषान् एकविंशतियवान् वा वृक्षस्वामिने मूल्यं दत्त्वा तत्सकाशात् 'परिक्रीय' 'उत्थापयेत्' । शुङ्गां विशिनष्टि–'उभयतः फलाम्' यस्या उभयोः पार्श्वयोरेव फले विद्येते तादृशीं; किञ्च 'अस्रामाम्' अम्लानाम्, किञ्च 'अकृमिपरिसृप्तां' कृमिभिः पत्रकीटैः परिसृप्ता परिव्याप्ता, अतादृशीम् (६)। तत्परिक्रयणमन्त्राः सप्त । तानाह;–हे शुङ्गे ! त्वं यदि 'सौमी' सोमदेवतायाः प्रिया 'असि' तर्हि 'सोमाय राज्ञे' सोमराजप्रीत्यर्थमेव 'त्वा' त्वां 'परिक्रीणामि' १ । त्वं 'यदि' 'वारुणी' वरुणदेवतायाः प्रिया 'असि' तर्हि तस्मै 'वरुणाय राज्ञे' एव 'त्वा' परिक्रीणामि २ । त्वं 'यदि' 'वसुभ्यः' वस्वष्टकानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'वसुभ्यः' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ३ । त्वं 'यदि' 'रुद्रेभ्यः' रुद्राणामेकादशानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि रुद्रेभ्यः' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ४। त्वं 'यदि' 'आदित्येभ्यः' द्वादशादित्यानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'आदित्येभ्यः' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ५ । त्वं 'यदि' 'मरुद्भ्यः' एकोनपञ्चाशतां मरुतां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'मरुद्भ्यः एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ६ । 'यदि' 'विश्वेभ्योदेवेभ्यः' सर्वदेवप्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'विश्वेभ्योदेवेभ्यः' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ७ । इति सप्त परिक्रयणमन्त्राः (७) । अथोत्थापनमन्त्रः ;–हे 'ओषधयः' ! यूयं 'सुमनसः' प्रसन्नाः सन्तः 'अस्यां' वध्वां 'वीर्यं समाधत्त' वीर्यसमाधानं कुरुत, किन्निमित्तमित्याह–' इयं ' वधूः ' कर्म ' गर्भप्रसवनं 'करिष्यति' ततएव वीर्यस्य प्रयोजनम्; 'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'उत्थाप्य' ताः 'तृणैः' यथालभ्यैः 'परिधाय' वेष्टयित्वा 'वैहायसीं' आकाशसम्बन्धिनीं लतामसरवेलेति प्रसिद्धाम् ' आहृत्य ' तदुपरि ' निदध्यात् ' स्थापयेत् (८) । ततश्च 'दृषदं' शिलापट्टकं 'प्रक्षाल्य' अपरवस्तुकणासंसर्गं यथा न स्यात् प्रक्षालनेनैवं विधाय तत्र 'ब्रह्मचारी' ऋतावन्यत्र स्वभार्यायामपि यो न सङ्गच्छते सः, 'व्रतवती वा' पातिव्रत्यं व्रतं यया पाल्यते विशपेण सा, 'ब्रह्मबन्धूः' ब्राह्मणजातीया 'कुमारी वा' अनूढा ब्राह्मणकन्येति यावत् 'अप्रत्याहरन्ती' प्रत्याहारस्त्यागस्तमकुर्वन्ती अविश्रामेणैव झटित्येवेति यावत् अन्यथा वाय्वादियोगात् ओषधिवीर्यं नष्टं स्यादेव 'पिनष्टि' पेषणं कुर्यात्, ताः शुङ्गाः इत्यर्थादागतम् उपलेनेति च (९) । ततश्च 'प्रातः' 'उदगग्रेषु दर्भेषु' उपस्थिता सा वधूः 'सशिरस्का आप्लुता' सती, 'अग्नेः' 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि 'उदगग्रेषु दर्भेषु' पातितेषु 'प्राक्शिराः' पूर्वदिग्गतमस्तका भवन्ती 'संविशति' संवेशनमर्द्धशयनमिश्रोपवेशनं कुर्यात्

(१०)। ततः 'पश्चात्' पतिः 'अवस्थाय' 'दक्षिणस्य पार्श्वे' 'अङ्गुष्ठेन' 'उपकनिष्ठिकया' अनामिकया 'अङ्गुल्या' अङ्गुष्ठानामिकाभ्यामिति यावत् 'अभि' अभितः सर्वतोव्याप्य 'संगृह्य' तत् पिष्टशुङ्गारसं' तस्या वध्वाः 'दक्षिणे' 'नासिकास्रोतसि' नासिकारन्ध्रे 'अवनयेत्' अवक्षिपेत आघ्रापयेद्वा; "पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान्देवो बृहस्पतिः।पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्"॥८॥ (म० ब्रा० १, ४, ८) –'इति'एतया ऋचा' इदं संस्मरन्निति शेषः (११)। अथ अनन्तरं'यथार्थं'यथाप्रयोजनं विहरे दिति शेषः(१२)॥गतमिदंपुंसवनकर्म॥ ६-१२॥ ६

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके षष्ठखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्।२,६

भा०:–ईशान कोण में जो कोई बड़ का वृक्ष हो, उस से शुङ्ग, वृक्ष के स्वामी को २१ यव, या २१ उड़द मूल्य देकर (खरीद कर) उसे तोड़े। इस शुङ्ग के दोनों ओर फल होना चाहिये, वह सूखा न हो और उस में कीड़े लगे न हों। ६। इस शुङ्ग के मोल लेते समय ७ मन्त्रों का पाठ करे जैसे; हे शुङ्गे !तुम यदि सोम देवता का प्रिय हो, तो उस राजा की प्रीति के लिये ही तुम को मोल लेता हूं। १। तुम यदि राजा वरुण देवता का प्रिय हो, तो उसी वरुण राजा के प्रीत्यर्थ तुझे मोल लेता हूं॥२॥ तुम यदि आठो वसु का प्रिय हो, तो उन्हीं वसुओं की प्रीति के लिये तुझे मोल लेता हूं।३। यदि एकादश रुद्रगण का प्रिय हो, तो उन्हीं ग्यारह रुद्रों के प्रीत्यर्थ तुझे मोल लेता हूं।४। 'यदि तुम बारह आदित्य गण के प्रिय हो, तो उन्हीं बारह आदित्य गण की प्रीति के लिये तुझे मोल लेता हूं।५। 'यदि तुम ४९ मरुद् गण का प्रिय हो, तो उन्हीं ४९ मरुद्गण की प्रीति के लिये तुझे मोल लेता हूं ॥ ६॥ 'यदि तुम विश्वे देवा देवगण का प्रिय हो, तो उन्हीं विश्वेदेवा गण की प्रीति के लिये तुझे मोल लेता हूं" ॥ ७॥ तत्पश्चात् इन मन्त्रों को पढ़ कर उस शुङ्ग को वृक्ष से उखाड़, या तोड़ लेवे यह कह कर कि हे औषधि गण! तुम सब प्रसन्न होकर इस वधू में वीर्य्य साधन करो,जिस्से यह वधू कष्ट रहित होकर गर्भ प्रसव करे उस। उखाड़े हुए शुङ्ग को तृण से ढाक कर अमरवेल, या सूक्ष्म जटामांसी संग्रह कर इस की रक्षा करे ॥ ८॥ अनन्तर शिल (पेषणाधारशिला) को अच्छे प्रकार धोकर उस में कोई ब्रह्मचारी (जो गृही ऋतु काल ही में अपनी भार्य्या के पास गमन करता हो, ऐसे गृहस्थ को भी ब्रह्मचारी कहते हैं) या कोई पति व्रता, या ब्राह्मण वंश की कोई कुमारी, उसे अविश्राम हो पीसे। अर्थात् पीसते समय ही ओषधि का सब गन्ध हवा द्वारा खींच न जावे इस लिये शीघ्र पीस

लेवे। प्रातःकाल वधू उत्तराग्र कुशाओं पर बैठ कर माथे तक जल में गोता लगा स्नान कर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराग्र डाले हुए कुशासन पर पूर्व की ओर शिर कर आधा सोवे (जागता हुआ लेटा रहा) ॥१०॥ पति उस के पीछे रह कर अनामिका और अङ्गुष्ठ अङ्गुलि द्वारा पीसा हुआ शुङ्ग लेकर उस के दहिने नाक के छिद्र में उस का रस डाले, या सूंघावे। उसी समय "पुमानग्निः पुमानिन्द्रः" इस मन्त्र का पाठ करते हुए पति अपने इष्ट का स्मरण करे। (११) अनन्तर जहां इच्छा हो भ्रमण करे यही पुंसवन कर्म्म है ॥६-१२। ६॥ गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के छठे खण्ड का भावानुवाद पूरा हुआ॥२,६॥



अथ सीमन्तकरणम् ॥ १

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति। 'सीमन्तकरणम्' नाम कर्म, संस्कारविशेषः। तदधिकृत्य वक्ष्मीति।१। तस्य कालं विधत्ते;—

भा०:—अब 'सीमन्तोन्नयन' नामक संस्कार का वर्णन किया जाता है॥१॥

प्रथमगर्भे चतुर्थे मासि षष्ठेऽष्टमे वा ॥२॥

'प्रथमे गर्भे' एव हि संस्कारः प्रथमे एव गर्भे कार्यः न तु प्रतिगर्भम्। तत्र च 'चतुर्थे षष्ठे अष्टमे वा मासि' कुर्यादिति तत्कालविधिः।२ तत्रेतिकर्त्तव्यतां विधत्ते

भा०:—यह सीमन्तोन्नयन संस्कार केवल प्रथम गर्भाधान समय कर्त्तव्य है इसे प्रति गर्भाधान में करना ठीक नहीं। इस का समय चौथा 'छठा' या आठवां मास है ॥ २ ॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय युग्मन्तमौदुम्बरꣳशलाटुग्रथनमाबन्धाति अयमूर्ज्जावतो वृक्ष इत्यथ सीमन्तमूर्द्ध्वमुन्नयति भूरिति दर्भपिञ्जूलीभिरेव प्रथमं भुवरिति द्वितीयꣳ स्वरिति तृतीयमथ वीरतरेण येनादितेरित्येतयर्च्चाऽथ पूर्णचात्रेण राकामहमित्येतयर्च्चा त्रिश्वेतया च शलल्या यास्ते राके सुमतय इति कृसरः स्थालीपाक उत्तरघृत स्तमवेक्षयेत् किम्पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत तं सा स्वयं भुञ्जीत वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्गल्याभिर्वाग् भिरुपासीरन् ॥ ३–१२ ॥

'प्रातः' पूर्वाह्णे, 'उदगग्रेषु दर्भेषु' उत्तराग्रीकृतपातितकुशासने उपविष्टा सती 'सशिरस्का आप्लुता' स्नाता भवती 'अग्नेः पश्चात्' 'उदगग्रेषु दर्भेषु' 'प्राची' प्राङ्मुखी 'उपविशति' (३)। 'पतिः' तस्या वध्वाः 'पश्चात्' 'अवस्थाय' 'युग्मन्तम्' युग्मानि फलानि यस्मिन् तादृशम् 'औदुम्बरम्' उदुम्बरगुच्छं शलाटुग्रप्सम्' शलाटुनामफलविशेषस्य स्तबकञ्च "अय मूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव। पर्णं वनस्पतेऽनुत्वानुत्वा सूयताथंरयिः" ॥१॥ (म० ब्रा० १, ५, १) ,इति' इमं मन्त्रमुच्चरन् 'आबध्नाति' वध्वाः मस्तके कण्ठे बाहौ कट्यां नाभौ अङ्गुले वेति न नियमः (४)। 'अथ' अनन्तरम्। 'सीमन्तम्' केशरचनाविशेषम् 'ऊर्द्ध्वम् उन्नयति' उन्नयेत् पतिरेव। तत्र ' दर्भपिञ्जूलीभिः ' शुष्कैः गर्भसारैश्च कुशसमूहैः 'भूः'—'इति' मन्त्रेण 'प्रथमम्' उन्नयनम्; 'भुवः'—'इति' मन्त्रेण 'द्वितीयम्' उन्नयनम्, 'स्वः'—'इति ' मन्त्रेण तृतीयम्' उन्नयनम्' (५)। 'वीरतरेण' शरतृणविशेषेण "येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ५,२)'—'इत्येतया ऋचा' च सीमन्तमूर्द्ध्वमुन्नयति पतिः (६)। 'अथ' तदनन्तरम् "राकामहथं सुहवां सुष्टुतीहुवे शृणुत नः सुभगा बोधतु आत्मना। सीव्यत्वपः सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरथं शतदायुमुख्यम्" ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ३)'—'इत्येतया ऋचा' 'पूर्णचात्रेण' सूत्रपूर्णतर्कुणा सीमन्तोन्नयनम् (७)। 'च' किञ्च " यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि। ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्र पोषथंसुभगे रराणा" ॥४॥ (म०ब्रा०१,५,४)'—'इति' मन्त्रं पठन् पतिः ' त्रिश्वेतया ' त्रिषुस्थानेषु श्वेतवर्णया ' शलल्या ' शल्लकीकण्टकेन सीमन्तमूर्द्ध्वमुन्नयेत (८)। ततश्च; 'स्थालीपाकः' स्थाल्यां पक्वः 'उत्तरघृतः' पाकान्ते घृतमिश्रितः 'कृशरः' तिलतण्डुलसमूहः 'कृसरः' इति कृसरलक्षणम्; 'तम्' तादृशं कृसरम् 'अवेक्षयेत्' दर्शयेत् पत्नीं पतिरिति (९)। यदा सा तं पश्यति, तदैव पतिः पृच्छेत् 'किम् पश्यसि ?—इति' 'उक्ता' पतिनैवं पृष्टा सा, "(किं पश्यसि ?)—प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः" ॥५॥ (म० ब्रा० १, ५, ५)'—'इति' इमं मन्त्रं 'वाचयेत्' पत्नीं पतिः (१०) । 'तं' कृसरं 'सा' वधूः ' स्वयं भुञ्जीत ' (११)। तस्मिन्नेव भोजनकाले ' ब्राह्मण्यः ' 'वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नी'—'इति' एवमादिभिः 'मङ्गल्याभिर्गीर्भिः' आशीर्वाक्यैः 'उपासीरन्' ईश्वरमिति शेषः (१२)। इति सीमन्तोन्नयनम्। ३—१२ ॥

भा०—अब सीमन्तोन्नयन संस्कार का विधि कहा जाता है, प्रातःकाल उत्तराग्र बिछाये हुए कुश के आसन पर वधू को बैठा कर माथे तक भिंगोकर

स्नान करावे। पीछे अग्नि के पश्चिम भाग में बिछाये हुये उत्तराग्र (उत्तर की ओर कुश की चोटी एवं दक्षिण की ओर उस की जड़) कुशासन पर पूर्वाभिमुख उसे बैठावे, पति भी उस के पीछे रहे। अनन्तर यज्ञ गूलर (उदुम्बर) का गुच्छा और एक शलाटुका, उस वधू के अङ्गुल में, या शरीर के जिस किसी बान्धने योग्य (कटिके ऊपर) अङ्ग में बान्ध देवे। दोनों गुच्छाओं के बांधते समय 'अयमूर्ज्जावतो वृक्षः, इस मन्त्र का पाठ करे। उस के पश्चात् सारगर्भ सूखा कुशा समूल निर्म्मित पिञ्जूलि से उस वधू का केश सम्हारे 'भूः' इस मन्त्र से प्रथम वार, भवः' मन्त्र से द्वितीयवार और 'स्वः' मन्त्र से तृतीय वार सीमन्त के केश आदि पिञ्जूलि द्वारा बढ़ा देवे। 'येनादिते' इस मन्त्र का पाठ करता हुआ जिस 'शर' का बाण तैयार होता हो उसी शर से सीमन्त को बीच से चीड़ कर शोभायमान करे। 'राकामहम्' इस मन्त्र का पाठ करके जिस स्याही (शल्ल की जन्तु) के कांटे में तीन स्थान श्वेत हों ऐसे कांटे से छोटे २ केशों को ऊपर को उठा देवे। उस के अनन्तर घृत संवरा देकर आग का पका तिल तण्डुल उसे देखावे और उस के दर्शन समय उसे पति पूछे कि 'तुम उस में क्या देखती हो ?, इस के उत्तर में वधू बोले कि 'प्रजा' इत्यादि, अनन्तर उस दिन वधू उसी को भोजन करे और उस भोजन करते समय ब्राह्मणीगण इस वधू को 'वीर-प्रसविनी होओ' इत्यादि मङ्गल सूचक वाक्यों से ईश्वरोपासना करे। यही सीमन्तोन्नयन संस्कार है। ३, १२॥

अथ सोष्यन्तीहोमः ॥ १३ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति। 'सोष्यन्तीहोमः' एतन्नामकश्चापरः संस्कारः कार्यः ॥ १३। तस्य कालं विधत्ते ;—

भा०—इस सीमन्तोन्नयन संस्कार के पीछे 'सोष्यन्ती-होम, नामक और एक संस्कार करना पड़ता है ॥ १३ ॥

प्रतिष्ठिते वस्तौ ॥ १४ ॥

'वस्तौ' योनिप्रदेशे 'प्रतिष्ठिते' गर्भे समुपस्थिते सोष्यन्ती होमः कार्यः इति तत्कालनिर्देशः। १४ तत्रेतिकर्त्तव्यतां विधत्ते;—

भा०—जिस समय प्रसव के द्वार देश में गर्भ आ पड़े उसी समय अर्थात् प्रसव के अव्यवहित (लगेहुए) यह 'सोष्यन्तीहोम' संस्कार करना चाहिये॥१४॥

परिस्तीर्य्याग्निमाज्याहुती जुहोति या तिरश्चीत्येतयर्चा विपश्चित्पुच्छमभरदिति च पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नामेति नामधेयं गृह्णाति यत्तद् गुह्यमेव भवति ॥ १५-१७ ॥

'अग्निम् परिस्तीर्य' 'तत्र, या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सᳫंराधनी महम् ("सᳫंराधन्यै देव्यै देष्ट्र्यै ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ६)'–'इत्येतयर्चा', विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्धाता पुनराहरत् । परेहि त्वं विपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम ॥७॥ (म० ब्रा० १, ५,७) 'इति' अनया च 'आज्याहुती' आज्यतन्त्रेण आहुतिद्वयम् 'जुहोति' जुहुयात् (१५) । अपरञ्च 'अयं' गर्भः 'पुमान् जनिष्यते' चेत् 'असौ नाम'–'इति' 'नामधेयं' जनिष्यमाण पुत्राख्यां 'गृह्णाति' प्रकल्प्य रक्षति (१६) । 'यत् नामधेयं मनसि निश्चितम्,'तत्' नामधेयं 'गुह्यम्' गोप्यमेव 'भवति' भवेत्, अन्यथा कन्याजाते हासाय स्याच्छत्रूणामिति (१७)। गतोऽयं सोष्यन्तीहोमसंस्कारः। १५–१७ अथ जातकर्मोच्यते;–

भा०=पूर्व उपदेश के अनुसार अग्नि स्थापनादि "परिस्तरण" कार्य के पीछे 'या तिरश्ची' इस मन्त्र से और 'विपश्चित् पुच्छमभरत्' मन्त्र से आज्य तन्त्रद्वारा दो आहुति देवे । (१५) उस समय,–यदि पुत्र जन्म लेवे तो यही नाम रक्खूंगा इस प्रकार मन ही मन एक नाम स्थिर कर रक्खे । अर्थात् पुत्र की आशा करे (१६) परन्तु उसे प्रकाश न करे । अर्थात् प्रकाश करने से यदि पुत्र न हो तो शत्रु लोग हंस सकते हैं १५–१७ ॥

यदाऽस्मै कुमारं जातमाचक्षीरन्नथ ब्रूयात् काङ्क्षत नाभिकृन्तनेन स्तनप्रतिधानेन चेति ॥ १८ ॥

'यदा' यस्मिन् काले प्रसवगृहस्थाः धात्रीप्रभृतयः सर्वे 'कुमारं जातम्'–'इति' समाचारम् 'अस्मै' पित्रे 'आचक्षीरन्' 'अथ' तदव्यवहितमेव पिता 'ब्रूयात्'– 'नाभिकृन्तनेन' नाभिलग्ननाडीच्छेदनेन 'च' अपि स्तनप्रतिधानेन' स्तनपायनेन एनं पालयितुं 'काङ्क्षत' इच्छां कुरुत यूयम् 'इति' ॥ १८ ॥

भा०:–इस के अनन्तर जात–कर्म्म संस्कार होता है जैसे: जिस समय सूतिका गृह में रहने वाली धाई प्रभृति बोल उठे कि लड़का पैदा हुआ तो इस पर पिता बोले कि 'नाभि से लगी हुई नाड़ी काटो और स्तन आदि पिला कर रक्षा करो ॥ १८ ॥

व्रीहियवौ पेषयेत्तयैवाऽऽवृता यथा शुङ्गान्दक्षिणस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसङ्गृह्य कुमारस्य जिह्वायां निर्माष्टीयमाज्ञेति तथैव मेधाजननᳫं सर्पिः प्राशयेज्जातरूपेण वादाय कुमारस्य मुखे जुहोति मेधान्ते मित्रा-

वरुणावित्येतयर्चा सदसस्पतिमद्भुतमिति च कृन्तत नाभिमिति ब्रूयात् स्तनञ्च प्रतिधत्तेति ॥ १९—२२ ॥

नाभिकृन्तनात् पूर्वकृत्यमाह;—'यथा' पूर्वोक्तया 'आवृता' परिपाट्या 'शुङ्गां' पूर्वोक्तां 'पेषयेत्' 'तथैव' व्रीहियवौ पेषयेत (१९) पिष्टौ च व्रीहियवौ 'दक्षिणस्य पाणेः अङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया च अङ्गुल्या अभिसङ्गृह्य' "इयमाज्ञेद मन्नमिद मायुरिदममृतम्" ॥८॥ (म० ब्रा० १, ५, ८)'—'इति' इमं मन्त्र मुच्चरन् 'कुमारस्य' तस्य 'जिह्वायां' 'निर्माष्टि' नियच्छति (२०)। 'तथैव' तेनैव प्रकारेण दक्षिणस्य पाणेः अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां गृहीत्वेति यावत् 'मेधां ते मित्रावरुणौ मेधा मग्निर्दधातु ते। मेधां ते अश्विनौ देवा वाधत्तां पुष्करस्रजौ' ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १,-५, ९)'—'इत्येतयर्चा' 'च' अपि 'सदसस्पतिमद्भुतम् (छ० आ० २, २, ३, ७)'—'इति' अनया 'मेधाजननं सर्पिः' 'प्राशयेत्'। 'वा' अथवा 'जातरूपेण' 'हिरण्येन' हिरण्मयशलाकादिना 'आदाय' गृहीत्वा सर्पिः 'कुमारस्य' तस्य 'मुखे' 'जुहोति' जुहुयात् क्षिपेत् (२१)। एतदनन्तरम् 'नाभिम् कृन्तत'—'इति', 'स्तनं प्रतिधत्त'—'इति 'च' 'ब्रूयात्' आदिश्यात् पितेति शेषः। पित्रादेशग्रहणपूर्वकमेव नाभिकृन्तनं स्तनप्रतिधानञ्चेति गतं जातकर्म॥२२ ॥

भा०:—पहिले जो शुङ्गा पीसने का नियम कहा गया है उसीप्रकार धान्य तण्डुल और यवतण्डुल पीसकर नाड़ी छेदनके पूर्व ही दहिने हाथ से अनामिका और अङ्गुठ के द्वारा ग्रहण करते 'यही ईश्वर की आज्ञा है' यह मन्त्र पढ़कर उस नव बालक की जीभ में चटा देंं और बुद्धि बढ़ने की इच्छा से 'मेधान्ते मित्रावरुणौ' मन्त्र और 'सदसस्पति मद्भुतम्' (छ० आ० २, २, ३, ७) मन्त्र, इन दो मन्त्रों का पाठ कर, दो बार उसी प्रकार अङ्गुठा, अनामिका द्वारा घृत भी चटावे, या सुवर्ण की शलाकादि के अग्रभाग से लड़के के मुख में देवे। अनन्तर नाड़ी काट कर स्तन पिलावे॥१९,२२॥ यही जात कर्म्म संस्कार है॥

अत ऊर्द्ध्वमसमालम्भनमादशरात्रात् ॥ २३।

'अतऊर्द्ध्वम्' नाभिकृन्तनात् परस्तात् 'आदशरात्रात्' दशरात्रिशेषं यावत् 'असमालम्भनम्' अस्पर्शनम् कुमारमातुरित्यशौचविधिः ॥२३॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेसप्तमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्।२,७

भा०:—इस नाड़ी छेदन के पीछे से दश दिन प्रभृति स्पर्श योग्या न होगी अर्थात् ये दश दिन भर्त्ता स्वीय पत्नी को स्पर्श भी न करे ॥२३॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ॥२॥७

जननाद्यस्तृतीयोज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायां प्रातः सशिरस्कं कुमारमाप्लाव्यास्तमिते वीते लोहितिम्न्यञ्जलिकृतः पितोपतिष्ठतेऽथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत उदञ्चं पित्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम्मनुपृष्ठम्परिक्रम्योत्तरतोऽवतिष्ठतेऽथ जपति यत्ते सुसीमइति यथाऽयन्नप्रमीयेतपुत्रो जनित्र्या अधीत्युदञ्चं मात्रे प्रदाय यथार्थम् ॥१–५॥

'जननात्' जन्मतः आरभ्य 'यः' 'तृतीयः' 'ज्यौत्स्नः' ज्योत्स्नायुक्तः पक्षः, 'तस्य' पक्षस्य 'तृतीयायां' तिथौ 'प्रातः' 'कुमारं' 'सशिरस्कम् आप्लाव्य' शिरसि जलदानेन स्नापयित्वा 'अस्तमिते' सूर्ये 'वीते' विगते च 'लोहितिम्नि', 'पिता' कुमारजनकः ' अञ्जलिकृतः ' पुत्रग्रहणाय प्रसारिताञ्जलिद्वयः सन् 'उपतिष्ठते' तत्स्थितस्तिष्ठेत (१)। 'अथ' तदनन्तरं 'माता' कुमारप्रसूतिः 'शुचिना' शुभ्रेण निर्मलेनेति यावत् ' वसनेन ' ' कुमारम् ' 'आच्छाद्य' 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां दिशि गत्वा 'उदञ्चं' उत्तानम् 'उदक्शिरसं' कुमारं 'पित्रे' कुमारजनकाय तस्मै 'प्रयच्छति' प्रयच्छेत् (२)। दत्त्वा च सा 'अनुपृष्ठं' परिक्रम्य' स्वपतिपृष्ठदेशेनागत्य 'उत्तरतः' उत्तरस्यां सुतरां पत्युर्वामभागे 'अवतिष्ठते' अवस्थिता भवेत् (३)। 'अथ' दम्पत्योर्यथोक्तभावेन सकुमारावस्थानानन्तरं पतिः "यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ। वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्र मघं निगाम्"॥१०॥ यत् पृथिव्या अमृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्रमघꣳरिषम् ॥११॥ इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे प्रजापतिः। यथायं न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि" ॥१२॥ (म० ब्रा० १, ५, १०–१२) 'जपति' जपेत् (४) जपित्वा च 'उदञ्चं' उत्तानमेव तं कुमारं मात्रे तत्प्रसूत्यै 'प्रदाय' प्रदानं कृत्वा समाप्तं ज्यौत्स्नोपस्थानमिति मत्वा 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेदिति (५)।२–५

भा०:—जन्म से तृतीय शुक्लपक्ष की तृतीया में प्रातःकाल ही नवकुमार को मस्तक पर्य्यन्त धोकर स्नान करावे। अनन्तर सूर्य्यास्त के पीछे अर्थात् ऐसे समय जब कि सूर्य्य मण्डल की लालिमा पर्य्यन्त दीख न पड़े, उस नवकुमार का पिता, पुत्र ग्रहण के लिये दोनों अञ्जुलि पसार कर खड़ा हो और नवकुमार की माता उस कुमार को साफ वस्त्र से ढाक कर अपने स्वामी के दक्षिण ओर आकार इस बालक को उत्तर शिरा और उत्तानभाव से (चित्त) उस की अञ्जुलि में प्रदान करे। स्वयं अपने पीठ पर होकर वाम दिशा आकर युग्म रूप से अवस्थित हो। पीछे इस बालक के साथ पिता ' यत्ते सुसीमे '

एवं से 'यथा अयं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि' पर्य्यन्त तीन मन्त्रों का पाठ करे। अनन्तर गृहीत पुत्र को उस की माता को पुनः प्रदान करे और प्रयोजन के अनुसार अन्य कार्य्य करे, या विश्राम करे ॥ १–५ ॥

अथ येऽत ऊर्द्ध्वं ज्यौत्स्नाः प्रथमोद्दिष्टएव तेषु पितोपतिष्ठतेऽपामञ्जलिं पूरयित्वाऽभिमुखश्चन्द्रमसं यददश्चन्द्रमसीति सकृद्यजुषा द्विस्तूष्णीमुत्सृज्य यथार्थम् ॥६ । ७॥

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति। 'अतः' जननात् तृतीयज्यौत्स्नातः 'ऊर्द्ध्वं' उपरिष्टात् परस्तादिति यावत्. 'ये' 'ज्यौत्स्नाः' ज्योत्स्नायुक्ताः कालाः शुक्लपक्षाः, 'तेषु' ज्यौत्स्नेषु कालेषु 'प्रथमोद्दिष्टे' प्रथमागते ज्यौत्स्ने जननाच्चतुर्थे शुक्लपक्षे, यस्यां कस्यामप्येकस्यां तिथौ सम्भवतश्चन्द्रोदये 'पिता' कुमारजनकः 'अपामञ्जलिं पूरयित्वा' 'चन्द्रमसम् अभिमुखः' सन् 'उपतिष्ठते' उपतिष्ठेत उत्थितस्तिष्ठेत (६)। ततश्च "यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम्। तदहं विद्वाꣳस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघꣳरुदम्" ॥१३॥ (म० ब्रा० १, ५, १३) 'इति' अनेन 'यजुषा' छन्दःशून्यमन्त्रेण 'सकृत्', 'तूष्णीं' अमन्त्रकं 'द्विः' द्विवारम् 'उत्सृज्य' गृहीतोदकाञ्जलिमिति यावत्; समाप्त मद्ब्रमर्जनं कृत्य मिति मत्वा 'यथार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः ॥६, ७॥ अथ नामधेयं विधत्ते;—

भा०:—पूर्वोक्त इस तृतीय शुक्लपक्ष के पीछे जो प्रथमोपस्थित ज्योत्स्ना अर्थात जन्म से चतुर्थ शुक्ल पक्ष, उस की प्रतिपदा से पूर्णिमा पर्य्यन्त १५ रात्रि के जिस किसी रात्रि में चन्द्रोदय समय कुमार का पिता खड़ा होकर चन्द्रमा के सम्मुख हो 'यददश्चन्द्रमसि' मन्त्र पढ़ कर एकवार एवं अपर दोवार विना मन्त्र साकल्य में तीन अञ्जलि जल छोड़ देवे ॥ ६, ७ ॥

जननाद्दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणम् ॥८

'जननात्' जननदिनमारभ्य 'दशरात्रे शतरात्रे संवत्सरे वा' 'व्युष्टे' अतीते एकादशदिनादौ 'नामधेयकरणम्' कुमारस्येति ॥८॥ तत्रेतिकर्त्तव्यतां विधत्ते;—

भा०:—जन्म दिन से दश दिन, या १०० दिन, या सम्वत्सर बीतने पर ग्यारहवें दिन में नवकुमार का नाम करण करे ॥ ८ ॥

अथ यस्तत् करिष्यन् भवति पश्चादग्ने रुदगग्रेषु दर्भेषु प्राङुपविशत्यथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य-दक्षिणतउदञ्चं कर्त्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसमनुपृष्ठं परिक्रम्यो-

स्तरतउपविशत्युदगग्रेष्वेव दर्भेष्वथ जुहोति प्रजापतये तिथये नक्षत्राय देवतायाइति तस्य मुख्यान् प्राणान्त्सम्मृशन्कोऽसि कतमोऽसीत्येतंमन्त्रं जपत्याहस्पत्यं मासंप्रविशासावित्यन्तेच मन्त्रस्य घोषवदाद्यन्तरस्थन्दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतन्नाम दध्यादेतदतद्धितमयुग्दान्तथंस्त्रीणाम्मात्रे चैव प्रथमं नामधेयमाख्याय यथार्थङ्गौर्दक्षिणा ॥ ९–१८ ॥

'अथ' प्रक्रमार्थः । 'यः' पुरुषः पिता पुरोहितो वा 'तत्' नामधेयं कर्म 'करिष्यन् भवति', सः 'अग्नेः अग्रात्, उदगग्रेषु दर्भेषु' 'प्राङ्मुखः सन्' 'उपविशेत्' (९) । 'अथ' तदनन्तरं 'माता' दक्षिणतः दक्षिणस्यां कर्तुर्दक्षिणभागे गत्वा 'शुचिना वसनेन कुमारम् आच्छाद्य' 'उदक्शिरसम्' उत्तरशिरस्कम् 'किञ्च' उत्तानं शिशुं 'कर्त्रे' नामधेयकर्मणोऽनुष्ठात्रे प्रयच्छति (१०) । दत्त्वा च 'अनुपृष्ठं परिक्रम्य' सा 'उत्तराग्रेषु दर्भेषु' 'उत्तरतः' उत्तरस्यां दिशि कर्तुर्वामभागे 'उपविशति' उपविष्टा भवेत् (११) । 'अथ' तदनन्तरं, क्रोडीकृतकुमारः सः 'प्रजापतये' प्रजापतिदेवतामनुकूलयितुं तथैव 'तिथये', तथैव 'नक्षत्राय', 'जुहोति' हवनं कुर्यात् (१२)। एवं होमानन्तरं 'तस्य' कुमारस्य 'मुख्यान् प्राणान्' मुखगतश्वासान् 'सम्मृशन्' अङ्गुलीभिः स्पृशन् 'कोऽसि कतमोऽसि एषोऽस्यामृतोऽसि आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥१४॥ सत्वाह्ने परिददात्वहस्त्वारात्र्यै परिददातु रात्रि स्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वामासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्त्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ'॥१५॥ (म० ब्रा० १, ५, १४–१५)'–'इत्येतं मन्त्रं 'जपति' जपेत् (१३) । 'मन्त्रस्य' तस्य 'आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ'–'इति' अत्र 'च' अपि 'अन्ते' चरमे असौ इत्यस्य स्थाने 'कृतं' नवरचितं 'नाम' आह्वानाद्यर्थव्यवहार्यं पदं 'दध्यात्' स्थापयेत् व्यवहर्यादिति । तच्च नाम 'घोषवदाद्यम्' आदितएव घोषसंज्ञकाक्षरयुक्तम्, 'अन्तरन्तस्थं' अन्तस्थसंज्ञकाक्षरमध्यं, 'दीर्घाभिनिष्ठानान्तं' दीर्घसंज्ञकाभिनिष्ठानसंज्ञकाक्षरयोरन्यतरावसानकं भवेत् (१४) । 'एतत्' नाम 'अतद्धितं' तद्धितप्रत्ययरहितमेव कार्यम् (१५) । 'स्त्रीणाम्' कन्यानां तु 'अयुग्दान्तम्' अयुग्माक्षरान्तं दान्तव्यतिरिक्तञ्च नाम दध्यादित्येव तत्र विधायम् (१६) । 'च' पुनः तत् 'नामधेयं' 'मात्रे एव' प्रथमं 'आख्याय' परिज्ञाप्य नामधेयकरणं समाप्तमिति मत्वा 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेदिति (१७)। अस्य कर्मणः 'गौः' एका 'दक्षिणा' देयेति (१८) । समाप्तं नामधेयकरणम् ।२–१८

भा०—यह नामकरण संस्कार जो करे सो पिता, या पुरोहित अग्नि की पश्चिम में उत्तराग्र डाले हुए कुश के आसन पर पूर्वमुख बैठे कुमार की प्रसूति, साफ वस्त्र में शिशु को ढांक कर ले आवे और नामकरण संस्कार करने के लिये प्रवृत्त कुमार के पिता, या अपर ब्राह्मण के दहिने ओर आकर उत्तर शिरा और उत्तानभाव से उसे देकर नामकरण करने में प्रवृत्त पिता या ब्राह्मण के पीठ के रास्ते आकर कुशपुञ्ज के ऊपर बैठे। अनन्तर इस नामधेय कारी कुमार को गोद में ले कर पहिले प्रजापति देवता की तुष्टि के लिये होम करे' पीछे जिस तिथि में कुमार का जन्म हुआ है, उस तिथि का नाम ले कर दूसरी आहुति प्रदान करे, उसके बाद जिस नक्षत्र में कुमार का जन्म हुआ है उसका नाम कहकर तीसरी आहुति देवे। फिर उस बालक के मुख में हाथ देकर श्वास, स्पर्श कर "कोऽसि कतमोऽसि" मन्त्र पढ़कर एवं इस मन्त्र के पाठ समय दो स्थान में स्थित 'असौ' पदके बदले नूतन नाम रक्ख कर व्यवहार करे। इस नामके आदि अक्षर घोष वर्ण, मध्यमें अन्तस्थ वर्ण, एवं अन्त्य वर्ण दीर्घ या विसर्ग होगा। विशेषतः इस नाम में तद्धित न रहे। कन्या सन्तान का नाम युग्म अक्षर अन्त में. और दकारान्त न हो यही देखना चाहिये। इस प्रकार नाम युक्त मन्त्र के दोनों स्थान में 'असौ' पद के स्थान में मिला कर पाठ समाप्त होने पर उस नाम का सब से पहिले उस की प्रसूति को अवगत करावे। इस प्रकार नामकरण संस्कार शेष कर, पिता, या पुरोहित यथा प्रयोजन अन्यान्य कार्य करे। या विश्राम करे। नाम-करण संस्कार की दक्षिणा एक गौ देवे।

कुमारस्य मासिमासि संवत्सरे सांवत्सरिकेषु वा पर्व-स्वग्नीन्द्रौ द्यावापृथिवी विश्वान्देवाᳫंश्च यजेत दैवतमिष्ट्वा तिथिं नक्षत्रञ्च यजेत ॥ १९–२० ॥

'कुमारस्य' नवजातस्य 'संवत्सरे' प्रथमे 'मासि मासि' प्रति जन्मतिथौ, 'वा' अथवा 'सांवत्सरिके' जन्मतिथावेव प्रथमे एव च' अथवा 'पर्वसु' पौर्ण-मास्यामावास्यासु प्रथमे संवत्सरे एव 'अग्नीन्द्रौ' 'द्यावापृथिवी' 'च, अपि विश्वान् देवान्' 'यजेत' यागेनेष्टं भावयेत् (१९) 'दैवतमिष्ट्वा' अग्नीन्द्रादियागं प्रकृत्य 'तिथिं' जन्मनः 'च' अपि 'नक्षत्रं' जन्मन एव 'यजेत' (२०)। गत-मिदं पौष्टिकं कर्म जन्मतिथिकृत्यं वा। १९, २० अथ मूर्द्धाभिघ्राणम् ;–

भा०:—प्रथम वर्ष प्रति मास की जन्मतिथि में किम्वा प्रति पूर्णिमा

और अमावास्या पर्व में अग्नीन्द्र, द्यावापृथिवी, और विश्वेदेवा देवता की अर्चना करे एवं इस प्रकार देवार्चना के पीछे तिथि और नक्षत्र की भी अर्चना करे। यही जन्मतिथिकृत्य है ॥ १९, २० ॥

विप्रोष्य ज्येष्ठस्य पुत्रस्योभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य जपेद् यदा वा पिता मइति विद्यादुपेतस्य वाङ्गा दङ्गात् सम्भवसीति पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्रामी-त्यभिजिघ्रय यथार्थमेवमेवावरेषां यथाज्येष्ठं यथोपलम्भं वा स्त्रियास्तूष्णीं मूर्द्धन्यभिजिघ्रणम् ॥ २१-२५ ॥ ८ ॥

'विप्रोष्य' प्रवासादागत्य, 'वा' अथवा 'यदा' यस्मिन् काले 'मे पिता इति विद्यात्' बालकः तदैव, 'वा' अथवा 'उपेतस्य' सन्निहितस्य यदैव सन्निहितो भवेत तदैव, 'ज्येष्ठस्य पुत्रस्य मूर्द्धानं पाणिभ्यां परिगृह्य' "अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। प्राणं ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥१६॥ अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे। वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥१७॥ अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। आत्मासि पुत्र मामृथाः स जीव शरदः शतम्" ॥ १८ ॥ (१, ५, १६, १८),-'इति' तृचं 'जपेत्' (२१), ततः "पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥१९॥ ५ (१, ५, १९)'-'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'अभिजिघ्रय' आघ्राय समाप्तं मूर्द्धाघ्राणं कर्मेति मत्वा 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेत् (२२)। 'अवरेषां' तत्कनिष्ठानामपि पुत्राणाम् 'एवमेव' मूर्द्धाघ्राणं कर्त्तव्यम् (२३)। तत्र च 'यथाज्येष्ठं' ज्येष्ठानुक्रमेणैव मूर्द्धा-घ्राणं कार्यम्। 'वा' अथवा 'यथोपलम्भं' येन क्रमेण पितृसन्निधौ ते उपस्थि-ताःस्युस्तेनैव क्रमेणेति (२४)। 'स्त्रियाः' कन्यायाः 'मूर्द्धनि' मस्तके 'अभि-जिघ्रणं आघ्राणग्रहणं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव कार्यम् (२५)। समाप्तं मूर्द्धा-घ्राणम्। द्विर्वचनं क्षुद्रकर्मप्रकरणसमाप्तिद्योतकम् ॥ २१-२५ ॥ ८

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेअष्टमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥२,८

भा०:-पिता जिस समय प्रदेश से अपने घर आवे, तब या जिस समय पुत्र "मेरा पिता यही है ऐसा समझ ले, या जिसी समय निकट आकर उप-स्थित हो,उसी समय (अङ्गादङ्गात् सम्भवसि) इन तीन मन्त्रों को पढ़कर हाथ से बड़े पुत्र का मस्तक पकड़ कर 'पशूनांत्वा' मन्त्र पढ़ कर सूंघे; पीछे यथेच्छ विचरे। अपर पुत्रादि का मस्तक भी इसी प्रकार सूंघे। जो जिस के पीछे उत्पन्न

हुआ, हो उसे उसके पीछे या जो जिस समय निकट आवे तदनुसार मूर्ध्वाघ्राण करे। कन्या के मूर्ध्वाघ्राण में मन्त्र पाठ न करे ॥ २१–२५। ८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के अष्टमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२,८॥

—:०:—

अथातस्तृतीये वर्षे चूडाकरणम् ॥१॥

'अथ' प्रकरणान्तरतां द्योतयति। 'अतः' आरभ्य 'चूडाकरणं' कर्म वक्ष्मीति। तच्च 'तृतीये वर्षे' कार्यमिति चूडाकरणकालः ॥१॥ तस्येतिकर्त्तव्यतां विधत्ते;—

भा०:—यह चूड़ा करण कार्य बालक वा बालिका के तृतीय वर्षकीआयु में करे ॥१॥

पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति तत्रै-तान्युपक्लृप्तानि भवन्त्येकविंशतिर्दर्भपिञ्जूल्य उष्णोदककंस औदुम्बरः क्षुरआदर्शो वाक्षुरपाणिर्नापित इति दक्षिणत आनडुहो गोमयः कृसरः स्थालीपाको वृथापक्व इत्युत्तरतो-व्रीहियवैस्तिलमाषैरिति पृथक् पात्राणि पूरयित्वा पुरस्ता-दुपनिदध्युः कृसरोनापिताय सर्वबीजानि चेति ॥२-७॥

'शालायाः' 'पुरस्तात्' पूर्वस्मिन् भागे 'उपलिप्ते' स्थाने 'अग्निः उप समाहितः भवति' (२)। 'तत्र' ' एतानि ' अनुपदं वक्ष्यमाणानि ' उप क्लृप्तानि ' आसाद्य सज्जितानि 'भवन्ति' (३) । तान्येवाह—'एकविंशतिः दर्भपिञ्जूल्यः', 'उष्णोदककंस ' उष्णोदकसहितकांस्यपात्रम्, 'औदुम्बरः' उदुम्बरकाष्ठनिर्मितः 'क्षुरः' 'वा' अथवा 'आदर्शः' दर्पणः, 'क्षुरपाणिर्नापितः'—'इति' चत्वारि वस्तूनि सम्पाद्य ' दक्षिणतः ' दक्षिणस्यां अग्नेः स्थाप्यानीति (४)। किञ्च आनडुहः गोमयः' वृथापक्वः' अमन्त्रपक्वः 'कृसरः स्थालीपाकः' 'इति' द्वे वस्तुनी सम्पाद्य 'उत्तरतः' उत्तरस्यां अग्नेरेव सर्वत्र पूर्वाभिमुखएव कर्त्ता सुतरां कर्त्तुर्वामभागे (५)। 'व्रीहियवैः' मिश्रितैः ' तिलमाषैः ' मिश्रितैरेव 'पृथक्' 'पात्राणि' 'पूरयित्वा' 'पुरस्तात्' अग्नेरेव पूर्वस्यां परस्तादिति यावत्, 'उपनिदध्युः' स्थापयेयुः (६)। एषु च उक्तः 'कृसरः' 'च' अपि 'सर्वबीजानि' व्रीहियवैस्तिलमाषैश्च पूरितपात्राणि 'नापिताय' तस्मै देयानि (७) ॥ २–७ ॥

भा०:—जिस स्थान में चूड़ा कर्म करना हो, उसे गोमय से लीप कर पूर्व भाग में यथा विधि अग्नि स्थापन करे (२) ये सब संग्रह कर उस स्थापन में उपस्थित करे (३) जैसे—इक्कीस दर्भपिञ्जू, गर्म जल से भरा कांसे का पात्र,

गूलर के काष्ठ का क्षुरा, या दर्पण, एवं लोहे का क्षुरा सहित नापित, ये चार वस्तु दक्षिण दिशा में उपस्थित रक्खे (४) सांढ़ का गोबर, अमन्त्र पक्व कृसर अर्थात् सिद्ध तण्डुल, ये वस्तु उत्तर में रक्खे (५) पूर्व दिशा में एक पात्र में धान्य, यव एवं दूसरे पात्र में तिल और माष (उड़द) रक्खे, (६) ये कृसर और धान्यादिपूर्ण दोनों पात्र नापित को देवे ॥ २–७ ॥

अथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ॥८॥

'अथ' तदनन्तरम्। 'माता' बालकस्य, 'शुचिना वसनेन कुमारम् आच्छाद्य, अग्नेः पश्चात् उदगग्रेषु' 'प्राची' प्राङ्मुखी सती 'उपविशति' ॥ ८ ॥

भा०:–उस के अनन्तर बालक की माता बालक को साफ वस्त्र में लपेट कर अग्नि के पीछे उत्तराग्र रक्खे हुए कुशासन पर पूर्व मुख हो बैठे ॥ ८ ॥

अथ यस्तत्करिष्यन् भवति पश्चात् प्राङवतिष्ठते ॥९॥

'अथ' तदनन्तरम्। 'यः' पुरुषः 'तत्' चूडाकरणं नाम संस्कारकार्यं 'करिष्यन् भवति' पिता पुरोहितोवा' सः 'पश्चात्' उपविष्टायाः सपुत्रायाः, 'प्राक्' प्राङ्मुखः सन् 'अवतिष्ठते' अवस्थानं कुर्यात् ॥९॥

भा०:–पीछे पिता, या पुरोहित, जो कोई चूडाकरण संस्कार करने को प्रवृत्त हो, वह उस के पश्चात् भाग में पूर्वाभिमुख हो कर बैठे ॥ ९ ॥

अथ जपत्यायमगात् सविता क्षुरेणेति सवितारं मनसा ध्यायन् नापितं प्रेक्षमाण उष्णेन वाय उदकेनैधीति वायुं मनसा ध्यायन्नुष्णोदककꣳसं प्रेक्षमाणो दक्षिणेन पाणिनाऽप आदाय दक्षिणां कपुष्णिकामुन्दत्याप उन्दन्तु जीवस इति विष्णोर्दꣳष्ट्रोऽसीत्यौदुम्बरं क्षुरं प्रेक्षत आदर्शं वौषधे त्रायस्वैनमिति सप्तदर्भपिञ्जूलीर्दक्षिणायां कपुष्णिकाया मभि शिरोग्रा निदधाति ता वामेन पाणिना निगृह्य दक्षिणेन पाणिनौदुम्बरं क्षुरं गृहीत्वाऽऽदर्शं वाऽभिनिदधाति स्वधिते मैनꣳहिꣳसीरिति येन पूषा बृहस्पतेरिति त्रिः प्राञ्चं प्रोहत्यप्रच्छिन्दन् सकृद् यजुषा द्विस्तूष्णीमथायसेन प्रच्छिद्यानडुहे गोमये निदधाति ॥ १०–१७ ॥

'अथ' तदनन्तरम्। 'नापितं प्रेक्षमाणः' 'सवितारं मनसा ध्यायन्', "आयमगात् सविता क्षुरेण ॥१॥ (म०ब्रा०१,६,१)'—'इति' इमं मन्त्रं 'जपति' जपेत्(१०) "उष्णेन वायउदकेनैधि ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १,६, २)'—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'वायुं मनसा ध्यायन् उष्णोदककंसं प्रेक्षमाणः' भवति सः (११)। "आप उन्दन्तु जीवसे" ॥३॥ (म० ब्रा० १, ६, ३)'—इति' इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना अप 'आदाय' 'कपुष्णिकां' शिरःपोषिकां शिरःपार्श्ववर्तिकेशजुटिकां 'उन्दति' क्लेदयति (१२)। "विष्णोर्द्रंष्ट्रोऽसि " ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ४)'—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'औदुम्बरं क्षुरमादर्शं वा' 'प्रेक्षते' (१३)। "ओषधे त्रायस्वैनम्" ॥५॥ (म० ब्रा० १, ६, ५)'—' इति ' इमं मन्त्रं पठन् ' अभिशिरोग्राः ' शिरोऽभिमुखाग्राः ' दर्भपिञ्जूलीः ' ' दक्षिणायां कपुष्णिकायां ' ' निदधाति ' धारयति (१४)। ' ताः ' कपुष्णिकासहिता दर्भपिञ्जूलीः ' वामेन पाणिना ' 'निगृह्य दृढतया गृहीत्वा "स्वधिते मैनंहिंसीः" ॥६॥ (१, ६, ६)—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना' 'औदुम्बरं क्षुरम् आदर्शं वा' 'गृहीत्वा" अभिनिदधाति ' यत्नतो धारयेत् (१५)। ततश्च तेनैवौदुम्बरेण क्षुरेण दर्पणेन वा 'प्राञ्चं' प्राग्गतं चालयन् परन्तु 'अप्रच्छिन्दन्' यथा च केशान् न छिन्द्यादेवं कृत्वा त्रिवारं 'प्रोहति' कथङ्कारं वपनं कर्त्तव्यमिति सवितर्कं पश्यति। तत्र च 'सकृत्' "एकवारं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे" ॥७॥ (म०ब्रा०१,६,७)'—'इति' अनेन 'यजुषा' गद्यात्मकमन्त्रेण 'द्विः' वारद्वयं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेवेति (१६) 'अथ' तदनन्तरम् 'आयसेन' लोहमयेन क्षुरेण सपिञ्जूलीं दक्षिणकपुष्णिकां 'प्रच्छिद्य' पूर्वास्मादिते 'आनडुहे गोमये, 'निदधाति' स्थापयति (१७)॥१०—१७॥

भा०:—अनन्तर, पिता या पुरोहित जो कोई कार्य करे, वे इस क्षुरहस्त नापित को देख कर मन ही मन जगत्प्रसविता देवता को ध्यान कर 'आयगमात्' इस मन्त्र का पाठ करे॥१०॥ गर्म जल के साथ कांसे के पात्र में देखकर मन ही मन वायु देवता का ध्यान कर 'उष्णेन वाय' इस मन्त्र को पढ़े ॥११॥ दहिने हाथ से 'कपुष्णिका' * ग्रहण कर 'आप उन्दन्तु' इस मन्त्र का पाठ करके उसमें वही गर्म जल सींच कर गीला करे॥१२॥ 'विष्णोर्द्रंष्ट्रोऽसि' इसमन्त्रकापाठ करते हुए उसमें वही गर्म जल सींच गुलर के काठ का छुरा या दर्पण देखे ॥ १३ ॥

* मस्तक के ऊपर दोनों पार्श्व के केशों को कपुष्णिका कहते अर्थात् 'क' शब्द का अर्थ शिर, एवं केशादि उस के पोषक होने से 'क—पुष्णिका' नाम हुआ ॥

'ओषधे त्रायस्वेनं' इस मन्त्र का पाठ कर सात दर्भ–पिञ्जूली नीचे की जड़ एवं ऊपर की फुनगी इस भान्ति उस कपुष्णिका में धारण करावे ॥१४॥ पीछे उसी दर्भ पिञ्जूली के साथ दहिने कपुष्णिका आदि वांये हाथ में रक्ख कर 'स्वधितेमैनंहिंसीः' यह मन्त्र पढ़कर दहिने हाथ में उस गूलर के काष्ठ का क्षुरा या दर्पण लेकर उसी कपुष्णिका में अच्छे प्रकार धारण करे ॥ १५ ॥ एवं उस को पूर्वाभिमुख कर तीनवार चला कर किस प्रकार छेदित होगा, तर्क करके देखे। उस तीनवार के चलाने में एकवार 'येन पूषा' अपर दो वार में किसी मन्त्र के पाठ करने की आवश्यकता नहीं। इस गूलर के क्षुरा, या दर्पण चलाने में केश छिन्न नहीं होता ॥१६॥ अनन्तर लोहे के क्षुरे से उसी दर्भ पिञ्जूलीके साथ दक्षिणकपुष्णिका को छेदकर सांढ़ के गोबर में स्थापन करे ।१७।

एतयैवावृता कपुच्छलम् ॥१८॥ एतयोत्तरां कपुष्णिकाम् ॥ १९ ॥ उन्दनप्रभृति त्वेवाभिनिवर्त्तयेत् ॥ २० ॥

'एतया एव आवृता' कथितपरिपाट्यैव 'कपुच्छलं' शिरःपुच्छसदृशं पश्चात्केशकलापम् आयसेन क्षुरेण प्रच्छिद्य आनडुहे गोमये निदधाति ॥ १८ ॥ 'एतया' परिपाटया उत्तरां कपुष्णिकाम्, अपि आयसेन क्षुरेण प्रच्छिद्य आनडुहे गोमये निदधाति ॥ १९ ॥ कपुच्छलच्छेदने उत्तरकपुष्णिकाच्छेदने च 'उन्दनप्रभृति' पूर्वोक्तछेदनादि गोमये निधानान्तं (१२–१७ सू०) कर्मजातम् 'अभिनिवर्त्तयेत् निष्पादयेत्; न तत्पूर्वतनं नापितत्परतनञ्च तत्र पृथक्त्वेनानुष्ठेयम् २०

भा०ः–पूर्वोक्त प्रकार से कपुच्छल को लोहे के क्षुरे से काटे ॥ १८ ॥ उत्तर 'कपुष्णिका' कटवाने में भी यही नियम समझना ॥ १९ ॥ 'कपुच्छल' काटने में और उत्तर 'कपुष्णिका' काटने में दोनों ही स्थान गर्म जल से भिंगाना आदि सम्पूर्ण कार्य भिन्न २ करना होगा, उस के पूर्व, या पीछे का कार्य सब, प्रत्येक वार काटने के लिये भिन्न २ न होंगे ॥२०॥

उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य जपेत् त्र्यायुषं जमदग्नेरिति ॥ एतयैवावृता स्त्रियास्तूष्णीम् मन्त्रेण तु होमः ।२१–२४।

इत्थं बालकस्य कपुष्णिकाद्वयं कपुच्छलञ्च छेदयित्वा उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषमगस्त्यस्य त्र्यायुषम् । यद्देवानां त्र्यायुषं तत्ते अस्तु त्र्यायुषम्' ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ८)'–'इति' इमं मन्त्रं 'जपेत्' (२१) 'स्त्रियाः' कन्याया अपि कपुष्णिकादिच्छेदनम् 'एतया' 'आवृता' परिपाटया 'एव' कार्यम् (२२)। तत्रायं विशेषः–'तूष्णीम्' अमन्त्र-

कर्मेव सर्वम् (२३)। तत्राप्ययं विशेषः— 'मन्त्रेण तु होमः' चूडासंस्कारार्थ होमस्तु तत्रापि मन्त्रेणैव कार्यः (२४) ॥ २२—२४ ॥

भा०:—इसी प्रकार दोनों कपुष्णिका और कपुच्छल काटने पर दोनों हाथ से लड़के के माथे को पकड़ कर 'आयुषं क्षमदग्नेः'—इस मन्त्र का जप करे ॥२१॥ कन्या को चूड़ा कर्म भी ठीक इसी प्रकार इसी नियम से होगा परन्तु मन्त्र रहित, किन्तु चूड़ा कर्म्म का होम, मन्त्र के साथ होगा ॥२२–२४॥

उदगग्नेरुत्सृप्य कुशलीकारयन्ति यथागोत्रकुलकल्पमानडुहे गोमये केशान् कृत्वाऽरण्यꣳ हृत्वा निखनन्ति स्तम्बे हैके निदधति यथार्थं गौर्दक्षिणा ॥ २५—२९ ॥ ९

'अग्नेः' 'उदक्' उत्तरस्मिन् 'उत्सृप्य' उत्सर्पणेनोपविश्य 'यथागोत्रकुलकल्पं' गोत्रकुलानुरूपं सशिखं शिखाशून्यं वा, पञ्चचूडं वा (तथाच—"वासिष्ठाः पञ्चचूडाः स्युस्त्रिचूडाः कुण्डपायिनः" किञ्च "सशिखं वपनं कार्यमास्नानाद्ब्रह्मचारिणाम् । आशरीरविमोक्षाय ब्रह्मचर्यं न चेद् भवेत्"—इति। एवञ्च वसिष्ठगोत्राणां पञ्चचूडं मुण्डनम्, कुण्डपायिनां त्रिचूडं मुण्डनम्, कौथुमानामासमावर्त्तनात् सशिखं वपनश्रुति) बहुवचनं साधारणविध्यपेक्षम् (२५) मुण्डयित्वा च तान् 'केशान्' 'आनडुहे गोमये कृत्वा' 'अरण्यं' 'हृत्वा' नीत्वा 'निखनन्ति' मृण्मध्ये प्रोथयन्ति (२६) 'एके' आचार्या आहुः—'स्तम्बे ह' झिंझिटवृक्षादिकुञ्जे एव 'निदधति' स्थापयन्ति तान् केशानिति (२७) इति गतं चूडाकर्म्मेति 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेत् (२८) अस्य च चूडाकर्मणः 'दक्षिणा' 'गौः' एकैव (२९) २५—२९ ॥९॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेनवमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् २,९

भा०:—इस प्रकार दोनों कपुष्णिका काटे जाने पर बालक वहां से हटकर अग्नि के उत्तर भाग में बैठे और आत्मीय लोग नापित से गोत्र और कुलानुसार पांच, या तीन शिखा, या शिखारहित, या शिखासहित मुण्डन करावे, * ॥२५॥ मुण्डन कराने पीछे केशादि को वन मे लेजाकर भूमि में गाड़ देवे ॥२६॥ कोई २ आचार्य्य कहते हैं कि उसे वन में लेजाकर किसी सघन वन स्थल में फेकदेवे ॥२७॥ इसप्रकार चूड़ाकर्म समाप्त होने पर अपनी इच्छानुसार जहां चाहे जावे ॥ २८ ॥ इस चूड़ाकर्म की दक्षिणा एक गौ होगी ॥ २५—२९ ॥

* इस लिये जिन लोगों का गोत्र वशिष्ठ है उन को ५ शिखारख कर शिर मुड़ाना चाहिये एवं जिन का गोत्र 'कुण्डपायी' है उन्हें ३ चूड़ा रख कर मुण्डन कराना चाहिये और जिन की कौथुमी शाखा है वे वेद की समाप्ति पीछे समावर्त्तन होने तक शिखा भी मुण्डन करा लेवें किन्तु जो लोग बहुत समय तक ब्रह्मचर्य्य रखना चाहें एवं समावर्त्तन का विचार न हो, तो उन्हें शिखा रक्षा पूर्वक मुण्डन कराना चाहिये ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीयअध्याय के नवमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२,९॥

गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत् ॥१॥ गर्भैकादशेषु क्षत्रियम् ॥२॥ गर्भद्वादशेषु वैश्यम् ॥३॥ आषोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालोभवत्याद्वाविंशात् क्षत्रियस्याचतुर्विंशाद्वैश्यस्य ॥४॥

'गर्भाष्टमेषु' गर्भमासतो गणनया ये अष्टमाब्दकालास्तेषु यस्मिन् कस्मिन्नपि शुभदिने 'ब्राह्मणम्' ब्राह्मणजातीयकुमारम् 'उपनयेत्' वक्ष्यमाणप्रकारेण संस्कृत्य कृतब्रह्मवेदाध्ययनाय गुरावन्तिकं प्रापयेत् ॥ १ ॥ 'गर्भैकादशेषु' 'क्षत्रियम्' उपनयेत् ॥ २ ॥ उपनयेदित्येव ॥ ३ ॥ 'ब्राह्मणस्य' 'आ षोडशवर्षात्' षोडशाब्दवयः समाप्तिं यावत्, 'क्षत्रियस्य' 'आ द्वाविंशात्' द्वाविंशाब्दान्तं यावत्, 'वैश्यस्य' 'आ चतुर्विंशात्' चतुर्विंशाब्दान्तं यावत् 'अनतीतः कालो भवति' उपनयनस्येति॥४

भा०:-जिस मास में गर्भ हुआ हो उस मास से गिनने पर जो वर्ष अष्टम हो, उस वर्ष के जिस किसी शुभ तिथि में ब्राह्मण कुमार को उपनीत करे अर्थात् संस्कार पूर्वक वेदाध्यायनार्थ उपयुक्त गुरु के समीप नीत करे (लावे)॥१॥ क्षत्रिय कुमार को गर्भ मास से गिन कर ग्यारहवें वर्ष में आचार्य्य के पास लावे (अर्थात् उपनयन करे) ॥ २ ॥ वैश्य के लड़के को, गर्भमास से गिनति में जिस वर्षमें १२ बारहवां वर्ष हो उसी वर्ष के उपयुक्त मास तिथि में उपनयन करे ॥ ३ ॥ ब्राह्मण कुमार को १६ वर्ष की अवस्था पूरी होने तक उपनयन काल अतीत न होगा अर्थात् यदि गर्भ से ८ म वर्ष में उपनयन न कर सके तो सोलह वर्षकी अवस्था पर्य्यन्त जिस किसी समय जिस किसी उपयुक्त तिथि में उपनयन करे इसमें हानि नहीं। क्षत्रिय कुमार के २२ वर्षकी अवस्था पर्यन्त एवं वैश्य के लड़केको २४ वर्ष की उमर तक उपनयन हो सकता है ॥ ४ ॥

अत ऊर्द्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ५ ॥

'अतऊर्द्ध्वं' ब्राह्मणस्य षोडशाब्दात् परं, क्षत्रियस्य द्वाविंशाब्दात् परं, वैश्यस्य चतुर्विंशाब्दात् परम्। अर्थतः एतावत् कालमप्यनुपनीताश्चेत् तर्हि 'पतितसावित्रीकाः' व्रात्यापरपर्यायाः 'भवन्ति' ॥ ५ ॥

भा०:-उक्त काल के पीछे अर्थात् ब्राह्मण कुमार १६ वर्ष की अवस्था के पीछे, क्षत्रियकुमार २२ वर्षकी अवस्था पीछे, वैश्यकुमार २४ वर्ष की अवस्था पीछे, सावित्री पतित अर्थात् सावित्री (गायत्री) मन्त्र के उपदेश योग्य नहीं होते ॥५॥

नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्नैभिर्विवहेयुः ॥ ६ ॥

'एतान्' पतितसावित्रीकान् 'न उपनयेयुः' न अध्यापयेयुः, न याजयेयुः'

किन्तु 'एभिः सह'न विवहेयुः' कन्योद्वाहसम्बन्धं न कुर्युः। इति गतः कालनियमः ।६।

भा०:—उक्त सावित्रीपतित लोगों को पुनः उपनयन नहीं हो सकता । ऐसों को कोई अध्ययन भी न करावे, कोई यज्ञ भी नहीं करावे, इन का विवाह भी समाज में निषिद्ध समझे। यही उपनयन काल का नियम है ॥६॥

यदहरुपैष्यन्माणवकोभवति प्रगएवैनं तदहर्भोजयन्ति कुशलीकारयन्त्याप्लावयन्त्यलङ्कुर्वन्त्यहतेन वाससाऽऽच्छादयन्ति ॥ ७ ॥

'माणवकः' अनधीतबालकः 'यदहः' यस्मिन्नहनि 'उपैष्यन्' उपनीतो भविष्यन् भवति, 'तदहः' तस्मिन्नहनि 'प्रगे एव' प्रातरेव 'भोजयन्ति' मात्रादयः, यान् कानप्याहार्यान् प्रातराशमात्रं वा तं माणवकमिति शेषः । ततः 'कुशलीकारयन्ति' मुण्डयन्ति । ततः 'आप्लावयन्ति' स्नापयन्ति । ततः 'अलङ्कुर्वन्ति' शोभयन्ति । ततः 'अहतेन वाससा आच्छादयन्ति' । सर्वदैव तं माणवकम् मात्रादय इति । ७ ॥

भा०:—जिस दिन अनुपनीत बालक का उपनयन होवे, उस दिन प्रातः काल उसे प्रातराश (दोपार दिन से पहिले का भोजन) या और अन्यखाद्य भोजन करावे। पीछे उस को मुण्डित कर स्नान करावे एवं, भूषणादि पहनावे और उसे अखण्ड वस्त्र से आवृत करे ॥ ७ ॥

क्षौमशाणकार्पासौर्णान्येषां वसनानि । ८ । ऐणेयरौरवाजान्यजिनानि । ९ ।

'एषां' ब्राह्मणादीनां त्रयाणां 'वसनानि' परिधेयानि 'क्षौमशाणकार्पासौर्णानि' कुर्युः ।८। एषां 'अजिनानि' उत्तरीयचर्माणि 'ऐणेयरौरवाजानि' कर्त्तव्यानि।९

भा०:—बालक को पहनने योग्य वस्त्रः रेशमी,शण, कपास, या ऊनी चाहिये ॥ ८ ॥ एवं बालक के लिये अजिन अर्थात् उत्तरीय ऐणेय, रौरव, और बकरे के चर्म का होगा ॥ ९ ॥

मुञ्जकाशताम्बल्योरशनाः ।१०। पार्णवैल्वाश्वत्थादण्डाः ११

एषां 'रशनाः' कटिबन्धनरज्जवः 'मुञ्जकाशताम्बल्यः' कर्त्तव्याः। १० । एषां 'दण्डाः' हस्तग्राह्याः 'पार्णवैल्वाश्वत्थाः' कर्त्तव्याः । ११ ।

भा०:—बालक के लिये कमर कस—मुञ्ज, काश, या मजीठ' का होगा ॥ १० ॥ और दण्ड पलाश, बेल, या पीपर का होगा ॥ ११ ॥

क्षौमꣳशाणं वा वसनं ब्राह्मणस्य कार्पासं क्षत्रियस्या-

विकं वैश्यस्यैतेनैवेतराणि व्याख्यातान्यलाभे वा सर्वाणि सर्वेषाम् ॥ १२-१४ ॥

पूर्वोक्तानां क्षौमादीनां मध्ये,—ब्राह्मणस्य' 'क्षौम' तसरादि प्रसिद्धं 'वा' अथवा 'शाणं' शणसूत्रमयं 'वसनं' परिधेयं कार्यम् । 'क्षत्रियस्य' 'कार्पासं सूत्रमयं वसनं कार्यम् । 'वैश्यस्य' 'आविकं' अव्यूर्णामयं वसनं कार्यम् । 'एतेनैव' वसननियमकथनप्रकारेणैव'इतराणि द्रव्याणि' अजिनरशनादण्डरूपाणि'व्याख्यातानि' कथितानीवेति । तथाच पूर्वसूत्रेषु (९, १०, ११) यथाक्रमतोव्यवस्था ब्राह्मणस्य—'ऐणेयं' कृष्णसारमृगचर्म अजिनम्, 'मौञ्जी' मुञ्जमयी रशना 'पार्णः' पलाशकाष्ठीयश्च दण्डः । क्षत्रियस्य—'रौरवं' रुरुमृगचर्म अजिनम्, 'काशी' काशमयी रशना, 'वैल्वः' विल्वकाष्ठीयश्च दण्डः । वैश्यस्य—'आजं' अजामृगचर्म अजिनम्, 'ताम्बली' शणमयी रशना, 'आश्वत्थः' अश्वत्थकाष्ठीयश्च दण्डः । 'वा' अथवा 'अलाभे' ब्राह्मणादीनाम् क्षौमैणेयादीनामप्राप्तौ 'सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां 'सर्वाणि' क्षौमादीनि ऐणेयादीनि मौञ्ज्यादीनि पार्णादीनि च द्रव्याणि यस्य यथालाभतो ग्राह्याणि ॥ १२-१४ ॥

भा०:—उन में से ब्राह्मण को पहनने के लिये कपड़ा—रेशमी, या शण का, क्षत्रिय के लिये कपास का, वैश्य के लिये ऊनी होगा । मृग—छाला भी इसी प्रकार क्रम से ब्राह्मण के लिये कृष्णसार नामक मृग का चर्म, क्षत्रिय के लिये रुरुमृग का और वैश्य के लिये बकरी का चर्म होगा। ब्राह्मण के लिये मुंजका कमर कस, क्षत्रिय के लिये काश का, वैश्यके लिये शण का होगा। और ब्राह्मण के लिये पलाश का दण्ड, क्षत्रिय के लिये विल्व का, वैश्य के लिये पीपर का होगा । यदि समयानुसार यथानियम ब्राह्मणादि के यथा योग्य वसन आदि दुर्घट होवें तो,सबही वर्ण अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब प्रकार के वसन आदि व्यवहार कर सकेंगे। अर्थात् उक्त क्षौम (रेशमी) आदि चार व्यवहार करे जब, जिस समय, जिस किसी प्रकार का, वसन सुलभ पावे, उस समय वही ब्राह्मण आदि निर्विशेष व्यवहार कर सकेंगे, अजिनादि के विषय में भी समयानुसार इसी प्रकार यथा लाभ व्यवस्था करनी उचित है ॥ १३-१४ ॥

पुरस्ताच्छालायाउपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितोभवति ॥१५॥ अग्ने व्रतपतइति हुत्वा पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राङाचार्योऽवतिष्ठते । १६ । अन्तरेणाग्न्याचार्यौ माणवकोऽञ्जलिकृतोऽभिमुख आचार्यमुदगग्रेषु दर्भेषु ॥ १७ ॥

'शालायाः पुरस्तात्' 'उपलिप्ते' स्थाने 'अग्निः उपसमाहितः भवति' ॥ १५ ॥ तत्र चाग्नौ 'आचार्यः' वेदाध्यापकः कश्चित् माणवक; प्रतिनिधिर्भवन् "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यास मिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ९ ॥ वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ १० ॥ सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ११ ॥ चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ १२ ॥ व्रतानां व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ९–१३)–' इति ' एभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः 'हुत्वा' 'अग्नेः पश्चात् उदग्रेषु दर्भेषु' 'प्राङ्' प्राङ्मुखः सन् 'अवतिष्ठते' अवतिष्ठेत। १६। 'अन्तरेणाग्न्याचार्यौ' अग्न्याचार्ययोः मध्ये 'माणवकः' 'आचार्यम् अभिमुखः' 'अञ्जलिकृतः' उदकग्रहणोपयुक्तः कृताञ्जलिः सन् 'उदगग्रेषु दर्भेषु' अवतिष्ठेत ॥ १७ ॥

भा०:–उपनयनार्थ अग्नि यज्ञशाला के पूर्वभाग में लीपे हुए स्थान में स्थापित करे ॥ १५ ॥ उस अग्नि में आचार्य्य अर्थात् एक व्यक्ति वेदाध्यापक लड़के के प्रतिनिधि स्वरूप होकर "अग्ने व्रतपते" प्रभृति पांच मन्त्रों से पांच आहुति प्रदान कर अग्नि के पश्चिम उत्तराग्र कुशों पर बैठे ॥१६॥ अग्नि और आचार्य के मध्यस्थल में डाले हुए उत्तराग्र कुशाओं पर आचार्य के सम्मुख और कृताञ्जलि हो लड़का बैठे ॥ १७ ॥ १५–१७ ॥

तस्य दक्षिणतोऽवस्थाय मन्त्रवान् ब्राह्मणोऽपामञ्जलिं पूरयत्युपरिष्टाच्चाचार्य्यस्य ॥ १८, १९ ॥

'तस्य' तादृशावस्थस्य माणवकस्य 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां तिष्ठन् कश्चित् 'मन्त्रवान्' अधीतवेदः 'ब्राह्मणः' तस्यैव माणवकस्य 'अञ्जलिं' 'अपां' दानेन 'पूरयति'। 'उपरिष्टात्' ततः परस्तात् 'आचार्यस्य' 'च' अपि अञ्जलिं पूरयति अपां दानेनेति ॥ १८–१९ ॥

भा०–उस लड़के की दक्षिण में रह कर कोई वेदपाठी ब्राह्मण, उस की अञ्जलि जलसे भर देवे। उसके बाद आचार्यकी अञ्जलिभी जलसे भरे ॥१८, १९॥

प्रेक्षमाणोजपत्यागन्त्रा समगन्महीति ब्रह्मचर्य्यमागामिति वाचयति कोनामासीति नामधेयं पृच्छति तस्याचार्यः।२०–२२

'आचार्यः' 'प्रेक्षमाणः' माणवकमिति यावत् 'आगन्त्रा समगन्महि प्र सुमर्त्यं

युयोतन । अरिष्टाः सञ्चरेमहि स्वस्ति चरतादयम् ॥१४॥ अग्निष्टे हस्तमग्रहीत सविता हस्तमग्रहीत् । अर्यमा हस्तमग्रहीन्मित्रस्त्वमसि [illegible] र्मणा” ॥१५॥ (अग्नि-राचार्यस्तव) (म० ब्रा० १,६,१४-१५) 'इति' द्व्यृचं 'जप[illegible]यम् । “ब्रह्मचर्य-मागामुपमानयस्व” ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १६)—'इति' इमामृचं 'वाचयति' माणवकम् । “को नामासि ? असौ नामास्मि” ॥१७॥ (म० ब्रा० १, ६, १)—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'तस्य' माणवकस्य नामधेयं ' पृच्छति ' ॥ २०—२२ ॥

भा०—आचार्य, उस लड़के के प्रति देखकर दो मन्त्रोंका स्वयं पाठ करे, 'ब्रह्मचर्यमागाम्' लड़के से पाठ करावे एवं 'को नामासि' मन्त्र को पढ़ते हुए उस लड़के का नाम पूछे ॥ २०—२२ ।

अभिवादनीयं नामधेयं कल्पयित्वा देवताश्रयं वा नक्षत्राश्रयं वा गोत्राश्रयमप्येक उत्सृज्यापामञ्जलिमाचार्यो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिꣳसाङ्गुष्ठं गृह्णाति देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याꣳ हस्तं गृह्णाम्यसाविति ॥ २३—२६ ॥

'आचार्यः' 'अभिवादनीयं' अभिवादनाय हितं 'नामधेयं' द्वितीयजन्मसूचकं नूतनं नाम 'कल्पयित्वा' अमुकनामाहमस्मीति तन्माणवकनामैव तन्माणवकं वाचयित्वा (२३), 'अपामञ्जलिं गृहीतमुदकाञ्जलिम्' 'उत्सृज्य' परित्यज्य, “देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याꣳ हस्तं गृह्णाम्यसौ” ॥१८॥ (म०ब्रा०१,६,१८,),—'इति' (१) इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना' साङ्गुष्ठं दक्षिणं पाणिं' 'गृह्णाति' (२६) । तत्र द्विजत्वसूचकं नामधेयं कीदृशं कर्तव्यमित्याह;—'देवताश्रयं' वेदगर्भब्रह्मव्रतेत्यादिकं, ' वा ' अथवा ' नक्षत्राश्रयं ' आश्विन-रौहिणेत्यादिकं (२४), 'वा' अथवा 'एके' आचार्याः 'गोत्राश्रयं' वेद—पैलवेत्यादिकम् 'अपि' नामधेयम् आहुरिति शेषः (२५) ॥ २३—२६ ॥

भा०:—पीछे आचार्य्य स्वयं अभिवादन समय में कथनीय द्वितीय जन्म-सूचक एक नवीन नाम कल्पना कर उसे लड़केको “मैं अमुक नाम वाला गुरो तुम को अभिवादन करता हूं” कहवा कर लिये हुए जलाञ्जलि को छोड़ कर “देवस्य ते”—इस मन्त्र का पाठ करते हुए दहिने हाथ से बालक के अंगुठे के साथ दहिना हाथ ग्रहण करे । वह नाम देवताश्रित, या नक्षत्राश्रित अथवा गोत्राश्रित होगा (देवताश्रित जैसे—वेदगर्भ, ब्रह्मव्रत, प्रभृति, नक्षत्राश्रित जैसे आश्विन, रौहिण प्रभृति; गोत्राश्रित जैसे—वेद, पैलव प्रभृति) ॥ २३-२६ ॥

अथैनं प्रदक्षिणमावर्त्तयति सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्वासाविति ॥२७॥ दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंꣳसमन्ववमृश्यानन्तर्हितां नाभिमभिमृशेत् प्राणानां ग्रन्थिरसीति ॥ २८ ॥

'अथ' अनन्तरम् । 'एनं' माणवकम् सूर्यस्यावृत मन्वावर्त्तस्वासौ ॥ १९ ॥ (म० ब्रा० १६. १९).—'इति' मन्त्रं पठन् 'प्रदक्षिणं' यथास्यात्तथा 'आवर्त्तयति' प्राङ्मुखं करोति, आचार्यएव ॥ २७ ॥ दक्षिणेन पाणिना' माणवकस्य 'दक्षिणमंसम्' 'अन्ववमृश्य' स्पृशन्नेव "प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददाम्यमुम्" ॥ २० ॥ (म० ब्रा० १, ६, २०)'—'इति' मन्त्रं पठन् 'अनन्तर्हितां' वस्त्राच्छादनशून्यां 'नाभिम्' 'अभिमृशेत्' संस्पृशेत् आचार्यएव ॥२८॥

भा०:—अनन्तर इस बालक को प्रदक्षिण क्रम से पूर्वाभिमुख कर 'सूर्य्यस्य' इस मन्त्र का पाठ करे ॥२७॥ पश्चात् आचार्य्य "प्राणानां ग्रन्थिरसि" मन्त्र पढ़ते हुए दहिने हाथ से उस बालक को दहिने कांधे पर होकर वस्त्रादि आवरण शून्य नाभि छूए ॥ २८ ॥

उत्सृप्य नाभिदेशमहुरइति । २९ । उत्सृप्य हृदयदेशं कृशनइति । ३० । दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंꣳसमन्वालभ्य प्रजापतये त्वा परिददाम्यसाविति ॥ ३१ ॥

माणवकस्य 'नाभिदेशम्' 'उत्सृप्य' हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा "अहुर इदं ते परिददाम्यमुम्" ॥ २१ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २१)'—'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः । ॥ २९ ॥ माणवकस्य 'हृदयदेशं' 'उत्सृप्य' हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा कृशन इदं ते परिददाम्यमुम्" ॥२२॥ (म० ब्रा० १, ६, २२)'—'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः॥३० दक्षिणेन पाणिना' माणवकस्य 'दक्षिणमंसम्' 'अन्वालभ्य' स्पृष्ट्वा "प्रजापतये त्वा परिददाम्यमुम्"॥२३॥ (म० ब्रा०१. ६. २३)'—'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः॥३१

भा०—बालक के नाभिदेश में हाथ चलाकर आचार्य 'अहुरः' इस मन्त्र का पाठ करे ॥ २९ ॥ इसी प्रकार हृदयदेश में हाथ चला कर 'कृशनः' मन्त्र पढ़े ॥३० ॥ फिर आचार्य दहिने हाथ से बालक के दहिने कांधे को स्पर्श कर 'प्रजापतये त्वा' मन्त्र को पढ़े ॥ ३१ ॥

सव्येन सव्यं देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यसाविति।३२। अथैनꣳसंप्रेष्यति ब्रह्मचार्य्यस्यसाविति समिधमाधेह्यपोऽशान कर्म्मकुरु मा दिवा स्वाप्सीरिति ॥ ३३–३४ ॥

'सव्येन' वामेन पाणिना, माणवकस्य 'सव्य' वाममंसं स्पृष्ट्वा देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यसौ" ॥२४॥ (म०ब्रा०१,६,२४)'–'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥३२॥ 'अथ' तदनन्तरम्। आचार्यः, 'एनं' माणवकं त्वमेतन्नामकः,अद्यप्रभृति "ब्रह्मचारी असि" (म० ब्रा० १, ६, २५)'–'इति' हेतोः 'समिधम् आधेहि अग्नौ प्रतिदिनमेव समिदाधानं कुरु, 'अपोशान कर्म' यथास्थानं यथाप्रयोजनञ्च शौचाचमनादि च कुरु, 'मा दिवा स्वाप्सीः' दिवानिद्राञ्च मा कुरु,–'इति' समिधमाधेह्यपोशान कर्म कुरु मा दिवा स्वाप्सीः ॥२.॥ (म० ब्रा० १, ६, २६) एतत्त्रितयोपदेशबोधकं मन्त्रम् पठन् 'सम्प्रेष्यति' उपदिशति। ३२–३४

भा०–इसी प्रकार बांये हाथ से बालक के बांये कांधे को स्पर्श कर 'सवित्रेत्वा' मन्त्र को पढ़े ॥३२॥ उसके पश्चात् आचार्य, इस बालक को "तुम आज से इस नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मचारी होते हो, प्रतिदिन सायं प्रातः अग्नि में समिधादान करना और शौचाचार युक्त रहना, दिनमें न सोना" ये तीन उपदेश देवें ॥३३. ३४॥

उदङ्ग्नेरुत्सृप्य प्राङाचार्य्य उपविशत्युदगग्रेषु दर्भेषु । ३५ । प्रत्यङ्माणवको दक्षिणजान्वक्तोऽभिमुखआचार्य्यमुदगग्रेष्वेव दर्भेषु ॥ ३६ ॥

'आचार्यः' 'अग्नेः' 'उदक्' उत्तरस्या उदगग्रेषु दर्भेषु 'प्राङ्' प्राङ्मुखः सन् 'उपविशति' उपविशेत् ॥ ३५ ॥ माणवकः' तत्रैव 'उदगग्रेष्वेव दर्भेषु' 'दक्षिणजान्वक्तः' भूमिगतदक्षिणजानुकः 'आचार्यमभिमुखः' 'प्रत्यङ्' पश्चिममुखः सन् उपविशेदित्येव ॥ ३६ ॥

भा०–पश्चात् आचार्य अग्नि के उत्तर दिशा में उत्तराग्र रक्खे हुए कुशों पर पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ३५ ॥ बालक भी उसी स्थान में उत्तराग्र रक्खे हुए कुशाओं पर अपना दहिना जांघ(जानु)भूमि में लगा कर आचार्य के सन्मुख बैठे ॥३६॥

अथैनं त्रिः प्रदक्षिणं मुञ्जमेखलां परिहरन् वाचयतीयं दुरुक्तात् परिबाधमानेत्यृतस्य गोप्त्रीति च ॥ ३७ ॥

'अथ, तदनन्तम्। आचार्यः 'एनं' माणवकं 'त्रिःप्रदक्षिणं' यथास्यात्तथा 'मुञ्जमेखलां' मुञ्जमयीं रशनां 'परिहरन्' परिधापयन् "इयं दुरुक्तात्परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती मआगात्। प्राणापानाभ्यां बलमाहरन्ती स्वसा-देवी सुभगा मेखलेयम्" ॥ २७ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २७)'–'इति' मन्त्रं, ऋतस्य गोप्त्री तपसः परस्पी घ्नती रक्षः सहमाना अरातीः। सा मा समन्तमभिपर्येहि-

भद्रे धर्त्तारस्ते मेखले मा रिषाम" ॥२८॥ (म० ब्रा० १, ६, २८)'–'इति' मन्त्रं 'च' 'वाचयति'। अत्रैव यज्ञोपवीतपरिधापनव्यवहारश्च, परं कौथुमानां सूत्रकारानुल्लेखादकृतेऽपि न दोष इति नव्याः। वस्तुतो वेदाध्ययनायाचार्यसमीपे नयनमेवोपनयनं, यज्ञोपवीतधारणन्तु दैवकार्यानुष्ठानार्थमेव सूत्रकारेण विहितमिति यदायदैव दैवकार्यं कर्त्तव्यं भवेत् तदा तदैव धार्यं स्यादिति न क्षतिः, शिखापरिरक्षणन्तु सर्वथैव कार्यमेवान्यथा दैवकार्यकाले कुतआयास्यतीति॥३७॥

भा०–आचार्य, उस बालकको मूंज की बनीहुई मेखला, तीन फेरा करके पहना कर 'इयं दुरुक्तात्' और 'ऋतस्य' गोप्त्री इन दो मन्त्रों को पढ़ावे ॥३७॥

अथोपसीदत्यधीहि भोः सावित्रीं मे भवाननुब्रवीत्विति। ३८। तस्माअन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चश ऋक्शइति महाव्याहृतीश्च विहृता ओंकारान्ताः॥ ३९–४०॥

'अथ' तदनन्तरम्। माणवकः 'भोः!' 'अधीहि' अध्यापय, 'भवान् मे सावित्रीम् अनुब्रवीतु'–'इति' प्रार्थनावाक्यद्वयं कथयन् 'उपसीदति' शरणागतो भवति। ३८। ततश्च 'तस्मै' माणवकाय, प्रथमं 'पच्छः' पादं पादं कृत्वा, ततः 'अर्द्धर्चशः' अर्द्धमर्द्धर्चं कृत्वा, तदन्ते च 'ऋक्शः' "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्" ॥ २९ ॥ पूर्णामृचमावर्त्तयित्वा 'इति' एवमेव 'अन्वाह' अनुक्रमेण ब्रूयात् (३९) 'च' अपि 'विहृताः' विभिन्नीकृताः (१) 'ओंकारान्ताः' 'महाव्याहृतीः' "भूर्भुवस्वः"(मं०ब्रा० १ [illegible])इति अनुब्रूयात् ततः ओं इत्यस्याप्युपदेशः कार्य इत्यर्थः ॥ ३९, ४० ॥

भा०:–अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़, नम्रता पूर्वक प्रार्थना करे कि–'हे गुरो! मुझे वेद पढ़ावें, एवं सावित्री उपदेश करें' ॥ ३८ ॥ इसी प्रकार बालक कर्तृक वेदाध्ययन एवं उसका आरम्भ सूचक सावित्री मन्त्र के प्रथम उपदेश प्रार्थित होने पर आचार्य उसे पहिले एक २ चरण करके, पुनः आधी २ ऋचा, फिर सम्पूर्ण ऋचा वार २ आवृत्ति करा देवे। तदनन्तर "भूः, भुवः, और स्वः"–इन तीन महा व्याहृतियोंको अलग२ एवं ॐकारभी अभ्यास करावे ॥३९,४०॥

वार्क्षञ्चास्मै दण्डं प्रयच्छन् वाचयति सुश्रवसं मा कुर्विति।४१

'च' ततः 'अस्मै' माणवकाय 'वार्क्षं' पलाशवृक्षावयवं दण्डं' 'प्रयच्छन्' सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वꣳसुश्रवः सुश्रवाः। देवेष्वेव महꣳसुश्रवःसुश्रवा ब्राह्मणेषु भूयासम्" ॥ ३१ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ३१),–'इति' मन्त्रं 'वाचयति' माणवकमेव। ४१

भा०:–पश्चात् आचार्य, इस माणवक के हाथ में पलाश वृक्ष का दण्ड देकर "सुश्रवसः सुश्रवसं मा कुरु" इस मन्त्र का पाठ करावे ॥ ४१ ॥

अथ भैक्षं चरति मातरमेवाग्रे द्वे चान्ये सुहृदौ यावत्यो वा सन्निहिताः स्युराचार्याय भैक्षं निवेदयति ॥ ४२–४४ ॥

'अथ' उपनयनानन्तरं 'भैक्षं' भिक्षार्थं 'चरति' अटति (४२) 'अग्रे' 'मातरमेव' भिक्षेतेति शेषः। 'च' अपि मातुरेव 'अन्ये द्वे सुहृदौ' ततः परं भिक्षेत। 'वा' अथवा 'यावत्यः' स्त्रियः 'सन्निहिताः' तत्रोपस्थिताः स्युः,ताः सर्वाएव मात्रादिक्रमेण प्रथमं भिक्षेत। 'पुरुषभिक्षणस्य मात्रोल्लेखहत्यपि ध्येयम् (४३)। संगृहीतञ्च तद् 'भैक्षं' भिक्षान्नं सर्वमेव 'आचार्याय' 'निवेदयति' उत्सृजति (४४)

भा०:–इसप्रकार उपनयन होने पर बालक भिक्षाचरण करे। पहिले माता से भिक्षा मांगे, तदनन्तर माता के दो सुहृद् के निकट, या उस स्थान में जितनी स्त्रियां उपस्थित हों, माता से आरम्भ कर सब ही के निकट भिक्षा ग्रहण करे *। सब भिक्षा को संग्रह कर आचार्य को निवेदन करे ॥ ४२–४४ ॥

तिष्ठत्यहःशेषं वाग्यतः ॥ ४५ ॥

भिक्षाचरणान्तकर्मयापितदिवाबहुभागो माणवकः 'अहःशेषं' तद्दिनावशिष्टांशं 'वाग्यतः' संयतवाक् सन् 'तिष्ठति' तिष्ठेत् अवस्थितिं कुर्यात् ॥ ४५ ॥

भा०:–इन कार्यों के करने में बालक का प्रायः सारा दिन बीत जायेगा, जो कुछ दिन का भाग शेष रह जावे, उसको चुपचाप स्थिरता से विश्राम करते हुए बितावे ॥ ४५ ॥

अस्तमिते समिधमादधात्यग्नये समिधमाहार्षमिति ॥ ४६ ॥

'अस्तमिते' दिवाकरे अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिधस्येवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन धनेनान्नाद्येन समेधिषीय (स्वाहा) ॥ ३२ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ३२)–'इति' मन्त्रं पठन् 'समिधम्' समित्काष्ठैकम् 'आदधाति' अग्नाविति शेषः ॥ ४६ ॥

भा०:–पीछे सूर्यास्त होने पर "अग्नये समिध माहार्षम्" मन्त्र को पढ़ते हुए अग्नि में एक समित् काष्ठ डाले ॥ ४६ ॥

---

* पुरुष के निकट भिक्षा मांगने का कोई उल्लेख न होने से जान पड़ता है कि भिक्षा देना कार्य गृहिणी ही का है। साधारणतः भी भिक्षुक लोक 'गृहस्थ के घर पर "भिक्षा दो माई" बोल कर भिक्षा मांगा करते। काशी में ब्रह्मचारी गण भी गृहस्थ के द्वार पर उपस्थित होकर "भवति भिक्षां देहि" इस वाक्य द्वारा भिक्षा मांगते हैं, इस लिये पिता आदि के निकट भिक्षा प्रार्थना और ग्रहण व्यवहार, पिता आदि के भिक्षा दान वाञ्छा की सफलता मात्र के लिये है ॥

त्रिरात्रमक्षारलवणाशी भवति ॥४७॥ तस्यान्त सावित्रश्चरुः॥४८ यथार्थम् ॥ ४९ ॥ गौर्दक्षिणा ॥५० ॥ १० ॥

'त्रिरात्रं' तद्दिनप्रभृति दिनत्रयम् 'अक्षारलवणाशी' क्षारलवणभिन्नभोजी 'भवति' भवेत् ॥४७॥ 'तस्य' दिनत्रयस्यान्ते चतुर्थाहे 'सावित्रः' सवितृदेवताकः 'चरुः' पक्तव्यः होतव्यश्चेति सुतरामागतः ॥४८॥ अनन्तरं 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरणविश्रामादिकं कुर्यात् ॥ ४९॥ उपनयनसंस्कारस्यैतस्य 'दक्षिणा' 'गौः' एकैवेति समाप्तमुपनयनम् ॥ ५० ॥ १० ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेदशमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥२,१०

॥ समाप्तश्चायं द्वितीयः प्रपाठकः ॥ २ ॥

भा०:—उपनयन दिन से तीन दिन पर्यन्त क्षार लवण न खावे ॥ ४७ ॥ इन तीन दिन के पीछे चरु—पाक करके सविता देवता के उद्देश से आहुति प्रदान करे ॥ ४८ ॥ इस प्रकार उपनयन संस्कार शेष होने पर अन्य कार्य जो हो, अपनी इच्छानुसार करे ॥ ४९ ॥ इस उपनयन संस्कार की दक्षिणा एक गौ मात्र है ॥ ५० ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के दशमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ॥२.१०॥

और गोभिलगृह्यसूत्र का द्वितीय प्रपाठक भी समाप्त हुआ ॥ २ ॥

———:०:———

अथ तृतीयप्रपाठकः ।

अथातः षोडशे वर्षे गोदानम् ॥१॥ चूडाकरणेन केशान्तकरणं व्याख्यातम् ॥ २ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरद्योतनाय । 'अतः' उपनयनकालतः षोडशे वर्षे तथाच यस्य गर्भाष्टमेऽब्देभूतमुपनयनं तस्य गर्भचतुर्विंशाब्दे, एवं यस्य नवमादि षोडशाब्दान्ते एवोपनयनं तस्य पञ्चविंशादि द्वात्रिंशाब्दान्ते 'गोदानम्' नाम संस्कारविशेषं कार्य्यम् ॥१॥ अस्मिंश्च कर्मणि केशवपनं कर्त्तव्यम्, तच्च 'केशान्तकरणं' 'चूडाकरणेन' पूर्वोक्तेन 'व्याख्यातम्' कथितम् ; चूडाकरणवत् कर्त्तव्यमित्यर्थः॥२॥

भा०:—उपनयन काल से सोलहवें वर्ष में अर्थात् जिस का गर्भ काल से गिनती कर आठवें वर्ष में उपनयन हुआ है, उस के गर्भ से २४ वें वर्ष में, और जिस का नवम आदि १६ वर्ष की अवस्था में उपनयन हुआ हो उस का २५ वर्ष से ३२ वर्ष की उमर में गोदान संस्कार करे ॥ १ ॥ इस समावर्त्तन कार्य में जो केश कटाना पड़ता है वह पूर्वोक्त चूड़ाकरण के नियमानुसार होगा ॥२॥

ब्रह्मचारी केशान्तान्कारयतेसर्वाण्यङ्गलोमानिसंहारयते ३,४॥

'ब्रह्मचारी' ब्रह्मवेदः, तद्ग्रहणाचारविशिष्टः आद्याश्रमी, यदैव 'केशान्तान् कारयते' तदैव 'सर्वाणि अङ्गलोमानि संहारयते' कक्षवक्षोपस्थशिखाकेशानपि वापयेदित्यर्थः । ३, ४ ॥

भा०:-ब्रह्मचारी अर्थात् वेदाध्ययनाचार युक्त आद्याश्रमी जिस समय केश कटावे । उस समय कक्ष, (बगल) वक्ष, (छाती) उपस्थ, (लिङ्ग) और शिखा पर्य्यन्त के रोम कटावे ॥ ३, ४ ॥

गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्य अश्वमिथुनं क्षत्रियस्य अविमिथुनं वैश्यस्य गौर्वैव सर्वेषाम् ॥ ५-८ ॥

अस्य हि गोदानकर्मणः 'दक्षिणा' 'गोमिथुनं' गोद्वयम् आचार्याय देयम् 'ब्राह्मणस्य' कर्त्ता ब्राह्मणश्चेदित्यर्थः (५) । 'क्षत्रियस्य' अश्वमिथुनम्' अश्वद्वयं गोदानकर्मणः दक्षिणा (६) । 'वैश्यस्य' 'अविमिथुनं' मेषद्वयं दक्षिणा (७) । 'वा' अथवा 'गौः एव' 'सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां दक्षिणा (८) । तथाहि ब्राह्मणब्रह्मचारी, वैश्यब्रह्मचारी च स्वस्वाचार्याय गोद्वयमेव दक्षिणा वेदाध्यापनस्यदेयेति । ५-८ ॥

भा०:-इस गोदान संस्कार (समावर्त्तन) की दक्षिणा ब्राह्मण यदि ब्रह्मचारी हो, तो अपने आचार्य्य को दो गौ, ॥५॥ यदि क्षत्रिय हो, तो छः घोड़े देवे ॥ ६ ॥ और वैश्य होतो दो भेड़ा देवे ॥७॥ या ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही गौ ही दक्षिणा देवें ॥ ८ ॥

अजः केशप्रतिग्राहाय ॥ ९ ॥

'केशप्रतिग्राहाय' केशप्रतिग्रहकर्त्रे नापिताय 'अजः' पुमान् छागः एकएव दक्षिणा देया सवर्जातिब्रह्मचारिभिरिति ॥ ९ ॥

भा०:-केश लोम आदि कटवाने पर जो केशादि को फेकता है अर्थात् नापित उसे, उस के परिश्रमार्थ एक छाग देवे ॥ ९ ॥

द्वितीयाश्रमग्रहणस्य वर्षाधिककालाऽपक्षास्तीति चायेत एव चेत्, आचार्याय गोदक्षिणादानानन्तरमपि "अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमपि"-इति ब्रह्मचर्याश्रमएवावलम्बनीयइति पुनरपि आचार्यान्तिकमुपनीतोभवेत्, तस्यैवाचार्यस्यान्तिके स्थितो ब्रह्मापरपर्यायवेदालोचनयास्थोद्वाहकालं प्रतीक्षेतेति । तत्रोपनयनेतिकर्त्तव्यतामाह ;-

भा०:-[यदि ब्रह्मचारी को समावर्त्तन के अनन्तर गृहस्थाश्रम (विवाह) ग्रहण

करने में एक वर्ष से अधिक विलम्ब जान पड़े, तो आचार्य को दक्षिणा देने पर भी 'एक क्षण अनाश्रमी न रहे' के अनुसार उसी ब्रह्मचर्याश्रम का अवलम्ब लेना चाहिये, इस लिये पुनः आचार्य्य के समीप उपनीत हो। अर्थात् पूर्ववत् नियम से आचार्य्य के निकट रहकर ब्रह्म के अर्थात् वेद की आलोचना करते हुये अपने विवाह की प्रतीक्षा करे। यह दोवार उपनयन किस रीति से होगा सो अग्रिम सूत्र से कहते हैं]

उपनयनेनैवोपनयनं व्याख्यातं न त्विहाहतं वासो नियुक्तं नालङ्कारः।१०–१२। नाचरिष्यन्तꣳ सम्वत्सरमुपनयेत्।१३।

'उपनयनेन' पूर्वोक्तेनैव 'उपनयनम्' एतदपि 'व्याख्यातम्' कथितम् (१०)। विशेषस्तु 'इह' उपनयने 'अहतं वासः' न नियुक्तम्' (११)। किञ्चेह 'अलङ्कारः' अपि न नियुक्तः इत्येव (१२)। १०–१२ ॥ एतदुपनयननिषेधमाह;– एतदुपनयनतः 'संवत्सरम्' अपि 'अचरिष्यन्तं' ब्रह्मचर्यव्रतानुष्ठान मकरिष्यन्तं ब्रह्मचारिणं 'न उपनयेत्' पुनरुपनीतीभवनस्य प्रयोजनं नास्तीति भावः। समाप्तं गोदानम् ॥ १३ ॥ ब्रह्मचारिणां ब्रह्मचर्यावस्थायां यथा यथाचरणं कर्त्तव्यं, यद् यद्व्रतमनुष्ठेयम्, अतस्तद्वक्तुमारभते;–

भा०:–पूर्वोक्त उपनयन कथन द्वारा यह कहा गया है कि विशेष इस उपनयन में अखण्ड वस्त्र एवं अलङ्कार की आवश्यकता नहीं ॥ १०-१२॥ इस उपनयन के पीछे एक वर्ष काल भी जो ब्रह्मचर्य्य व्रत का अनुष्ठान न करना निश्चित हो, अर्थात् समावर्त्तन के पीछे एक वर्ष के मध्य ही में जिसके विवाह होने की सम्भावना हो, उस को इतने कम दिन के लिये पुनः उपनीत होने की आवश्यकता नहीं ॥ १३ ॥ अब ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य्यावस्था में क्या २ कर्त्तव्य हैं, सो कहते हैं:–

वार्क्षञ्चास्मै दण्डं प्रयच्छन्नादिशति ॥ १४ ॥ आचार्य्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ १५ ॥

उपनयनकाले यदा माणवकाय ' वार्क्षं दण्डं प्रयच्छन् ' तदैव ' आदिशति' अनुसूत्रवक्ष्यमाणाम् उपदेशानिति ॥१४॥ ते चोपदेशाश्चेमे;–(१) 'अधर्म्माचरणात् अन्यत्र ' अधर्माचरणमाचार्यस्य नानुकरणीयम् अधर्मोपदेशश्च न श्रवणीयः, ततोऽन्यत्र सदा सर्वथैव 'आचार्याधीनो भव' आचार्याज्ञाकारी आचार्याभिमतानुगामी च भव , इति प्रथमोपदेशः ॥ १५ ॥

भा०:–उपनयन काल में जब माणवक को दण्ड प्रदान करे उस समय

वक्ष्यमाण सूत्रों द्वारा कहे हुए उपदेशादि देवे ॥१४॥ आचार्य्य का यदि कोई अधर्म्माचरण देखो, तो उस का अनुकरण न करना, और आचार्य्य यदि अधर्म्म करने कहें तो, उसे भी न करना; अधर्म्माचरण को छोड़ कर सर्वथा आचार्य्य, जब जो करने कहें, उस समय वही करो, एवं सततकाल आचार्य्य के मतानुगामी रहने की चेष्टा करो ॥ १५ ॥

क्रोधानृते वर्जय ॥१६॥ मैथुनम् ॥१७॥ उपरि शय्याम् ॥१८॥ कौशीलवगन्धाञ्जनानि ॥ १९ ॥

(२.३) 'क्रोधानृते' क्रोधम्, अनृतम् मिथ्याव्यवहारञ्च 'वर्जय' सत्यपि क्रोधकारणे क्रोधकार्यं विवादादिकं मा कुरु, किञ्च मिथ्याभाषणादिकमपि न कार्यम् ॥ १६ ॥ (४) 'मैथुनं स्त्रीसङ्गं वर्जय इत्येव सर्वत्र ॥ १७ ॥ (५) 'उपरि शय्यां' गुरुशय्यातः उच्चैः शयनं वर्जय । इति पञ्चमोपदेशः ॥ १८ ॥ (६,७,८) कौशीलवं नृत्यगीतवादित्राद्यनुष्ठानम्, गन्धः घृष्टमलयजादिको माल्याद्युत्थश्च, अञ्जनं चक्षुषोः शोभासम्पादकम्; एतान्यपि त्रीणि वर्जय। अत्रापि यथा चाध्यायनस्य व्याघातकरो मनोजाविर्भावः स्यादेवं कौशीलवादिकं वर्जयेत्, न तु सामादिगीतवादित्रचर्चां, नापि गुरुप्रसादगन्धमाल्यादिं, न च रोगाद्युपशमनायाञ्जनव्यवहारंवर्जयेत्।अतएवमनुनाऽभ्यधायि"यःस्रग्व्यपिद्विजोऽधीते"इत्यादि १९

भा०:-क्रोध के कोई कारण होने पर भी क्रोध प्रकाश पूर्वक विवादादि न करना एवं झूठ बोलनादि कर्म भी न करना ॥१६॥ स्त्री प्रसङ्ग न करना ।१७। गुरु की शय्या की अपेक्षा अपनी शय्या ऊंची न करना ॥ १८ ॥ जिस्से मनोविकार उत्पन्न हो, ऐसा नृत्य, गीत, बाजा, आदि की चर्चा, चन्दन, और मालादिगन्ध का व्यवहार एवं आंखों में अञ्जन धारण आदि न करना ॥ १९ ॥

स्नानम् ।२०। अवलेखनदन्तप्रक्षालनपादप्रक्षालनानि ॥२१॥

(९) 'स्नानम्' जलक्रीडापूर्वकं, वर्जय ॥ २० ॥ (१०.११.१२) 'अवलेखनं' 'मुखशोभनालकातिलकादि' 'दन्तप्रक्षालनं' दन्तमलदूरीकरणायैव यावदावश्यकं तदतिरिक्तं दन्तशोभादिसम्पादनाय तुत्थरञ्जनादिनोपसेवनम्, 'पादप्रक्षालनं' आवश्यकातिरिक्तम्; इमानि च त्रीणि वर्जय ॥ २१ ॥

भा०:-जल क्रीड़ा पूर्वक स्नान न करना ॥२०॥ अलका तिलक द्वारा मुख को सुन्दर करना, तुत्थकादि द्वारा दांत रंगना एवं आवश्यकता के अतिरिक्त बहुत देर तक पैर न धोना ॥ २१ ॥

क्षुरकृत्यम् ॥ २२ ॥ मधुमांसे ॥ २३ ॥ गोयुक्तारोहणम् ॥ २४ ॥ अन्तर्ग्रामउपानहोर्धारणम् ॥ २५ ॥

(१३) 'क्षुरकृत्यम्' क्षुरेण केशलोमादिनां वापनं वर्जय। पूर्वं यदुक्तं ब्रह्मचारीत्यादि सूत्रद्वयं केशवपनव्यवस्थापकं तत् समावर्त्तनाङ्गभूतं बोध्यम्। ॥ २ ॥ (१४.१५) 'मधु' सारघम् वर्जय। २३। (१६) गोयुक्ते शकटादौ आरोहणं वर्जय ॥ २४ ॥ (१७) 'अन्तर्ग्रामे' ग्राममध्ये 'उपानहोः' चर्मपादुकयोः 'धारणं' वर्जय। २५।

भा०:- क्षुर (अस्तरा) के द्वारा केश, लोम, आदि का मुण्डन न करावे ॥२२॥ * मधु मक्खियों द्वारा एकत्र किया शहत एवं मांस भी न खावे ॥ २३ ॥ गौ द्वारा जो सवारी चलायी जावे, उस पर भी न चढ़े ॥ २४ ॥ ग्राम के मध्य हो कर जूता न पहने ॥ २५ ॥

स्वयमिन्द्रियमोचनमिति ॥ २६ ॥ मेखलाधारणभैक्षचर्यदण्डधारणसमिदाधानोदकोपस्पर्शनप्रातरभिवादा इत्येते नित्यधर्माः ॥ २७ ॥

(१८) 'स्वयमिन्द्रियमोचनम्' हस्तमैथुनञ्च वर्जयेत्येव। 'इति' इमेऽष्टादश वर्जनीया गताः। २६। कर्त्तव्यानुपदिशति:- (१-५) मेखलाया धारणम्, भिक्षाचारिणोभावावलम्बनम्, दण्डस्य धारणम्, समिधः आधानम्, उदकानामुपस्पर्शनपूर्वकमीश्वरोपासनम्, प्रातरुत्थायैव गुरुजनेभ्योऽभिवादनम्, 'इति एते' पञ्च व्यवहाराः नित्यधर्माः प्रतिदिनकर्त्तव्याः ।२७। ब्रह्मचारिणां चत्वारि वेदव्रतान्यनुष्ठेयानि गोतमेनोक्तानि चाचार्योऽप्ययमाह:-

भा०:-हस्त मैथुन ** न करना। ये, १८ उपदेश समाप्त हुए ॥२६॥ मेखला धारण, भीख मांग कर पेट भरना, दण्ड धारण, समिदाधान, जल से हाथ पैर धोकर ईश्वरोपासना, एवं प्रातः ही उठ कर गुरु जनों को अभिवादन, ये पांच कर्म प्रति दिन कर्त्तव्य हैं ॥ २६, २७ ॥ समावर्त्तन के पीछे ब्रह्मचारी को और ४ व्रत करना चाहिये सो कहते हैं।

गोदानिकव्रातिकादित्यव्रतौपनिषदज्यैष्ठसामिकाः संवत्सराः ॥ २८ ॥

---

* इस के पूर्व ३ य सूत्र में जो केश मुण्डन की व्यवस्था कही गयी है, वह समावर्त्तन संस्कार में कर्त्तव्य द्वितीय सूत्रोक्त ही का विशेष विधिमात्र है ॥ ** यह दुर्गुन आज कल—स्कूल एवं कालिज के लड़कों में अधिकांश पाया जाता है इस का कारण शिक्षा का अभाव है ॥

'संवत्सराः, पूर्वोक्ताः उपनयनतः षोडशसंख्याकाः, गोदानिकादिकाः भवेयुरित्यर्थः। तत्र षोडशाब्देषु, केचनाब्दाः 'गोदानिकाः' स्युः, अत्र वेदग्रन्थानां सर्वेषामेवाध्ययनं समाप्यम्। केचनाब्दाः 'व्रातिकाः' स्युः विशेषतोऽरण्यसंहितोक्तव्रतपर्वणामेवानुशीलनं कर्त्तव्यम्। केचनाब्दाः 'आदित्यव्रतौपनिषदाः स्युः, अत्र आदित्यव्रतसाम्नामुपनिषद्ब्राह्मणस्य चानुशीलनं प्रधानतः कर्त्तव्यम्। केचनाब्दाः 'ज्यैष्ठसामिकाः' स्युः अत्र तु ज्येष्ठसाम्नां त्रयाणामेवानुशीलनं प्रधानतः कार्यमिति। यद्यपीमे षोडशैवाब्दाः गोदानिकाः परन्तत्राप्युत्तराब्दानां व्रातिकादिविशेषपरिचयसत्त्वादाद्याब्दानां कतिपयानां तदभावात् केचनाब्दाः प्रथमादयः सामान्यतो गोदानिका इत्येवाख्यायन्ते, पराब्दाश्च विशेषतो व्रातिकेत्यादिभिः प्रसिद्धाः। यथा च सामवेदीय आर्च्चिकः सर्वएव छन्दोमय स्तथापि उत्तरदलस्य उत्तरार्च्चिकइति विशेषनामप्रसिद्धेः पूर्वस्य तु 'छन्दः' इत्येव। यथापि ज्योतिःशास्त्रे, ग्रहादीनां सर्वेषामेव दशाकालानां बहुत्वेऽपि निजभोग्या वर्षाः मासा वा तत्र स्वल्पाएव भवन्तीति ॥ २८ ॥

भा०:—उपनयन से १६ वर्ष ब्रह्मचर्य्य अवलम्बन कर ब्रह्मचारी कर्त्तव्य वेदाध्ययनादि सम्पूर्ण होने पर आचार्य्य को दक्षिणा स्वरूप दो गौ दान देकर अपने घर लौट जाता, इसी कारण २४ वर्ष के वयस में कर्त्तव्य उस संस्कार को 'गोदानिक' एवं 'समावर्त्तन' कहते हैं। इस १६ वर्ष के बीच, ४ व्रत करने पड़ते हैं और उस के अनुयायी ही यह षोडशाब्द चार नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। उन में से जो कई एक वर्षों में वेद ग्रन्थ समस्त का अध्ययन सामान्यतः समाप्त होगा उसे गोदानव्रत एवं उस कई एक वर्ष को उस का अनुयायी 'गोदानिक अब्द' कहते हैं। उस के पश्चात् जो कई एक वर्ष में पुनः "अरण्य संहिता" के व्रत पर्व का विशेष अनुशीलन करना होता, उस कई एक वर्ष को 'व्रातिकाब्द' कहते। अनन्तर जो कई एक वर्ष में "आदित्य व्रत" साम आदि और उस के साथ उपनिषद् ब्राह्मण का विशेष अनुशीलन करना पड़ता, उस कई एक वर्ष को "आदित्य व्रतौपनिषद् अब्द" कहते। इसी प्रकार शेष के जिस वर्ष में, या कई एक वर्ष में ज्येष्ठसाम आदि का विशेष अनुशीलन किया जाता, उस कई एक वर्ष को "ज्येष्ठसामिक अब्द" कहते। यद्यपि वस्तुतः ये षोडशाब्द ही " गोदानिक " है, किन्तु जिस प्रकार सामवेदीय आर्च्चिक ग्रन्थ का आद्यन्त सब ही छन्दोमय होने पर भी उत्तर दल का 'उत्तरा' यह विशेष नाम रहने से पूर्व दल मात्र को ही ' छन्दः ' कहते; उसीप्रकार इस स्थान में भी उत्तराब्द आदि का व्रतादि विशेष नाम रहने से प्रथमादि कई

एक वर्ष मात्र को 'गोदानिक अब्द कहते। ज्योतिष शास्त्र में भी ग्रहों की दशा समधिक काल होने पर भी प्रथम कई एक वर्ष, या कई एक मास मात्र उस ग्रह की 'अपनीदशा' कह कर परिचित होती ॥ २८ ॥

तेषु सायं प्रातरुदकोपस्पर्शनम्। ॥ २९ ॥ आदित्यव्रतन्तु न चरन्त्येके ॥ ३० ॥

'तेषु' गोदानिकादिषु चतुर्ष्वेव व्रतेषु 'सायंप्रातः' 'उदकोपस्पर्शनम्, आचमनादिपूर्वकमीश्वरोपासनं कार्यम् ॥ २९ ॥ 'एके' 'आदित्यव्रतन्तु' न 'चरन्ति' उपनिषद्व्रतमेव केवलमाचरन्ति न पुनरादित्यव्रतयुक्तं तदिति भावः ॥३०॥

भा०:—इन्हीं गोदानिक आदि चार व्रतों में सायङ्काल एवं प्रातःकालमें आचमन आदि करके यथोक्त रीति से ईश्वरोपासना करे ॥२८॥ अनेक लोग "उपनिषद्" व्रत के साथ "आदित्यव्रत" का अनुशीलन नहीं करते ॥ ३० ॥

ये चरन्त्येकवाससो भवन्त्यादित्यञ्च नान्तर्दधतेऽन्यत्र वृक्षशरणाभ्यांनापोऽभ्यवयन्त्यूर्द्ध्वं जानुभ्यामगुरुप्रयुक्ताः ।३१-३३-१

'ये' तु 'चरन्ति' चरेयुः, ते 'एकवाससः' उत्तरीयहीनाः 'भवन्ति' भवेयुः तावत्कालमिति तेषां प्रति प्रथमोपदेशः । 'च' पुनः 'वृक्षशरणाभ्याम् अन्यत्र' 'आदित्यं न अन्तर्दधे' वृक्षच्छायां गृहे च भवत्येवादित्यान्तर्धानम् ततोऽन्यत्र आदित्यान्तर्धानाय छत्रादिकं न व्यवहरेयुरिति द्वितीयः। 'अगुरुप्रयुक्ताः' गुरुभिः विशेषकाकार्यार्थमननुज्ञाताः 'जानुभ्यामूर्द्ध्वम् अपः' जानुदघ्नाधिकान्युदकानि 'न अभ्यवयन्ति' नावतरन्ति गंभीरनदीपारं न गच्छेयुरिति तृतीयोपदेशः । ३१—३३ । १

इति सामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥३.१

भा०:—जो लोग 'आदित्यव्रत' के साथ 'उपनिषद्व्रत' अवलम्ब करते हैं, उन को निम्न लिखित तीन व्रत अवलम्बन करना चाहिये। प्रथम—जब तक इस व्रत का अनुष्ठान करे, उत्तरीय वस्त्र का व्यवहार न करे, एक ही वस्त्र से निर्वाह करे। द्वितीय, तब तक, घर एवं वृक्ष के अतिरिक्त सूर्य को तिरोहित (छिपावे)न करे अर्थात् छाते आदि का व्यवहार न करे। तृतीय, तब तक, गुरु की विशेष आज्ञा विना, जानु परिमाण जल से समधिक जल में न जावे ॥३१—३३॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीयअध्यायकेप्रथमखण्डकाभाषानुवादसमाप्तहुआ ॥ ३ । १ ॥



द्वादशमहानाम्निकाःसंवत्सरा नवषट् त्रय इति विकल्पः। १-३

'महानाम्निकाः' महानाम्निसामानुशीलनसाध्याः 'संवत्सराः' द्वादश, नव, षट्, त्रयः'–'इति विकल्पः' अस्ति। इमे च काम्यव्रतसाधना द्वादशादिका अब्दाः गोदानिकषोडशाब्दतोऽतिरिक्ता ज्ञेयाः । १–३ ॥

भा०:–"महानाम्नी" नाम से प्रसिद्ध सामानुशीलन–साध्य व्रत करे, वह १२, ९, ६, या ३ वर्षों में पूरा होगा । ये द्वादश आदि वर्ष, पूर्वोक्त १६ वर्ष से अतिरिक्त है । जो लोग इस काम्यव्रत के अनुष्ठान करने की इच्छा करें, वे, षोडशाब्द में गोदानादि चारो व्रत अनुष्ठान करके अवश्य कर्त्तव्य ब्रह्मचर्य्य समाप्त कर और यथा सामर्थ्य १२, ९, ६ वा ३ वर्ष और भी ब्रह्मचर्य्य करें । इस व्रत का फल आगे कहा जावेगा ॥ १–३ ॥

संवत्सरमप्येके । ४ ।व्रतन्तु भूयः पूर्वैश्चेच्छ्रुतामहानाम्न्यः।५,६

'संवत्सरम्' 'अपि' तस्य साम्नोऽनुशीलनम् 'इति' 'एके' आचार्या वदन्ति ।४

'तु' अपि 'व्रतम्' एकवार्षिकमेवेदम् 'भूयः' बहु मन्येत, यदि 'चेत्' 'पूर्वैः' व्रतप्राक्कालैः 'महानाम्न्यः' 'श्रुताः' अनुशीलिताः स्युः । ५, ६ ॥ एतत्काम्यकर्म णोबह्वादरताबोधनाय वेदश्रुतं लौकिकप्रवादं दर्शयति ;–

भा०:–कोई २ आचार्य्य कहते हैं कि एक ही वर्ष इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४ ॥ यदि इस व्रत के अनुष्ठान के पूर्व "महानाम्नीसाम" की रीत्यनुसार शिक्षा हो जावे, तो यही एक वर्ष व्रत यथेष्ठ है ॥ ५, ६ ॥

अथापि रौरुकि ब्राह्मणं भवति कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः शक्वरीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति ॥ ७-९ ॥

'अथापि' 'रौरुकि ब्राह्मणं' रौरुकिनामब्राह्मणोक्तं लौकिकप्रवादवचनं 'भवति' अस्ति । किन्तत् ? इत्युच्यते–'ह' निश्चयं पुरा 'मातरः' 'कुमारान्' स्वपुत्रान् 'पाययमानाः' स्तन्यमिति यावत् आहुः स्म' उक्तवत्यः । किमुक्तवत्यः तदाह :'हे 'पुत्रकाः !' यूयं 'शक्वरीच्छन्दोमूलकमहानाम्नीनां 'व्रतम्' अनुशीलननियमं 'पारयिष्णवः' 'भवत'–'इति' ।७–९॥इदानीं तद्व्रतकालेष्वनुष्ठेयानाह–

भा०:–"रौरुकिब्राह्मण" (ग्रन्थ) में एक लौकिक प्रवाद है कि मातृगण अपने पुत्रादिक को स्तन्य पान कराते २ कहती हैं कि "हे वत्स ! शक्वरी व्रतानुष्ठान के नियम को पार करने में समर्थ होओ" । महानाम्नी साम की अस्थि स्वरूप पद्य मन्त्र आदि शक्वरी छन्द है ।॥ ७, ८, ९ ॥

तास्वनुसवनमुदकोपस्पर्शनम् । १० नानुपस्पृश्य भोजनं

प्रातः । ११ सायमुपस्पृश्याभोजनमासमिदाधानात् ॥१२॥

(१) 'तासु' शक्करीषु शक्करीसाधनायेति यावत् । 'अनुसवनम्' प्रतिसन्ध्यम् 'उदकोपस्पर्शनम्' जलैर्हस्तपादादिकं विधूयेश्वरोपासनं कर्त्तव्यमिति प्रथमनियमः ॥१०॥ (२) प्रतिसन्ध्यम् 'अनुपस्पृश्य' ईश्वरोपासनायोदकस्पर्शनमकृत्वा 'प्रातर्भोजनम्' अपि न कर्त्तव्यम् ॥ ११ ॥ (३) 'सायम्, 'उपस्पृश्य' अपि 'आसमिदाधानात्' समिदाधानात् प्राक् 'अभोजनं' भोजनं न कर्त्तव्यम् ॥१२॥

भा०:—उस महानाम्नी व्रत में प्रत्येक सन्धिकाल में जल से हाथ पैर आदि धोकर ईश्वरोपासना करे ॥ १० ॥ प्रति सन्ध्याकाल में ईश्वरोपासना के लिये जल स्पर्श आदि किये विना "प्रातराश" (प्रातःकालीन भोजन) भी न करे ॥ ११ ॥ सायंकाल में ईश्वरोपासना के लिये जल न ग्रहण करके भी समिदाधान के पहिले भोजन न करना अर्थात् सन्ध्योपासन और समिदाधान समाप्त करके 'सायमाश' (सन्ध्या का भोजन) भोजन करे ॥ १२ ॥

कृष्णवस्त्रः ।१३। कृष्णभक्षः । १४ । आचार्याधीनः । १५ । अपन्थदायी । १६ । तपस्वी । १७ । तिष्ठेद्दिवा । १८ । आसीत नक्तम् । १९ । वर्षति च नोपसर्पेच्छन्नम् ॥ २० ॥

(४) कृष्णवर्णं रञ्जितमपि वा मलदूषितमेव वस्त्रं व्यवहरेत् । १३ । (५) कदर्याकदर्याविचारेणैवान्नादिकं भक्षणीयम् । १४ (६) आचार्यस्य अधीनः सर्वत-आज्ञाकारी भवेदिति शेषः । १५ (७) पथिकेभ्यः पन्थादानशीलो न भवेत् तथाच स्नातकव्रतमाचरेदिति भावः । १६ (८) भवेदित्येव । तपस्वित्वञ्चाग्रिमसूत्रत्रिकेण स्फुटीभविष्यति । १७ (क) 'दिवा' अहनि 'तिष्ठेत्' इत्येव ; नोपाविशेत् शयनकथा तु दूरपराहता । १८ (ख) 'नक्तम्' रात्रौ 'आसीत' शयनोपवेशने कुर्वीत, न च तिष्ठेदिति नियमः । १९ (ग) 'वर्षति च' पर्जन्ये छन्नं' मनुष्यादिभिर्निर्मितं गृहादिकं 'न उपसर्पेत्' नाश्रयेत, वृष्टिषिक्तएव भवेदित्याशयाऽथवा वृक्षादिच्छायावलम्बनेऽपि न दोषः । २० ॥

भा०:—काला, रंगा हुआ (किसी रंग में) या मलिन वस्त्र व्यवहार करे॥१३॥ भला, बुरा, विचार न करके जिस समय जो भोजन मिले, उसी को खावे ॥१४॥ सर्वथा आचार्य्य का आज्ञाकारी हो ॥ १५ ॥ अपरापर पथिक गण को रास्ता देने में बाध्य (मजबूर) न हो अर्थात स्नातक व्रतानुष्ठान कारी होवे ॥१६॥ तपस्वी होवे । " तपस्वी " का लक्षण ३ सूत्रों में आगे कहेंगे ॥ १७ ॥ दिन में खड़ा रह कर काल काटे, सोने की बात तो दूर रहे, बैठे भी नहीं ॥ १८ ॥

रात्रि काल में बैठे या सोवे, परन्तु खड़ा न हो ॥१९॥ मेह वर्षने पर पानी से भींगने के भय से मनुष्यादि निर्मित गृहादि का आश्रय न करे; प्रत्युत दिन में खड़ा होकर, एवं रात्रि में बैठ, या सोकर, पानी वर्षते में भींगते, अथवा विशेष क्लेश बोध होने पर, वृक्ष आदि नैसर्गिक छाया भी अवलम्बन करे, तो हानि नहीं २०

वर्षन्तं ब्रूयादापः शक्वर्य इति । २१ । विद्योतमानं ब्रूयादेवᳫंरूपाः खलु शक्वर्य्यो भवन्तीति । २२ । स्तनयन्तं ब्रूयान्महृया महान् घोष इति ॥ २३ ॥

(९) 'वर्षन्त' पर्जन्य मभिलक्ष्य 'आपः' इमाः अपि 'शक्वर्यः' शक्वरिछन्दोरूपाएव 'इति' एवं 'ब्रूयात्' । २१ (१०) 'विद्योतमानं' वलाहकमभिलक्ष्य 'एवंरूपाः खलु शक्वर्यः भवन्ति'-'इति' एवं 'ब्रूयात्' ।२२। (११) 'स्तनयन्तं' गर्जन्तं घनघटामण्डल मभिलक्ष्य 'मह्याः' महत्याः शक्वर्याएव 'महान् घोषः 'इति' एवं 'ब्रूयात्' ॥ २३ ॥

भा०:-पानी वर्षते देख कर बोले कि "ये जल धारा समस्त शक्वरी छन्दोमय मन्त्र हैं", बिजुली देख कर-"शक्वरी छन्द सब भी निश्चय इसी प्रकार हैं"। मेघ गर्जन सुनकर बोले कि 'ये बड़े २ शब्द अवश्यही महती शक्वरीछन्द केहैं'। २१-२३।

न स्रवन्तीमतिक्रामेदनुपस्पृशन् ।२४। न नावमारोहेत् ।२५। प्राणसᳫंशये तूपस्पृश्यारोहेत् ॥ २६ ॥

(१२) 'स्रवन्तीं' नदीम् 'अनुपस्पृश्य' उपस्पर्शन मकृत्वैव 'न अतिक्रामेत् पन्थानमिति । २४ (१३) 'नावं न आरोहेत्, सन्तरणेनैव नदीपारादिकं गच्छेदिति भावः । २५ (१४) 'प्राणसंशये' यत्र सन्तरणेन पारादिगमने प्राणसंशयः स्यात्, तत्र ' तु' 'उपस्पृश्य' जलम् 'आरोहेत्' नावमिति ॥ २६ ॥

भा०:-रास्ते-में यदि स्रोतस्वती नदी अनति दूरपर बांये, या दहिने मिले, उस को विना स्पर्श किये न जावे । नौका पर सवार न हो, तैर कर ही नदी पार आदि गमन करे । जिस स्थान में तैर कर पार आदि जाने से प्राण का भय हो, तो वहां जल स्पर्श करके नौका में बैठ कर पार जावे ॥ २४-२६ ॥

तथा प्रत्यवरुह्य । २७ । उदकसाधवो हि महानाम्न्य इति ।२८। एवं खलु चरतः कामवर्षी पर्जन्यो भवति ॥ २९ ॥

'प्रत्यवरुह्य' नौतश्च्युति यावत् 'तथा' एव उपस्पर्शनं कर्त्तव्यम् । २७ । महानाम्नीव्रते कथमेवं कर्त्तव्यमित्याह-'हि' यतः 'महानाम्न्यः' ऋचः 'उदकसाधकाः'

उदकव्यवहारेणैव साधनीया भवन्ति अतः एतद्व्रतसाधनाय सर्वथैवोदकव्यवहारो विधेय इति भावः ।। २८ ।। तेन किम्फलमित्याह;—'एवम्, उक्तप्रकारेण 'चरतः' जनस्य 'खलु' निश्चयमेव 'पर्जन्यः' कामवर्षी भवति' । एवञ्च व्रतमिदं काम्यमिति फलितम् ॥ २९ ॥

भा०:—नौका से उतरते समय भी उसी प्रकार जल स्पर्श करे। महानाम्नी ऋग् आदि जिस कारण जल व्यवहार द्वारा ही साधनीय है, इस लिये इस व्रत में सब प्रकार से जल का व्यवहार कर्त्तव्य कहा गया है, इस प्रकार आचरण करने वाले के पक्ष में पर्जन्य (मेघ) निश्चय ही कामवर्षी होते। अर्थात् इस प्रकार व्रतानुष्ठान सिद्ध—व्यक्ति के वृष्टि की इच्छा करने पर वृष्टि हो ही गी। इस लिये इस को "काम्य-कर्म" कहते हैं ॥२७–२९ ॥

अनियमो वा कृष्णस्थानासनपन्थभक्ष्येषु ॥ ३० ॥

'वा' अथवा 'कृष्णस्थानासनपन्थभक्ष्येषु' पूर्वोक्तेषु 'अनियमः' कर्त्तव्यतया नियमो न स्वीकर्त्तव्यः, असमर्थश्चेदकृतेऽपि कस्मिंश्चिन्नियमे न क्षतिरित्यर्थः ॥३०॥

भा०:—या, असमर्थ होने के कारण पूर्वोपदिष्ट कृष्ण वस्त्र धारण आदि नियम प्रतिपालन न करने में दोष नहीं ॥ ३० ॥

तृतीये चरिते स्तोत्रीयामनुगापयेदेवमितरे स्तोत्रीये सर्वा वाऽन्ते सर्वस्य ॥ ३१–३३ ॥

यावत्कालमेतद्व्रतमाचरितव्यम्भवेत्, तस्य 'तृतीये' अंशे 'चरिते' 'स्तोत्रीयां' प्रथमामृचम् 'अनुगापयेत्' आचार्यः । व्रतानुष्ठेयकाल-तृतीय-भाग-गते आचार्यस्तं व्रतिनमाद्यर्ङ्मूलकं सामाध्यापयेदित्यर्थः (३१) 'इतरे' द्वितीय-तृतीये अपि 'स्तोत्रीये' ऋचौ 'एवम्' तृतीयांशानुसारत एवानुगापयेत्। एवं हि व्रतकालस्य मध्यम तृतीयेंऽशेऽतीते मध्यमर्ङ्मूलकं सामाध्यापयेत् किञ्चान्तिमतृतीयेंऽशेऽन्तिमर्ङ्मूलकं साम चाध्यापयेदिति पर्यवसितार्थः (३२) 'वा' अथवा 'सर्वस्य' व्रतकालस्य 'अन्ते' एकदेव 'सर्वाः' स्तोत्रीयाः अनुगापयेत्, महानाम्नीसाम पूर्णमेवाध्यापयेदिति यावत् (३३) ॥३१–३३॥ यद्विहितं महानाम्नीसामानुगापनं तत्रेति कर्त्तव्यतामाह:—

भा०:—यह महानाम्नी व्रत जब तक अनुष्ठेय हो, उसके एक तृतीयांश समय बीतने पर, आचार्य इस व्रती को प्रथम ऋग् गान का अभ्यास करावे, पीछे और एक तृतीयांश समय बीतने पर मध्यम ऋग् का गान उपदेश करे, अनन्तर शेष तृतीयांश बीतने पर शेष ऋग् का भी गान करावे, या समस्त

व्रतकाल शेष होने पर एक ही वार में तीनों ऋचाओं का गान करावे, अर्थात् समस्त महानाम्नी साम का उपदेश अन्त में एक ही समय प्रदान करे॥३१-३३॥

उपोषिताय सम्मीलितायानुगापयेत् ॥ ३४ ॥

'उपोषिताय' वक्ष्यमाण (३७) विध्यनुगतभोजनशून्याय किञ्च 'सम्मीलिताय' वक्ष्यमाण (३५) विध्यनुगतवसनबद्धनेत्राय एव ब्रह्मचारिणे 'अनुगापयेत्' शक्करी स्तोत्रीयास्तिस्रः, आचार्यः ॥ ३४ ॥ सम्मीलनप्रकार माहः—

भा०:-३७ वें सूत्र में कहे अनुसार अभोजन और ३५ वें सूत्र में कहे अनुसार आंख बन्द करना; ब्रह्मचारी को आचार्य्य शक्करी छन्द के तीन स्तोत्रीय गान करावे, इसी गान को महानाम्नी-साम कहते हैं ॥ ३४ ॥

कंसमपां पूरयित्वा सर्व्वौषधीः कृत्वा हस्तावबधाय प्रदक्षिणमाचार्य्योऽहतेन वसनेन परिणह्येत् ॥ ३५ ॥

'कंसं' पात्रमेकम् 'अपां' प्रदानेन 'पूरयित्वा' तत्रोदकपूर्णकांस्यपात्रे 'सर्वौषधीः, व्रीह्यादीः सप्त 'कृत्वा' क्षिप्त्वा, तत्रैव 'हस्तौ' ब्रह्मचारिणः 'अवधाय' निमग्नौ कारयित्वा 'आचार्यः' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'अहतेन वसनेन' तस्यैव अक्षिणी 'परिणह्येत्' बद्धे कुर्यात् । इत्थमेव सम्पाद्यं तस्य सम्मीलनम् ॥३५॥

भा०:—आचार्य्य, एक कांसे का पात्र जल पूर्णकर उस में धान्य आदि सात प्रकार की औषधि डालकर उस में ब्रह्मचारी के दोनों हाथ को डुबाकर रक्खे और इसी अवस्था में उस की दोनों आंखों को अखण्ड वस्त्र से बान्ध देवे। इस प्रकार मुद्रित नेत्र होगा। एवं इसी क्रिया का नाम 'परिणहन' है ॥३५॥

परिणहनान्ते वाऽनुगापयेत् । ३६ । परिणद्धो वाग्यतो न भुञ्जीत त्रिरात्रमहोरात्रौ वा ॥ ३७ ॥

'परिणहनान्ते' 'वा' च 'अनुगापयेत्' ब्रह्मचारिणं महानाम्नीसाम आचार्यः । ३६ । 'परिणद्धः' सः 'वाग्यतः' भवेत् किञ्च 'त्रिरात्रम् अहोरात्रौ वा, यथासामर्थ्यं 'न भुञ्जीत' भोजनं न कुर्वीत ॥ ३७ ॥ परिणहनोपवासवैकल्पमाहः—

भा०:—इस प्रकार 'परिणहन' अर्थात् आंख बान्धने पर आचार्य्य ब्रह्मचारी को महानाम्नी साम का अध्ययन करावे ॥ ३६ ॥ पूर्वोक्त प्रकार से परिणद्ध ब्रह्मचारी संयतवाक् हो अपनी शक्ति अनुसार तीन रात, या एक दिन रात भोजन न करे ॥ ३७ ॥ अब परिणहन पूर्वक उपवास का अनुकल्प कहते हैं ।

अपिवाऽरण्ये तिष्ठेदाऽस्तमयाच्छ्वोभूतेऽरण्येऽग्निमुपस-

माधाय व्याहृतिभिर्हुत्वाऽथैनमवेक्षयेदग्निमाज्यमादित्यं ब्राह्मणमनड्वाहमन्नमपोदधीति स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभिव्यख्यमिति एवं त्रिः सर्व्वाणि ॥ ३८–४२ ॥

'अपि वा' अथवा 'आ अस्तमयात्' सूर्यास्तकालादारभ्य 'अरण्ये तिष्ठेत्' अरण्यस्थितिं कुर्वीत (३८)। ततः 'श्वोभूते' प्रभातायां रजन्यां 'अरण्ये, एव तत्र 'अग्निम्' 'उप समाधाय' यथाविधि प्रज्वाल्य तत्र प्रज्वलितेऽग्नौ ब्रह्मचारी 'व्याहृतिभिः, भूर्भुवःस्वरिति 'हुत्वा' (३९) 'अथ' अनन्तरम्, आचार्यः 'एनम्' ब्रह्मचारिणं 'अग्निम्' आज्यम्, आदित्यं, ब्राह्मणम्, अनड्वाहम्, अन्नम्, अपः, दधि'–इति' अष्टौ 'अवेक्षयेत्' दर्शयेत् (४०)। तत्र च 'स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभिव्यख्यम्'–'इति' इमं मन्त्रं पाठयेत (१४)। 'एवं' उक्तलक्षणं मन्त्रं 'त्रिः' त्रिवारं 'सर्वाणि' वस्तूनि प्रति पाठयेदित्येव। तथाच एतन्मन्त्रस्य त्रिभिः पाठेनैव अग्न्यादीनामवेक्षणमिति निष्पन्नम् (४२)। ३९–४२॥

भा०:—अथवा सूर्य्यास्त समय से वन में रहे। अनन्तर निशा-प्रभात समय उसी वन में यथाविधि अग्नि जलाकर, उसी जलती आग में व्याहृति मन्त्र से हवन प्रदान करे। फिर आचार्य्य उसे अग्नि, आज्य, आदित्य, ब्राह्मण, वृषभ, अन्न, जल, और दधि—ये आठ माङ्गलिक वस्तु क्रमशः दिखलावे एवं प्रत्येक वस्तु के देखते समय तीन २ बार स्वः देखा—ज्योतिः देखा कहवावे॥३८-४२॥

शान्तिं कृत्वा गुरुमभिवादयते।४३। सोऽस्य वाग्विसर्गः॥४४॥

सर्वकर्मशेषे 'शान्तिं कृत्वा' शान्तिपाठं पठित्वेति यावत् 'गुरुम्' आचार्यम् 'अभिवादयते'। ४३ 'सः' अभिवादनकालएव 'अस्य' व्रतिनः 'वाग्विसर्गः' वाचां विसर्गो यत्र तादृशः ॥ ४४ ॥

भा०:—समस्त कर्म की समाप्ति में शान्ति पाठ कर आचार्य्य को अभिवादन करे॥ ४३ ॥ गुरु को अभिवादन करने पर्य्यन्त ब्रह्मचारी संयतवाक् रहे एवं अभिवादन के पश्चात् 'संयतवाक्' का नियम छोड़ देवे॥ ४४ ॥

अनड्वान् कंसो वासो वर इति दक्षिणाः प्रथमे विकल्प आच्छादयेद्गुरुमित्येके। ४५, ४७ ॥

'अनड्वान्' वृषभः, 'कंसः' कांस्यपात्रम्, 'वासः' वसनम्, 'वरः' गौः 'इति' चतस्रः 'दक्षिणाः' महानाम्निव्रतस्येति शेषः (४५)। तत्र च 'प्रथमे' अनडुद्द्रव्ये एव'विकल्पः'विकल्पतः कंसादीनामन्यतमोऽव्यवस्थेयः (४६) ।'एके'आचार्याः 'तु'गुरुम् आच्छादयेत्'–वासोभिरिति शेषः–इत्येव विदधतीति (४७) । ४५-४७

भा०:–इस महानाम्नी व्रत के साथ वृषभ, कांस्यपात्र, वसन, और गौ दक्षिणा देवे। इन में से कांस्यपात्र आदि तीन वस्तु गौ का ही विकल्प है। इस से वृषभ ही प्रकृत दक्षिणा है। कांस्य प्रभृति तीनों वस्तु साध्यानुसार व्यवस्था कियी है। अर्थात् जिस को गौ न हो, वह कांस्यपात्र, इस के अभाव में वसन, इस के अभाव में गौ। कोई २ आचार्य्य कहते हैं कि गुरु को सर्व्वाङ्ग वस्त्र द्वारा आवृत्त करे ॥ ४५–४७ ॥

ऐन्द्रः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादृचंसाम यजामह इत्येतयर्च्चा सदसस्पतिमद्भुतमिति चोभाभ्यां वा अनुप्रवचनीयेष्वेवम्॥४८,४९

महानाम्निकव्रतकृत्यमुक्त्वेदानीं सर्वव्रतसाधारणशेषकर्त्तव्याणि क्रमाद् विधत्ते;

'ऐन्द्रः' इन्द्रदेवताकः 'स्थालीपाकः' पक्तव्यइति यावत्। 'तस्य' स्थालीपाकान्नस्य भागैकम् 'ऋचं साम यजामहे (४. २. ३. १०)'–'इति' एतया ऋचा, 'वा' अथवा 'सदसस्पतिमद्भुतम् (२,२,३.४.)'–'इति' एतया ऋचा, 'वा' अथवा 'उभाभ्याम्' एव ऋग्भ्याम् 'जुहुयात्' (४८)। 'एवम्' उक्तप्रकारो विधिः 'अनुप्रवचनीयेषु' सर्वसामाध्ययनेष्वेव बोध्यः, न तु महानाम्निसामाध्ययनार्थएवेति।४८,४९

पूर्वत्र (२प्र० १०ख० १६सू०) व्रतग्रहणकाले ये मन्त्रा विहिताः, व्रतसमाप्तिकाले तेषामेव पाठपरिवर्त्तनेन व्यवहारो विधीयते:–

भा०:–इन्द्र देवताक स्थाली पाक चरु प्रस्तुत करे। एवं इस चरु को यथाभाग ग्रहण कर "ऋचं साम यजामहे" (४,२,३,१०) मन्त्र पाठ करते हुए अथवा "सद सस्पतिमद्भुतम्" (२.२.३.१) मन्त्र पाठ करते हुए किंवा दोनों मन्त्र का पाठ कर होम करके ॥४८॥ जो कोई साम ग्रन्थ अध्ययनकरे उन सबही ग्रन्थ की समाप्ति में यह होम करे, केवल महानाम्नी साम ही के लिये नहीं।४८.४९

महानाम्नी व्रत में जो २ कर्त्तव्य है सो २ कहकर अब साधारण व्रतों के अन्त में जो विशेष कर्त्तव्य है उसे कहते हैं:–

[पूर्व (प्र० २ खं० १० सू० १६) व्रत ग्रहण काल में जो मन्त्र आदि कहे गये हैं, कुछ पाठ बदल कर वे ही सब व्रत समाप्ति काल में भी विहित हैं।]

सर्वत्राचार्षं तदशकं तेनारात्समुपगामिति मन्त्रविशेषः ।५०।

'सर्वत्र' व्रतान्तेषु 'मन्त्रविशेष.' पाठपरिवर्त्तनकृतः कर्त्तव्य इति कानि च तानि पाठपरिवर्त्तनानि? इत्याह–'अचार्षम्', 'तदशकम्' 'तेनारात्सम्' 'उपागाम्' 'इति' इमानि। तानि च मन्त्रब्राह्मणोक्तेषु 'अग्ने व्रतपते (१,६,९-१३)' इत्येवमादिषु पञ्चसु बोध्यानि ॥ ५० ॥

भा०:—व्रत समाप्त होने पर पूर्वोक्त मन्त्र (म० ब्रा० १,६,९–१३) क्रिया आदि भूतकाल के रूप में व्यवहृत करे ॥ ५० ॥

आग्नेयेऽज ऐन्द्रे मेषो गौः पावमाने पर्वदक्षिणाः ॥५१॥

'आग्नेये' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'अजः' एकः आचार्याय देयः। 'ऐन्द्रे' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'मेषः' एकः आचार्याय देयः। 'पावमाने' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'गौः' एका आचार्याय देया। इति 'पर्वदक्षिणाः' गेयगाननाम-गानग्रन्थीय-पर्वनाम-परिच्छेदानामध्ययन-निमित्ता दक्षिणाः आचार्यलभ्याः, ताश्च ब्रह्मचर्यावस्थायां दातुमसमर्थश्चेत् गृहस्थाश्रमप्रवेशकाले एव दातव्याः तत्र च न दोषश्रुतिः । ५१। गुरुकुलात् पितृगृहे प्रत्यागतस्य गुर्वादिभोजनं विधत्ते ;—

भा०:—आग्नेय पर्व अधीत होने पर, आचार्य को एक छाग दक्षिणा देवे, ऐन्द्र पर्व पढ़ चुकने पर, एक भेड़ा एवं पावमान पर्व पढ़ लेने पर एक गौ दक्षिणा देवे। इस को पर्वदक्षिणा कहते। अर्थात् गेयगान नामक सामवेदीय गान ग्रन्थ का पर्व नाम से प्रधान परिच्छेदत्रय के पढ़ाने की दक्षिणायें हैं, यदि इसे ब्रह्मचर्यावस्था में प्रदान न कर सके तो गृहस्थाश्रम के प्रवेश काल में भी इस ऋण को चुका देवे तो हानि नहीं ॥ ५१ ॥

प्रत्येत्याचार्यं सपर्षत्कं भोजयेत्सब्रह्मचारिणश्चोपसमेतान् ५२,५३

'प्रत्येति' गुरुकुलात् स्वगृहे प्रत्यागतः 'सपर्षत्कं' पुत्रादिपरिजनसहितम् 'आचार्यं' 'भोजयेत्' । तदिदं भोजनं स्वगृहे आचार्यादिकामानीय आचार्यगृहे गत्वा वेति न नियमः (५२) । किञ्च 'सब्रह्मचारिणः' सतीर्थाः समानकालव्रतचारिणश्च 'उप' समीपे स्वगृहे 'समेतान्' निमन्त्रणाहूतान् 'च' अपि भोजयेदित्येव (५३) ॥ ५२, ५३ ॥

भा०—गुरुकुल से अपने घर वापिस होने पर गुरु पुत्रादि गुरु परिजन के साथ गुरुको भोजन करावे। (यह भोजन, चाहे अपने घर हो, या गुरु के ही घर पर हो) परन्तु निज सहपाठी आदिक को और समकाल ब्रह्मचर्य समाप्तकारी गण को भी उसी समय अपने घर पर निमन्त्रण कर भोजन करावे ॥ ५२, ५३ ॥

ज्येष्ठसाम्नो महानाम्निकेनैवानुगापनकल्पो व्याख्यातः॥५४॥

'ज्येष्ठसाम्नः' 'अनुगापनकल्प' अध्यापनप्रकारः 'महानाम्निकेन एव' कथितः । ज्येष्ठसाम च महानाम्निकमिव उपोषितमुपनद्धाक्षमरण्यगं वाध्यापयेदित्यर्थः । ५४ अथेदानीं कौथुमानां चिरप्रतिपाल्यनियमानाह;—

भा०—ज्येष्ठसाम के पढ़ाने की प्रणाली महानाम्निकसाम की नाईं है। अर्थात् ज्येष्ठसाम के अध्ययन में भी विद्यार्थी को उपवास रहकर, आंख बांध कर, या वन जाना पड़ता है ॥ ५४ ॥ कौथुम शाखाध्यायियों के प्रतिपाल्य नियम कहते हैं।

तत्रैतानि नित्यव्रतानि भवन्ति । ५५ न शूद्रामुपेयात् ।५६ न पक्षिमांसं भुञ्जीत। ५७ एकधान्यमेकदेशमेकवस्त्रञ्च वर्जयेत्५८

'तत्र' समावर्त्तनात् परम् 'एतानि' नित्यव्रतानि' सर्वथैव प्रतिपाल्यनियमाः 'भवन्ति' । ५५ (१) शूद्रां न उपेयात्' शूद्रायाः पाणिग्रहणं न कुर्यात् । ५६ (२)। 'पक्षिमांसं न भुञ्जीत' विहिताविहितस्य कस्यापि पक्षिणो मांसं न अद्यात्।५७ (३)। 'एकधान्यम्' एक देशं एकवस्त्रं च वर्जयेत्' चिरमेकविधशस्यमेव नाद्यात्, सर्वदैव निरन्तरमेकदेशे एव वासं न कुर्यात् किञ्च आच्छिन्नमेकमेव वस्त्रं न परिदध्यात् अपितु कदाचित् धान्यं' कदाचिद्वा गोधूमं, कदाचिद्वा यवं भक्षेत्, एवं वर्षमध्ये एकवारमपि देशाटनं कर्त्तव्यमेव, किञ्च परिहितवस्त्राणि सदैव परिवर्त्य प्रक्षालनादिना पुनर्गृह्णीयादिति ।५८ ॥

भा०—समावर्त्तन के अनन्तर वक्ष्यमाण नियमों का अवश्य पालन करे॥५५॥ (१)शूद्रा कन्या से विवाह न करे॥५६॥(२)चिड़ियेका मांस न खावे॥५७॥(३)एक प्रकार का धान्य, एकदेश, और एक वस्त्र, त्याग करे । अर्थात् प्रतिदिन एक ही प्रकार का अन्न न खावे; कभी धान्य, कभी गेहूं, कभी यव व्यवहार करे ; बहुत दिनों तक निरन्तर एक ही देश में न रहे, अन्ततः वर्ष में एकवार भी देश पर्यटन करे; एवं एक वस्त्र जब तक न फटे , तब तक अत्याज्यरूप व्यवहार न करे, वरन सर्वदा ही बदलते हुए धुलाकर पुनः ग्रहण करे ॥५८॥

उद्धृताभिरद्भिरुपस्पृशेत् ॥ ५९ ॥

(४)'उद्धृताभिः अद्भिःउपस्पृशेत्' तत्क्षणमेवोदकान्युद्धृत्यतैरेव हस्तमुखप्रक्षालनादिकं कुर्यात् न तु पूर्वोद्धृतैः । एतेन च शीतकाले उष्णवारिलाभः, ग्रीष्मे च शीतवारिलाभः सुकरो भवेत्, विषकीटपतनादिदोषशङ्कापि न स्यादिति भावः ॥ ५९ ॥

भा०—(४)जिस २ समय हाथ,पैर, मुख आदि धोनेकी आवश्यकता हो, उस उस समय कूप आदि से जल भर लेवे, या भरवा लेवे, इस से शीतकाल में गर्म जल एवं ग्रीष्मकाल में शीतल जल सुगमता से मिलेगा और जल में विषकीट आदि पड़ने की भी शंका न रहे गी ॥ ५९ ॥

आदेशनात् प्रभृति न मृण्मयेऽश्नीयात् न पिबेच्छ्रवणादित्येके । ६१, ६२ । २

(५) 'आदेशनात् प्रभृति' सावित्र्युपदेशादारभ्य 'मृण्मये न अश्नीयात्' किञ्च मृण्मये 'पिबेत्' अपि 'न'। 'एके' आचार्यास्तु 'श्रवणात्' गुरुमुखात् वेदाध्ययनश्रवणसमाप्तिर्यदा भवेत्, ततः प्रभृत्येव मृण्मये न अश्नीयात् न च पिबेदित्याहुः । ६०—६२ ।

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेद्वितीयखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ३, २

भा०—जिस दिन 'सावित्री' दीक्षा हो, उस दिन से मट्टी के बर्त्तन में भोजन, या पान न करे। कोई २ आचार्य कहते हैं कि जब तक आचार्य के निकट वेद श्रवण करे, तब तक ऐसा न करने से भी चल सकता है, अनन्तर वेदाध्ययन समाप्ति कर घर आने पर्यन्त, मट्टी के पात्र में भोजन, या मट्टी के पात्र में जल पान छोड़ देवे ॥ ६०, ६१, ६२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीयअध्यायके द्वितीयखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३॥ २

अथ महानाम्नी साम ॥

(प्रथम स्तोत्रीयानुगानम्)

ए२। विदामघवन्विदा: । गातुमनुशꣳशिष: । दाइशा ३१ उवा २३। ई ३४ डा । ए२। शिक्षाशचीनाम्पताइ । पूर्वीणाम्पुरू २। वसा ३१ उवा २३। ई ३४ डा । आभिष्टमभा २इ । ष्टिभिरा ३१ उवा २३। ई ३४ डा । स्वर्नाꣳशू २ : । हा ३२ उवा २३। ई ३४ डा।प्राचे।तन प्रचेतया।इन्द्रा । द्युम्नायना२ इषाइ।इडा।इन्द्रा। द्युम्नायन २ इषाइ । अथा । इन्द्रा।द्युम्नायना२इषाइ। इडा।एवा हि शक्रोरायेवाजायवा १ ज्री ३ वा: । शविष्ठ वज्रिन्ना ३। जा साइ । मꣳहिष्ठ वज्रिन्ना २३ हो । जा सा ३२ उवा ३२ ।

१ १ १ १ १ १ २ २ १ — १ १
इढ् इडा २ ३ ४ ५ । आ या । हि पिब मा २ त् सुवा । इ
१ १ १ १
डा २ ३ ४ ५ ॥—

(द्वितीयस्तोत्रीयानुगानम्)

१ — २ १र र र र १ र र र र
ए २ । विदारायेसुवीरियाम् । भुयो वाजानाम्पतिर्व-
— १ १ २ ५ १ — १
शाꣳ २ । अनुआ ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । ए २ । मꣳ
२ १ १ १ ५ २
हिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसाइ । यः शविष्ठः शूरा २ णा ३ १ उवा २ ३ ।
१ ५ १र ५ २
ई ३ ४ डा । योमꣳहिष्ठ मघो २ । ना ३ १ उवा २ ३ ।
२ ५ २ र ५ २ २ ५
ई ३ ४ डा । अꣳशुर्नशोचा २ इः । हा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ।
१ १ र र १ २ २ र — १
चाइ । कित्वो अभिनोनया । इन्द्रो । विदेतमू २ स्तुहाइ । इ
१ २ २ १र — १ १ १ २ २ १र —
डा । इन्द्रो । विदेतमू २ स्तुहाइ । अथा । इन्द्रो । विदेतमू २
१ १ १र र र २ २ २ २र १र
स्तुहाइ । इडा ईशेहिशक्रस्तमूतये हवा १ मा ३ हाइ । जेता-
२ ४ ५ १ १ १ २
रमपरा ३ । जाइताम् । सनः स्वर्पदता २ ३ होइ । द्वा इषा
१ १ १ १ १ १ २ २ १
३ १ उवा २ ३ । इढ् इडा २ ३ ४ ५ । क्रातुः । छन्द ऋता २
१ १ — १ १ १ १
न्बृहात । इडा २ ३ ४ ५ ॥

महान्म्नी साम ॥

(तृतीयस्तोत्रीयानुगानम्)

१ — १ २ र १ १ र र र र
ए २ । इन्द्रन्धनस्य सातयाइ । हवामहे जेतारमपरा

— १ २ २ ५ १— १ २
२। जितमा ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४ डा। ए २। सनः स्वर्ष
१ १ — १ २
दति द्विषाः। सानः स्वर्षदता २ इ। द्विष आ ३ १ उवा २
२ ५ १र — १ २
३। ई ३ ४ डा। पूर्वस्य यत्तआ २। द्रिव आ ३ १ उवा २
२ ५ २ १ र ४ २ २ ५
३। ई ३ ४ डा। अथंशुम्र्मदाया २। हा ३१ उवा २३। ई ३४ डा।
१ २ र र १ २ १ — १ १
सून्नआधेहिनोवसाउ। पूर्त्तीः। शविष्ठशा२स्य ताइ। इडा।
१ २ २ १ — १ १ १ २ २ १
पूर्त्तीः। शविष्ठशा २ स्यताइ। अथा। पूर्त्तीः। शविष्ठशा२स्य
१ १ र र २ २ २ १र
ताइ। इडा। वशीहिशक्रोनूनं तन्नव्यथंसा१न्या३साइ। प्रभो
१ र ४ ५ १ र १ १ २
जनस्यवा ३। त्राहान्। समर्येषु ब्रवा २३ होइ। वाहा ३१ उवा
१ १ १ १ १ १ र २र १ १र — १ १
२३। इढ्उडा २ ३ ४ ५। शूरो। योगोपुगा२ च्छता ३। इडा।
१ २ २ १र — १ १ १ १ १ १
साखा। सुशेवो २ द्वयुः। इडा २ ३ ४ ५ ॥—

(पञ्चपुरीष पदानुगानम्)

१ २ २ र १ १ १ १ १ १ १ २र
आइवा। हियेवा २ ३ ४ ५। होइ। हो। वाहा ३१ उ
२ ५ १ २ २ १ १ १ १ १ १ १ २र
वा २३। ई३४डा। आइवा हियग्ना २ ३ ४ ५ इ। होइ। हो। वा
२ ५ १ २ २ १ १ १ १
हा ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४ डा। आइवा। हि इन्द्रा २ ३ ४
१ १ १ २ २ ५ १ २
५ होइ। हो। वाहा ३ १ उवा २ ३। इ ३ ४ डा। आइवा
२ १ ४ ४ ४ ४ १ १ २र २ ५
हि पूषा २ ३ ४ ५ न्। होई। हो। वाहा ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४ डा।

१ २ २ र १ १ १ १ १ २र
आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५ । होइ । हो । वाहा ३ १ उवा
२ ५ १ ५ २ र १ १ १ १ १ १ १
२ ३ । ई ३ ४ डा । आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५: । होइ । हो।
२र २ ५
वाहा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ॥ १ ॥

प्रौष्ठपदीᳫं हस्तेनोपाकरणम् ॥ १ ॥

"हस्तेन प्रौष्ठपदीं" हस्तनक्षत्रयुतां भाद्रपदीयां यां कामपि तिथिं प्राप्य तदैव "उपाकरणं" नाम वेदाध्यापनारम्भसूचकं कर्म वक्ष्यमाणेतिकर्त्तव्यताकं कर्त्तव्यम् । उप समीपे आक्रियन्ते अध्ययनाय शिष्याः येन कर्मणा तत् । १ अत्रोपाकरणे :-

भा०:-भाद्रमास के जिस किसी तिथि के पूर्वान्ह में हस्ता नक्षत्र युक्त हो, उसी दिन 'उपाकरण' कर्म करे * ॥ १ ॥

व्याहृतिभिर्हुत्वा शिष्याणाᳫं सावित्र्यनुवचनं यथोपनयने॥२

(१) ,व्याहृतिभिः भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रत्रिकैः 'हुत्वा' आज्यमेव 'शिष्याणां' वेदाध्ययनारम्भंकर्त्तुमुपस्थितानां नवानां सावित्र्यनुवचनं सावित्रीनामर्चोऽध्यापनं कर्त्तव्यम् । एतच्च 'यथा उपनयने' कृतम्, तथैवात्रापि पादशोऽर्द्धर्चशऋक्-शइति यावत् ॥ २ ॥

भा०:-भूः, भुवः, और स्वः इन तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए तीनों आहुति देवे (वेदाध्ययन का आरम्भ करने के लिये समुपस्थित नये छात्रों को उपनयन में उपदेश होने की नाईं पहिले पाद २, फिर आधी२ ऋचा और अन्त में समस्त ऋक् आवृत्ति क्रम से सावित्री मन्त्र का अभ्यास करावे **॥२॥

सामसावित्रीञ्च । ३ सोमᳫं राजानं वरुणमिति । ४ ॥

(२) 'च' अपि 'सावित्रीम्' ऋचमाश्रित्य गीतं ग्रन्थाध्यापनारम्भसूचकं 'साम' अनुब्यात् अनुवाचयेत् शिष्यान्। आदौ तावदाचार्यो भागशोऽनुब्रूयात्तदनु तथैव तत्साकमेव शिष्याः सर्वएव मिलित्वा ब्रूयुरिति यावत् । ३ (३) 'च' अपि

* जिस क्रिया के द्वारा वेद के नूतन पाठ का अध्ययन और अध्यापन आरम्भ किया जाता, उस अनुष्ठान को 'उपाकरण' कहते हैं। यह 'उपाकरण' आचार्य एवं छात्र दोनों ही को समान कर्त्तव्य है, सुतरां सब ही मिल कर करते हैं। ऋग्वेदी और यजुर्वेदियों को यह 'उपाकरण' श्रावण मास में होता है एवं किसी २ के मत से कौथमियों को भी श्रावण ही मास में होता है। अतएव इस अनुष्ठान को 'श्रावणी' भी कहते हैं ॥

** वेदों के अध्यापन आरम्भ काल में सर्वदा ही सावित्री पाठ और तत् समागम कर्त्तव्य एवं उसी प्रकार व्यवहार भी है। यदि थोड़े ही दिन में उपनीत होजावे तो सावित्री साम का अभ्यास न हो सकता है सुतरां यह सावित्री अभ्यास उन के लिये विशेष आवश्यक है।

'सोमं राजानं वरुणम्' (छ० आ० १, २, ५, १)' 'इति' ऋच मनूच्यात् तन्मूलकं साम च (गे० गा० ३, १, १) । ४

भा०:-एवं यह सावित्री ऋक् अवलम्बन पूर्वक गीत साम भी एक २ भाग कर, आचार्य, निज कृत उच्चारण के पीछे और सङ्ग २ उस छात्र को पढ़ाते हुए अभ्यास करावे॥३(३) 'सोमꣳ राजानं (छँ, आँ १,२,५,१) ऋक् एवं यह ऋङ् मूलक साम (गें, गाँ ३, १, १) इस प्रकार क्रम से अभ्यास करावे ॥४॥

आदितश्छन्दसोऽधीत्य यथार्थम् ।५॥

(४) ततः सर्वेमिलित्वा 'छन्दसः' छन्दोनामसामवेदीयार्च्चिकग्रन्थस्य 'आदितः आरभ्य सर्वमेव भागद्वयं यावदधीतं वा अधीयीरन् सामवेदसंहितायाः सामशून्यायाः समग्रायाः यावदधीताया वा पारायणं कर्त्तव्यमित्यर्थः। 'अधीत्य' पारायणे समाप्ते 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनमपरापरं कार्यं कर्त्तव्यम् । ५ ॥

भा०:-(४)अनन्तर छन्दोनामक (आर्च्चिक)* ग्रन्थ के पूर्व और उत्तर दोनों भाग ही आद्यन्त (या जिन का जहां तक पढ़ा है) सब मिल कर पाठ करें। उसी प्रकार वेद पारायण समाप्त होने पर यथा प्रयोजन अन्य कार्य करे ॥५॥

अक्षतधाना भक्षयन्ति धानावन्तङ्करम्भिणमिति । ६ ।

(५) अनुवचनेऽध्ययने च समाप्ते 'धानावन्तङ्करम्भिणम् (छ० अङ्क ३, १, २, ७)'-'इति' इमा मृचं पठित्वा 'अक्षतधानाः' भ्रष्टयवा एव धाना उच्यन्ते तत्र चाक्षतत्वं मृग्यम्, ता एव 'भक्षयन्ति' आचार्यादयः । ६ ॥

भा०-(५)वेद परायण के अनन्तर 'धानावन्तङ्करम्भिणम्' इस मन्त्र का पाठ करते हुये अभग्न भुनाहुआ यव सब लोग भक्षण करें ॥६॥

दध्नः प्राश्नन्ति दधिक्राव्णोअकारिषमिति । ७ आचान्तोदकाः । ८ खाण्डिकेभ्योऽनुवाक्या अनुगेयाः कारयेत्।९

(६) ततश्च 'दधिक्राव्णोअकारिषम् (छ० अ० ४, २, २, ७) 'इति' ऋचं पठित्वा 'दध्नः प्राश्नन्ति' तएवेति । ७ (७) अनन्तरम् 'आचान्तोदकाः' उदकैः कृताचमनाः ते सर्वे भवेयुः (भूयुः)।८ (८) ततः 'खाण्डिकेभ्यः' अधीतवेदखण्डेभ्यः पुरातनछात्रेभ्यः इति यावत् । 'अनुवाक्याः' अनुवाकशएव 'अनुगेयाः' स्वगानानुरूपगायकाः 'कारयेत्' आचार्यः ॥ ९ ॥

भा०-(६)तदनन्तर 'दधिक्राव्णोअकारिषम्' मन्त्र पाठ करके सब लोग दही खावें ॥ ७ ॥ (७) उस के पश्चात् सब लोग आचमन कर यथा स्थान सुस्थभाव से

* यही साम वेद का मूल ग्रन्थ अर्थात् संहितास्थि है। इसी का अवलम्बन कर गेय गान प्रभृति गान ग्रन्थ सब बने हैं एवं ब्राह्मण ग्रन्थ भी इसी का व्यवस्थापक है इत्यादि इत्यादि ।

वेठें ॥ ८ ॥ (८) पीछे, आचार्य, जिन छात्रों ने जहां तक पढ़ा हो, उन को उस के परे से अध्ययन आरम्भ करावें ॥ ९ ॥

सावित्रमहः काङ्क्षन्ते ।१० उदगयने च पक्षिणीᳪं रात्रिम् ॥११॥

'सावित्रमहः' यद्दिने सावित्र्युपदेशोऽनुवचनं वा तद्दिनं 'काङ्क्षन्ते' वाञ्छन्ति आचार्याः वेदाभ्यासतो विश्रामायेति ।१०। 'च' अपि तदेव सावित्रमहः उपनयननिबन्धनं वक्ष्यमाणमुत्सर्गनिमित्तं वा 'उदगयने' चेद् भवेत्, तर्हि 'पक्षिणीं रात्रिं' तद्दिनमारभ्य परदिनावशेषपर्यन्तं विश्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इति ११

[यहां जिस प्रकार वेदों का 'उपाकरण' कहा गया, उसी प्रकार उत्तरायण में वेदों की 'उत्सर्ग' क्रिया की भी व्यवस्था कियी जावेगी]

भा०—जिस दिन यह 'उपाकरण' क्रिया हो, उस दिन, दही खाकर एवं आचमन करलेने पर नये विद्यार्थियों को विश्राम देवे ॥ १० ॥ उस उत्तरायण में छात्रों को पक्षिणी (एक दिन और एक रात एवं उस के पर का दिन) विश्राम देने की व्यवस्था करे अर्थात् क्या वेद, क्या वेदाङ्ग, सम्बन्धी नया वा पुराना पाठ अध्ययन या अध्यापन कुछ भी न करे ॥ ११ ॥

उभयत एके त्रिरात्रम् । १२ । आचार्याणाञ्चोदकोत्सेचनमुभयत्र ॥ १३ ॥

'एके' तु आचार्याः, 'उभयतः' दक्षिणायनोत्तरायणेतदुभयकाले एव तथाच वेदोपाकरणे वेदोत्सर्गे च कर्मणि सम्पन्ने 'त्रिरात्रं' काङ्क्षन्ते विश्रामायेति ।१२ (९) 'उभयत्र' उपाकरणे उत्सर्गे च 'आचार्याणां' वेदशाखाप्रचारकाणां नामतः 'उदकोत्सेचनं' जलाञ्जलिक्षेपणं तर्पणमिति यावत् कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ १३ ॥

भा०—कोई २ आचार्य कहते—कि 'उपाकरण' और 'उत्सर्ग' इन दोनों क्रियाओं में छात्रोंको तीन रात्रि विश्राम देवे ॥ १२ ॥ (९) 'उपाकरण' और उत्सर्ग, इन दोनों क्रियाओं में जलाञ्जलि क्षेपण पूर्वक आचार्योंका नाम स्मरण करके (स्वीय) तृप्तिसाधन करे ॥ १३ ॥

श्रवणामेकउपाकृत्यैतमासावित्रात् कालं काङ्क्षन्ते ।१४ तैषीमुत्सृजन्ति ॥१५ ॥

'एके' आचार्याः 'श्रवणां' श्रावणीं पौर्णमासीं प्राप्य 'उपाकृत्य' 'आसावित्रात्' सवितृदेवताकं भाद्रपदीयं हस्तनाम नक्षत्रमभिव्याप्य 'एतंकालं' 'काङ्क्षन्ते' अध्ययनाध्यापनविश्रामायेति । इत्युपाकरणम् ।१४ अथोत्सर्गः।—'तैषीं' तिष्यनामनक्षत्रयुतां पौषीं पौर्णमासीमिति यावत् प्राप्य 'उत्सृजन्ति' वेदा-

ध्यापनत्यागपूर्वक मुत्सर्जनं नाम कर्म कुर्वन्ति आचार्याएवेति । इदमेवोदगय-नीयं प्रत्युपाकरणम् ॥ १५ ॥

भा०—कोई २ आचार्य कहते हैं कि—श्रावणमास की पूर्णिमासी को यह 'उपाकरण' करना चाहिये एवं उसी दिन से भाद्रमास के हस्तानक्षत्र युक्त तिथि पर्यन्त छात्रोंको विश्राम देवे ॥ १४ ॥ पौषकी पूर्णमासी को वेदाध्यापन का 'उत्सर्ग' अर्थात् कई एक मासके लिये नया पाठ अध्यापन छोड़देवे । इस को 'प्रत्युपाकरण' (कर्म) कहते हैं ॥ १५ ॥

प्राङ्वोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य या आपोऽनवमेहनीया-स्ताअभ्येत्योपस्पृश्यच्छन्दाꣳस्यृषीनाचार्य्यांश्च तर्पयेयुः ॥१६

एतस्मिन्नुदगयनीये सम्पन्ने च पक्षिणीं त्रिरात्रं वा विश्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इत्युक्तं पुरस्तात् । तत्र च विश्रामावसरे 'ग्रामात्' स्ववासभूमेः 'प्राक् वा' पूर्वस्यां—दिशि वा 'उदक् वा' उत्तरस्यां दिशि वा निष्क्रम्य', 'या आपः' 'अनवमेहनीयाः' मेहनस्पर्शिन्यो मेहनीयाः ततोऽवार्चीनाः अवमेहनीयाः न तादृश्यः, मेहनोद्र्ध्वगता नाभिदघ्ना इति यावत् ; 'ताः' आपः 'अभ्येत्य, 'उप-स्पृश्य' 'छन्दांसि' छन्दोनामान्युल्लिख्य, 'ऋषीन्' मन्त्रद्रष्टृऋषिनामान्युल्लिख्य, 'आचार्यान्' स्व-स्व-शाखाकारनामादीन्युल्लिख्य 'च' तर्पयेयुः जलाञ्जलिदानैः स्मरणतः स्वात्मतृप्तिं सम्पादयेयुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

भा०—यह 'उत्सर्ग' क्रिया पूर्ण होने पर 'पक्षिणी' या तीन रात सब प्रकार अध्ययन का विराम रक्खे, यह पूर्व ही व्यवस्था कियी गयी है । उस विरामकाल में,—स्व २ वास ग्राम के पूर्व, या उत्तरभाग में, जाकर, कम से कम नाभि—प्रमाण—जल वाले जलाशय में गोता मार कर उपस्पर्श पूर्वक छन्दो-नामक सब उल्लेख करते हुए और मन्त्र द्रष्टा ऋषियों का नामोल्लेख करते एव अपनी २ शाखा प्रवर्त्तकादि आचार्यों का नामोल्लेख करते हुये जला-ञ्जलि देकर (अपनी) तृप्ति सम्पादन करें ॥ १६ ॥

तस्मिन् प्रत्युपाकरणऽभ्रानाध्याय आपुनरुपाकरणाच्छन्दसः॥१७

'तस्मिन्' उक्तलक्षणे 'प्रत्युपाकरणे' उत्सर्गापरपर्याये कर्मणि सम्पन्ने ततः प्रभृति 'आ पुनरुपाकरणात्' भाद्रपदीयहस्तनाम नक्षत्रयुक्तकालं यावत् 'छन्द-सः' सामवेदीय छन्दोग्रन्थमात्रस्य 'अभ्रानध्यायः' अभ्रनिमित्तकोवक्ष्यमाणलक्ष-णोऽनध्यायोभवति, अत्र चानध्यायकाले अधीतानामपि छन्दोग्रन्थानामभ्यासं विचारादिकञ्च वर्जनीयम् । १७ उक्ताभ्रानध्यायमेव स्फटयति ;

भा०—'इस प्रकार 'प्रत्युपाकरण कर्म, सम्पन्न होने पर्यन्त पुनः उपाकरण न होने पर्यन्त, इन कई एक महीने (नया पाठ तो होगा नहीं अधिकन्तु मेघ निमित्तक अनध्याय भी होगा, इस अनध्याय में पुरातन पाठ का अभ्यास या विचारादि भी वर्जनीय है। किन्तु यह "आभ्रानध्याय" छन्दोग्रन्थ मात्र के लिये है ॥ १७ ॥

विद्युत्स्तनयित्नुपृषितेष्वाकालम् ॥ १८ ॥

विद्युत् गर्जनपूर्वदृश्यज्योतिः, स्तनयित्नुर्मेघमाला, पृषित वृष्टिविन्दवः, एतत्त्रितयमेकदैव दृश्येत चेत् तदा आकालम् यत्कालिकी घटना, तत्परदिवसीयतावत्कालं यावत् अनध्यायश्छन्दोऽध्ययनस्येति। अयमेवाभ्रानध्याय उच्यते ।१८

भा०—विजुली, मेघमाला, और वृष्टि देखने पर आ—काल अभ्रानध्याय होगा। अर्थात् अभ्रनिमित्तक उपद्रव जिस समय उपस्थित हो, उस के पर दिन उसी समय तक छन्दोग्रन्थ की चर्चा भी न करे ॥ १८ ॥

उल्कापातभूमिचलनज्योतिषोरुपसर्गेषु । १९ निर्घाते च ॥२०॥

उल्कापाते, भूमिचलने, ज्योतिषोः सूर्यचन्द्रयोः उपसर्गे ग्रहणादौ च आ कालमेवानध्यायः सर्वेषामेव ग्रन्थानाम् । १९ । 'च' अपि 'निर्घाते' मेघोदये विमलाकाशे वा स्थिते वज्रपाते आ कालमेवानध्यायः ॥ २० ॥ अथ सार्वकालिकसाधारणानध्यायानाह ;—

भा०—उल्कापात, भूकम्प, और सूर्य और चन्द्र ग्रहण के पर दिवसीय उसी समय तक अनध्याय होगा। यह अनध्याय सब ही ग्रन्थों का जाने ॥ १९ ॥ वज्र गिरने पर भी उस के पर दिन के उसी समय तक अनध्याय होगा। यह भी सब ग्रन्थों के लिये है ॥ २० ॥

अष्टकामावास्यासु नाधीयीरन् । २१ पौर्णमासीषु च ॥ २२ ॥

'अष्टकामावास्यासु' सर्वास्वेव वेदं वेदाङ्गानि च 'न अधीयीरन्' एष नित्यानध्यायः । २१ 'पौर्णमासीषु' 'च' 'न अधीयीरन्' एषोऽपि नित्यानध्यायः ॥२२॥

भा०—प्रति अमावास्या एवं प्रत्येक अष्टमीतिथिको सब प्रकार अनध्याय होगा २१ प्रति पूर्णिमा तिथि में इसीप्रकार जबतक तिथि रहे अनध्याय होगा २२

तिसृषुकार्त्तिक्यां फाल्गुन्यामाषाढ्याञ्चाहोरात्रम् ॥२३॥

'कार्त्तिक्यां फाल्गुन्याम् आषाढ्याम्'—इत्येतासु 'तिसृषु' 'अहोरात्रम्' तद्दिनं तद्रात्रिञ्च नाधीयीरन्नित्येव । २३ अथ नैमित्तिकानध्याया उच्यन्ते ;—

भा०—विशेषतः कार्त्तिकी, फाल्गुणी, और आषाढ़ी पूर्णिमा को एक दिन

एवं एक रात्रि सब प्रकार अनध्याय होगा ॥ २३ ॥

सब्रह्मचारिणि च प्रेते । २४ स्वे च भूमिपतौ ॥ २५ ॥

'सब्रह्मचारिणि' सतीर्थे 'प्रेते' 'च' मृते अहोरात्रम् नाधीयीरन् । २४ 'च' अपि 'स्वे' भूमिपतौ भूस्वामिनि प्रेते अहोरात्रम् नाधीयीरन् ॥ २५ ॥

भा०—एक गुरु के शिष्य के मृत्यु होने पर भी एक दिन रात सब प्रकार अनध्याय होगा ॥ २४ ॥ भूस्वामी के मरने पर भी एक दिन रात सब प्रकार अनध्याय रहेगा ॥ २५ ॥

त्रिरात्रमाचार्य्ये । २६ उपसन्ने त्वहोरात्रम् । २७ गीत-वादित्ररुदितातिवातेषु तत्कालम् । २८ शिष्टाचारोऽतोऽन्यत्र २९

'आचार्ये' स्वे एव प्रेते 'त्रिरात्रम्' नाधीयीरन् । २६ 'उपसन्ने' शिष्ये प्रेते 'तु' 'अहोरात्रम्' एव नाधीयीरन् । २७ गीतं, वादित्रं, रुदितं, अतिवातो झञ्झा, एषु सत्सु 'तत्कालम्' यावत् स्यात् तावदेव नाधीयीरन् । २८ 'अतः' उक्तेभ्य एभ्यः हेतुभ्यः 'अन्यत्र' 'शिष्टाचारः' अप्येकोऽनध्यायहेतु; तथाहि शिष्टेऽपि कस्मिंश्चित समागते नाधीयीरन् २९ गतमिदं वेदाध्ययनप्रकरणम्। अथाद्भुतप्रकरणम्;

भा०—आचार्य के मृत्यु होने पर, सब प्रकार अध्ययन, तीन रात तक रोक रक्खे, तदनन्तर अन्य आचार्य से पढ़े ॥ २६ ॥ शिष्य के मरने पर एक दिन और एक रात अनध्याय होगा। अर्थात् उस दिनरात में उस मठ (पाठशाला) में किसी का किसी प्रकार पाठन होगा ॥ २७ ॥ गीत, वाद्य, रोना, आन्धी उपस्थित हो ने पर' जबतक उपद्रव शान्त नहो, सब प्रकार अनध्याय रहेगा ॥ २८ ॥ पूर्वोक्त निमित्तों के अतिरिक्त' विशेष प्रतिबन्धक होने पर और भी अनध्याय होगा, जैसे, यदि कोई शिष्टव्यक्ति मठमें आवें, तो उनके आदरार्थ अनध्याय होगा ॥ २९ ॥

अद्भुते कुलपत्योः प्रायश्चित्तम् । ३० वंशमध्यमयोर्मणिके वा भिन्ने व्याहृतिभिर्जुहुयात् ॥ ३१ ॥

'अद्भुते' कस्मिंश्चिदपि उपस्थिते 'कुलपत्योः' यस्मिन् कुले समुपस्थित मद्भुतम् भवेत् तस्यैव स्वामिनोः दम्पत्योः 'प्रायश्चित्तं' कर्त्तव्यम् भवेत् । ३० कीदृशेऽद्भुते कीदृशं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यमित्याह ;—वंशः स्थूणोपरिस्थः, मध्यमाश्च स्तम्भाः, एतयोः 'भिन्ने' भिन्नयोः अनिमित्तएव विदीर्णयोः सतोः 'वा' अथवा 'मणिके' जलाधारबृहद्भाण्डे भिन्ने अनिमित्तमेव स्फुटिते, एतदद्भुत-

दोषप्रशमनाय 'व्याहृतिभिः' भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रैः 'जुहुयात्' आज्यहवनं कुर्यात्३१

भा०-कोई अद्भुत (आश्चर्य) बात हो पड़े तो गृहस्वामी और उस की स्त्री को प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३० ॥ कैसे अद्भुत के लिये क्या प्रायश्चित्त होगा? सो कहते हैं कि-जिस बांस के ऊपर सम्पूर्ण घर का ठाठ (छप्पर) हो वह, या घर के खम्भे सब हठात् फट जावें, या जल का घड़ा, वा मांट फूट जावे, तो व्याहृति मन्त्रों को पाठ कर आज्याहुति देवे ॥ ३१ ॥

दुःस्वप्नेष्वद्यनोदेवसवितरित्येतामृचं जपेत्।३२ अथापरम्॥३३॥

'दुःस्वप्नेषु 'अद्यनोदेवसवितः (ऋ० आ० २, १, ५, (७)-'इति' एताम् 'ऋचं' 'जपेत्' । एतज्जपादेव एतदद्भुतदोषप्रशमनं भवेन्नाम । गतमिदमद्भुतप्रकरणम् । ३२। 'अथ' अद्भुतप्रायश्चित्तविधानानन्तरम् 'अपरम्' अपि किञ्चिन्नैमित्तिकमस्ति तद् वक्तव्यम् ॥ ३३ ॥

भा०-बुरा स्वप्न देखने पर 'अद्यनोदेव सवितः' (ऋ० आ० २, १, ५, ७) मन्त्र का जप करे ॥३२॥ और भी कुछ घटनाके अनुसार कर्त्तव्य कहा जाताहै ॥३३॥

चित्ययूपोपस्पर्शनकर्णक्रोशाक्षिवेपनेषु सूर्य्याभ्युदितः सूर्य्याभिनिम्लुप्त इन्द्रियैश्च पापस्पर्शे पुनर्म्मामैत्विन्द्रियमित्येताभ्यमाज्याहुती जुहुयात् ॥ ३४ ॥

किन्तदित्याह;-'चित्ययूपः' बौद्धयूप; तस्य उपस्पर्शनम्, कर्णयोः स्वयोः क्रोशः शब्दः, अक्ष्णोः वेपनं कम्पनम् ; एषु निमित्तेषु ;-किञ्च सुप्ते एव सूर्योऽभ्युदितः अथिवा सुप्ते एव सूर्योऽस्तं गतश्चेत्;-इन्द्रियैः हस्तादिभिः पापवस्तूनां परवधूरोजादीनां स्पर्शे "पुनर्मा मैत्विन्द्रियं पुनरायुः पुनर्भगः । पुनर्द्रविण मैतु मा पुनर्ब्राह्मण मैतु मा ॥३३॥ पुनर्मनः पुनरात्मा म आगात् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगात्। वैश्वानरो अदब्ध स्तनूपा अन्तस्तिष्ठतु मे मनोऽमृतस्य केतुः (स्वाहा)'॥३४॥ (म० ब्रा- १, ६, ३३-३४)-'इति' एताभ्याम् ऋग्भ्याम्' आज्याहुती' आज्यास्याहुतिद्वयं 'जुहुयात्' ॥ ३४ ॥

भा०-दैवात् बौद्धरूप प्रकट होनेपर, कान में किसी प्रकार शब्द होने पर आंखके स्फुरन होने पर, एवं सूर्योदय के पीछे जागने पर, या सूर्यास्त समय नींद आने पर, और भी हाथ आदि इन्द्रियों के द्वारा पराई स्त्री के स्तन स्पर्श करने पर, "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" इत्यादि दो मन्त्रों से दो आज्याहुति देवे ॥३४॥

आज्यलिप्ते वा समिधौ । ३५ जपेद्वा लघुषु ॥ ३६। ३ ॥

'वा' अथवा अनतिरिक्तनिमित्ते 'आज्यलिप्ते' समिधौ' समित्काष्ठद्वय-मात्रं जुहुयात्। तथैव तत्पापप्रशमनं भवेन्नाम। ३५ 'वा' अथवा 'लघुष' ततो-ऽप्यल्पनिमित्तेषु उक्तमृग्द्वयं जपेदेव न तु समिदाहुतेरप्यपेक्षेति शम्॥ ३६॥

इतिसामवदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेतृतीयखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥३, ३॥

भा०–यदि अतिरिक्त पाप स्पष्ट न हो जावे तो घी–से लपेटी लकड़ी (दो) अग्नि में हवन करे॥ ३५॥ बहुत छोटा दोष (पाप) होने पर उक्त दोनों मन्त्र मन ही मन जप करे, आहुति प्रदान न करे॥ ३६॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयअध्यायकेतृतीयखण्डका भाषानुवादपूराहुआ॥ ३, ३॥



(अथ स्नातकप्रकरणम्)। कृतब्रह्मचर्यो गार्हस्थ्यानुप्रवेशायाचार्यानुमतः विधि-विशेषेण स्नातः सन् पितृकुलं प्रतिगच्छति। एतदेव स्नातकव्रतमुच्यते। तदेवा-स्मिन् खण्डे यथाक्रमं विधत्ते,–

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरवेऽनुज्ञातो दारान् कुर्वीतासगोत्रान्॥ १,२,३,४॥

'ब्रह्मचारी' आद्याश्रमीर्द्विजः 'वेदम्' वेदैकम् आद्यन्तम्। 'अधीत्य' गुरु-मुखादनुश्रुत्य यथाशक्ति बुद्ध्वाच (१) 'उपनी' उपनीः उपनयनं तद्दक्षिणा-प्युपचारादुपनीरित्युच्यते; ततो द्वितीयैकस्य सुपांसुरिति लुकि उपनीति; उपनयनदक्षिणामिति यावत् 'गुरवे' तस्मै वेदाध्यापकायाचार्याय 'आहृत्य' निवेद्य (२) ततस्तेनैव गुरुणा 'अनुज्ञातः' द्वितीयाश्रमग्रहणे लब्धानुज्ञः सन् 'दारान्' पत्नीं 'कुर्वीत' (३)। दारांश्च कीदृशान् कर्त्तव्यानित्याह;–'असगोत्रान्' समानगोत्रातिरिक्तान् स्वगोत्रजभिन्नानिति यावत् (४)॥ ४॥

भा०–ब्रह्मचारी एक वेद को आद्योपान्त अध्ययन कर, गुरु को उपन-यन की दक्षिणा दे, और उनकी आज्ञानुसार अपना विवाह स्थिर करे, जिस कन्यासे विवाह करे उसका और अपना समान (एकही) गोत्र नहो॥१,२,३,४॥

मातुरसपिण्डा।५। अनग्निका तुश्रेष्ठा।६। अथाप्लवनम्।७।

तत्र दारकर्म्मणि 'मातुः असपिण्डा' मातृसमानपिण्डा कन्या न ग्राह्या॥५॥ तत्र च 'तु' अपि 'अनग्निका' यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत्, यावच्च नग्ना सलज्जापि विचरितुं शक्नुयात्, सा नग्निका, तद्भिन्ना अनग्निका ऋतुमती प्राप्त-यौवना, सैव 'श्रेष्ठा' प्रशस्या; कन्याया ऋतौ सञ्जाते स्त्रेवाग्निभोग्यत्व मुपपद्यते,

तदैव च 'सोमो ददद् गन्धर्वाय'—इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते नान्यथेत्येव दारकर्मणि ऋतुमत्याः प्राशस्त्यम् । अतएवाह मनुरपि 'देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः (९, ९५) '—इति । तदेवं प्राप्तायां प्राप्तयौवनायाम् आसन्नयौवनापि नोद्वाह्येति फलितम् (६) । ६ 'अथ' दारकरणे गुर्वनुमतिप्राप्त्यनन्तरम् 'आप्लवनम्' ब्रह्मचर्यव्रतसमाप्तिसूचकं विधिविशेष विहितं स्नानम् उपदेश्याम इति शेषः ॥ ७ ॥

भा०—और वह कन्या ब्रह्मचारी की माता की सपिण्डा न हो अर्थात् ब्रह्मचारी की माता के पिता के सात पीढ़ी में न हो ॥ ५ ॥ जिस कन्या का ऋतु (मासिकधर्म) प्रकाश हो चुका हो, इस प्रकार प्राप्त 'यौवना' को 'अनग्निका' कहते हैं। अनग्निका कन्या ही विवाह के लिये प्रशस्ता होती है। विवाह के निमित्त गुरु की आज्ञा पाने के अनन्तर ब्रह्मचर्यव्रत की समाप्ति सूचक स्नान करे ॥ ७ ॥

उत्तरतः पुरस्ताद्वाऽऽचार्य्यकुलस्य परिवृतम्भवति ॥८॥

'आचार्यकुलस्य' आचार्यकुलसम्बन्धिन्येव स्थाने 'उत्तरतः पुरस्तात् वा' उत्तरस्यां पूर्वस्यां वा दिशि 'परिवृतं' सर्वतः आवृतं स्नानागारं 'भवति' भवेत्॥८॥

भा०—आचार्य परिवार सम्बन्धी स्थान की उत्तर, या पूर्व दिशामें अच्छे प्रकार आच्छादित एक स्नानागार (Bathing room) बनावे ॥ ८ ॥

तत्र प्रागग्रेषु दर्भेषूदङ्ङाचार्य्य उपविशति। प्राग् ब्रह्मचार्य्युदगग्रेषुदर्भेषु ॥ ९, १० ॥

'तत्र' स्नानागारे 'आचार्य' 'प्रागग्रेषु दर्भेषु' 'उदङ्मुखः' सन् 'उपविशति' उपविशेत्। 'ब्रह्मचारी' 'उदगग्रेषु दर्भेषु' 'प्राक्' प्राङ्मुखः सन् उपविशेदित्येव ॥९,१०॥

भा०:—इस 'स्नानागार' में पश्चिम की ओर जड़ एवं पूर्व की ओर शिर इसप्रकार डाले हुए कुशाओं पर आचार्य्य उत्तराभिमुख होकर बैठे एवं 'उत्तराग्र रक्खे हुए कुशाओं पर ब्रह्मचारी पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ९, १० ॥

सर्वौषधिविफाण्टाभिरद्भिर्गन्धवतीभिः शीतोष्णाभिराचार्य्योऽभिषिञ्चेत् ॥११॥

कुत्सितद्रव्यायमुष्णजले निक्षिप्य वस्त्रादिना पूतीकृतं तज्जलं फाण्टमुच्यते। सर्वौषधिविफाण्टाभिः' सर्वौषधिद्रव्यैस्तथाविधकृताभिः 'गन्धवतीभिः' सुगन्धद्रव्यमिश्रिताभिः 'शीतोष्णाभिः' शीतलजलमिश्रिताभिः कदुष्णाभिर्वा 'अद्भिः' 'आचार्यः' 'अभिषिञ्चेत्' ब्रह्मचारिणं प्रथममिति ॥ ११ ॥

भा०:—सुगन्ध, कच्चा पक्का मिला * सर्वौषधि—फाण्ट जल से आचार्य्य प्रथम ब्रह्मचारी को अभिषिञ्चन करे ॥ ११ ॥

स्वयमिव तु । १२ मन्त्रवर्णो भवति । १३ ॥

'तु' अप्यर्थः । अनन्तरम्, 'इव' तद्वत् आचार्योभिषिञ्चनप्रकारेण 'स्वयम्' अपि ब्रह्मचारी आत्मानम् अभिषिञ्चेदित्येव । १२ । अत्र स्वयमभिसिञ्चनकाले 'मन्त्रवर्णः' मन्त्रोच्चारणं कर्त्तव्यं 'भवति' भवेत् । १३ । स्वयमभिषिञ्चनकाले आदौ तावत् पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चाञ्जल्युदकानां व्यवहारस्ततोऽवशिष्टानामेकदैव तूष्णीम् । तत्र चाद्यमन्त्रद्वयाभ्यामुदकाञ्जलिद्वयं भूमौ क्षिपत्वा तृतीयादिभिरुदकाञ्जलिभिः शिरःप्रभृत्यङ्गानां सिञ्चनमभिमतम् । तदेव यथाक्रमं विधत्ते;—

भा०:—उस के पश्चात् ब्रह्मचारी स्वयं भी आपे को अभिषिञ्चित करे ॥ १२॥ एवं आपे को अभिषिञ्चन करते समय मन्त्र पढ़े ॥ १३ ॥

[स्वयं अभिषिञ्चित होते समय पहिले पांच मन्त्रों से जलांजलि द्वारा जल व्यवहार कर अन्त में अवशिष्ट जल एक ही बार में अपने मस्तक पर ढार देवे। उन में प्रथम दो मन्त्रों से लिया शेष अञ्जलिजल भूमि पर डार कर तृतीय आदि तीनों मन्त्रों से मस्तक आदि सब शरीर सिंचन करे । इस का यथाक्रम से आगे विधान करते हैं]

ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा इत्यपामञ्जलिमवसिञ्चति ॥१४॥

"ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्योमरूको मनोहाः । खलो विरुजस्तनूदूषिरिन्द्रियहा अतितान्त्सृजामि" ॥१॥ (म० ब्रा० १,७, १)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'अपामञ्जलिम्' 'अवसिञ्चति' त्यजति भूमाविति । १४ ॥

भा०:—"ये अप्स्वन्तरग्नयः" इस मन्त्र से एक अञ्जलि जल पृथिवी पर गेरे१४।

यदपाङ्घोरं यदपाङ्क्रूरं यदपामशान्तमिति च ॥ १५ ॥

ततः, "यदपां घोरं यदपां क्रूरं यदपामशान्तमति तत्सृजामि "॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ७, २)—'इति' अनेन 'च' अपि अवसिञ्चत्येव ॥ १५ ॥

भा०:—उसके पश्चात् 'यदपां घोर' मन्त्रसे एक अञ्जलि जल भूमिपर डाले ॥१५॥

यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्यात्मानमभिषिञ्चति ॥१६॥

'ततः' " यो रोचनस्तमिह गृह्णामि तेनाहं मामभिषिञ्चामि" ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ३)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'आत्मानं' शिरःप्रभृतिकम् 'अभिषिञ्चति' स एव ब्रह्मचारी ॥ १६ ॥

---

* सब द्रव्यों को कूट कर गरम जल में छोड़ कपड़े से ढाक देवे ऐसे जल को 'फाण्ट' कहते हैं । कूठ, जटामान्सी, हरिद्रा, बच, शिलाजित, चन्दन, मुरामान्सी, लालचन्दन, कपूर, भद्रमोथ इन का नाम सर्वौषधि है ।

भा०:-तदनन्तर "यो रोचनस्त" मन्त्र से एक अञ्जलि जल से अपना मस्तकादि सिञ्चित करे ॥ १६ ॥

यशसे तेजसइति च । १७ येनस्त्रियमकृणुतमिति च । १८ तूष्णीञ्चतुर्थम् ॥ १९ ॥

ततः "यशसे तेजसे ब्रह्मवर्चसाय बलायेन्द्रियाय वीर्यायान्नाद्याय रायस्पोषाय अपचित्यै" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ४)-'इति' अनेन 'च' अपि आत्मानमभिषिञ्चेत् । १७ ततः येन स्त्रियमकृणुतं येनापामृषतथंसुराम् । येनाक्षानभ्यषिञ्चतं येनेमां पृथिवीं महीम् । यद्वान्तदश्विना यशस्तेन मामभिषिञ्चतम्" ॥५॥ (म० ब्रा० १, ७,५)-'इति' अनेन 'च' आत्मानमभिषिञ्चेत् । १८ । ततोऽवशिष्टान्युदकान्येकदेवगृहीत्वा 'तूष्णीं' मन्त्रशून्यम् आत्मानमभिषिञ्चेत् । तदिदं चतुर्थम् ॥१९॥

भा०:-उस के पश्चात् "यशसे तेजसे" यह मन्त्र पढ़कर एक अञ्जलि जलसे अपना मस्तकादि सिञ्चित करे ॥१७॥ अन्त में "येनस्त्रिय" यह मन्त्र पढ़ २ कर तृतीय जलाञ्जलि से पुनः अपना मस्तकादि सिञ्चित करे ॥ १८ ॥ शेष जल को विना मन्त्र पढ़े अपने माथे पर ढार देवे ॥ १९ ॥

उपोत्थायादित्यमुपतिष्ठेतोद्यन्भ्राजभृष्टिभिरित्येतत्प्रभृतिना मन्त्रेण ॥ २० ॥

'ततश्चोपोत्थाय' स्नानासनादुत्थानं प्रकृत्य "उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थात् । दशसनिरसि दशसनिं माकुर्वा त्वा विशाम्या माविश ॥ ६ ॥ उद्यन् भ्राज भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सान्तपनेभिरस्थात् । शतसनिरसि शतसनिं कुर्वा त्वा विशाम्या माविश ॥ ७ ॥ उद्यन् भ्राज भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावभिरस्थात् । सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं माकुर्वा त्वा विशाम्या माविश" । ८ (म० ब्रा० १,७, ६वा७वा ८) 'इत्येतत्प्रभृतिना' एवम्प्रकारेण षष्ठाद्यन्यतमेन 'मन्त्रेण' 'आदित्यं' सूर्यम् उपतिष्ठेत 'आराधयेत् २०

भा०:-अनन्तर नहाने की जगह ही पर खड़े होकर "उद्यन् भ्राज भृष्टिभिः" (६ ठा, ७ म, या ८ म) इन तीन मन्त्रों में से किसी एक का पाठ करते हुए सूर्य की आराधना करे ॥ २० ॥

यथालिङ्गं वा विहरन् ॥ २१ ॥

'वा' अयं शब्दोऽत्र व्यवस्थायाम् । 'यथालिङ्गं' मन्त्रलिङ्गानुसारतएव व्यवस्थां 'विहरन्' व्यवहरन् मन्त्रेण आदित्यमुपतिष्ठेतेत्येव । तथा च षष्ठे मन्त्रे "प्रातर्यावभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् प्रातस्तस्यैव प्रयोगः, सप्तमे पुनः सान्तप-

नेभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् मध्यान्हे तस्यैव प्रयोगः, अष्टमे तु सायंयावभि-रिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् तस्यैव सायं प्रयोगः इति व्यवस्था" ॥ २१ ॥

भा०ः—इन तीन (पूर्वोक्त) मन्त्रों में से जिस में 'प्रातः' शब्द पठित है उस का प्रातःकाल के उपस्थान में प्रयोग करे, और जिस मन्त्र में मध्यान्ह बोधक 'सान्तपन' शब्द है उस को मध्यान्ह के उपस्थान में पढ़े और 'सायं' पद जिस मन्त्र में पढ़ा है उस मन्त्र को सायङ्काल के उपस्थान में पढ़े॥२१॥

चक्षुरसीत्यनुबध्नीयात् ॥ २२ ॥

"चक्षुरसि चक्षुष्ट्व मस्यवमे पाप्मानं जहि । सोमस्त्वा राजावतु नमस्तेऽस्तु मामा हिꣳसीः" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ९)—'इति' इमं मन्त्रम् 'अनु' पश्चात् कालत्रये एव मन्त्रत्रयस्य 'बध्नीयात्' बन्धनं कुर्यात् । उद्यन्भ्राजभृष्टिभिरि-त्येतदनन्तरं सर्वत्रैव पाठ्यमित्यर्थः ॥ २२ ॥

भा०ः—'चक्षुरसि' इस मन्त्र को प्रातःकालादि समय पढ़ने योग्य पूर्वोक्त (उद्यन् भ्राजभृष्टिभिः आदि) तीनों मन्त्रों के पश्चात् बान्ध देवे अर्थात् इन मन्त्रों के साथ—यह मन्त्र सर्दैव अवश्य पढ़े ॥ २२ ॥

मेखलामवमुञ्चत उदुत्तमं वरुणपाशमिति ॥ २३ ॥

तदनन्तरञ्च ब्रह्मचर्यकाले गृहीतां 'मेखलां' 'अवमुञ्चते' अधस्तान्मोचनं कुर्वीत । तत्र मन्त्रः—"उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳश्रथाय । अथा-दित्य व्रते वयन्तवानागसो अदितये स्याम" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० १, ७, १०)—'इति' अयं बोध्यः ॥ २३ ॥

भा०ः—तदनन्तर "उदुत्तम वरुण पाशम्" मन्त्र को पढ़कर, ब्रह्मचर्य्य ग्रहण समय की पहनी हुई मेखला को नीचे को त्याग देवे ॥ २३ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयम्भुक्त्वा केशश्मश्रुरोमन-खानि वापयीत शिखावर्जम् ॥ २४ ॥

एवं स्नानं समाप्य मेखलात्यागानन्तरं स्नातकव्रतं समाप्तं मन्यमान आश्रमसन्धौ स्थितः सः 'ब्राह्मणान्' कतिपयान् 'भोजयित्वा' ततः 'स्वयं भुक्त्वा' च 'शिखावर्जं' शिखाव्यतिरिक्तं 'केशश्मश्रुरोम' सर्वं 'नखानि' च 'वापयीत' नापितेनेति । २४ ।

भा०ः—इस प्रकार स्नान कर मेखला त्यागने पर, स्नातक व्रत समाप्त हो गया, ऐसा समझ कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय ब्रह्मचारी कतिपय ब्राह्मण को भोजन करावे एवं पीछे आप भी भोजन करे । तदनन्तर नापित से मूंछ, रोम, नख आदि बनवावे ॥ २४ ॥

स्नात्वाऽलङ्कृत्याहते वाससी परिधाय स्रजमाबध्नीत श्रीरसि मयि रमस्वेति ॥ २५ ॥

पूर्वोक्तवापनानन्तरं पुनः स्नायात्, 'स्नात्वा', 'अलङ्कृत्य' स्वदेहम्, 'अहते' अखण्डे 'वाससी' उपसंव्यानोत्तरीये 'परिधाय' "श्रीरसि मयि रमस्व" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ११)'-'इति' अनेन मन्त्रेण 'स्रजम्' 'आबध्नीत' स्वमूर्ध्नीति शेषः । २५ ।

भा०:-उक्त प्रकार और कर्म कराने पश्चात् भूषणादि पहन, अखण्ड दोनों वस्त्र नीचे ऊपर (धोती अङ्गोछा) पहन कर "श्रीरसि मयि रमस्व" इस मन्त्र का पाठ करता हुआ अपने मस्तक में माला *पहने ॥२५॥

नेत्र्यौ स्थो नयतम्मामित्युपानहौ ॥ २६ ॥

"नेत्र्यौ स्थो नयतं माम् " । १२ । (म० ब्रा० १, ७, १२),-'इति' मन्त्रेण 'उपानहौ' चर्मपादुके परिधायेत्येव । २६ ।

भा०:-पीछे 'नेत्र्योस्थ' मन्त्र पढ़कर जूता पहने ॥ २६ ॥

गन्धर्वोऽसीति वैणवन्दण्डङ्गृह्णाति ॥ २७ ॥

'गन्धर्वोऽस्युपाव उपमामव' । १३ । (म० ब्रा० १, ७, १३),-'इति' मन्त्रेण 'वैणवं' वेणुवंशभवं 'दण्डं' 'गृह्णाति' । २७ ।

भा०:-अनन्तर 'गन्धर्वोऽसि' मन्त्र का स्मरण करते हुए वांस (शास्त्रोक्त विधि अनुसार बनी) की यष्टि ग्रहण करे ॥ २७ ॥

आचार्य्यꣳ सपरिषत्कमभ्येत्याचार्य्यपरिषदमीक्षते यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासमिति ॥ २८ ॥

'सपरिषत्कं, शिष्यादिमण्डलिविराजितम् 'आचार्यम्' 'अभ्येत्य, "यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासम्" । १४ । (म० ब्रा० १, ७, १४) 'इति' मन्त्रमनुस्मरन् 'आचार्यपरिषदं' तम् 'ईक्षते' पश्येत् । २८ । अथ यात्राप्रकारः ।

भा०:-तदनन्तर शिष्यों से घिरे हुए आचार्य्य के निकट बैठकर "यक्षमिव भूयासं" मन्त्र पाठ कर उस शिष्य युक्त आचार्य का दर्शन करे ॥ २८ ॥

उपोपविश्य मुख्यान् प्राणान् सम्मृशन्नोष्ठापिधाना

---

* शरीर के किस २ अङ्ग में माला पहनने से माला की विशेष संज्ञा क्या २ होती है सो कहते हैं—जो मस्तक में धारण कियी जावे उसे 'स्रक्' एवं उसी को 'माल्य' और माला भी कहते हैं। केश के भीतर पहनने से 'गर्भक' नाम होता है, शिखा में लटकने से 'प्रभ्रष्टक' कहते हैं, सम्मुख भाग में ललाट पर जो झूलती हो उसे 'ललामक' कहते हैं। जो कण्ठ में पहिनी जावे उसे 'प्रालम्ब' कहते, यही 'उपवीत' वा प्राचीनावीति की नाईं कांख तक लटकती हो उसे 'वैकक्षिक' कहते हैं ॥

नकुलीति ॥ २९ ॥ अत्रैनमाचार्य्योऽर्हयेत् ॥ ३० ॥

'उपोपविश्य' अर्द्धोपवेशनं प्रकृत्य 'मुख्यान्' मुखागतान् 'प्राणान्' वायून् 'सम्मृशन्, पवित्रीकुर्वन्, "ओष्ठापिधाना नकुली दन्तपरिमितः पविः । जिह्वे मा विह्वलो वाचं चारुमाद्येह वादय" ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, ७, १५) 'इति' मन्त्रं पठेदिति । २९ । 'अत्र' अस्मिन्नेव समये 'आचार्यः' 'एनं' स्नातकम् 'अर्हयेत्' आशिषेति भावः । ३० ।

भा०:—अर्द्धोपवेशन कर अपने मुख में आये हुए श्वास वायु का अनुभव करते हुए "ओष्ठापिधाना नकुली" मन्त्र का पाठ करे ॥ २९ ॥ इस समय आचार्य उस ब्रह्मचारी को आशीर्वाद देकर प्रसन्न करे ॥ ३० ॥

गोयुक्तꣳरथमुपसंक्रम्य पक्षसी कूवरबाहू वाऽभिमृशे-द्वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया इति ॥ ३१ ॥

ततश्च 'गोयुक्तं' गोभ्यां युक्तं रथं' यानम् 'उपसङ्क्रम्य'—तत्समीपगमनेन प्राप्य, तस्यैव रथस्य 'पक्षसी' चक्रौ 'वा' अथवा 'कूवरबाहू' युगन्धरपार्श्वे। "वनस्पते वीड्वङ्गोहि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः । गोभिः सन्नद्धोअसि वीडयस्व आस्थाता ते जयतु जेत्वानि" ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ६) 'इति' मन्त्रेण 'अभिमृशेत्' स्पृशेत् ॥ ३१ ॥

भा०:—इस प्रकार यात्रा के लिये जिस रथ में सवार होना हो, उस के चक्र या जूआ छूकर 'वनस्पते वीड्वङ्गोहि' मन्त्र का पाठ करे ॥ ३१ ॥

आस्थाता ते जयतु जेत्वानीत्यातिष्ठति ॥ ३२ ॥

तथा स्पर्शनम् कृत्वा "आस्थाता ते जयतु जेत्वानि" (म० ब्रा० १, ७, १७)' 'इति' मन्त्रं पठन् तदुपरि 'आ' आभिमुख्येन 'तिष्ठति' आरोहतीत्यर्थः ॥३२॥

भा०:—उस के अनन्तर "आस्थाता ते" मन्त्र पढ़कर, रथ के ऊपर चढ़े॥३२॥

प्राङ्वोदङ् वाभिप्रयाय प्रदक्षिणमावृत्योपयाति ॥३३॥

'प्राङ्' पूर्वाभिमुखस्तत्रोपविष्टः 'वा' अथवा 'उदङ्' उत्तराभिमुखएवोपविष्टः 'अभिप्रयाय' सर्वतश्चालयित्वा तद्रथमिति शेषः । 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'आवृत्य' आवर्त्तनेन गत्वा स्वावासमिति ॥ ३३ ॥

भा०:—इस रथ पर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठकर रथ चलावे। अपनी वास भूमि को दक्षिण में रक्ख कर आवर्त्तन करते हुए वहां बैठे ॥३३॥

उपयातायार्घ्यमिति कौहलीयाः ॥ ३४ ॥

'उपयाताय' स्वावासप्राप्ताय तस्मै स्नातकाय 'अर्घ्यम्' देयं पुरजनैरात्मजनैर्वा 'इति' एवं 'कौहलीयाः' आहुः। तत्राप्यस्माकं नासम्मति रिति भावः ।३४।

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठके चतुर्थखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ३,४।

भा०:–बहुत दिन तक गुरुगृह में वास पूर्वक कृत ब्रह्मचर्य्य, अधीतवेद, स्नातक को परिवार गण आदर के साथ ग्रहण करें (Recieve) ॥ ३४ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय अध्यायके चतुर्थखण्ड का भाषानुवादपूरा हुआ॥३,४॥



अत ऊर्द्ध्वं वृद्धशीली स्यादिति समस्तोद्देशः ॥१॥

'अतः' ब्रह्मचर्यात् 'ऊर्द्ध्वं' परस्तात् अकृतोद्वाहोऽपि पुरुषः वृद्धशीली स्यात्' वृद्धानां मात्रादीनां शुश्रूषापर आज्ञानुवर्त्ती च भवेत्। अथवा वृद्धः पक्वबुद्धिः तत्स्वभावको भवेत् । 'इति' एतन्मात्रेणैव 'समस्तोद्देशः' समग्राणामेव धर्माणाम् उपदेशः सिद्धो भवेदिति ॥१॥

भा०:–ब्रह्मचर्य्य समाप्त करने पर विवाह के पहिले आश्रम सन्धि समय तक गृहधर्म्म करना चाहिये। उस से पिता माता प्रभृति वृद्ध जनोंकी सेवा में परायण एवं सुपक्क बुद्धि होवे। यह सब उपदेशों का मूल है ॥१॥

तत्रैतान्याचार्याः परिसञ्चक्षते ॥२॥

'तत्र' ब्रह्मचर्योत्तरकाले आश्रमसन्धाविति यावत्, 'आचार्याः' गोभिलादयः 'एतानि' बुद्धिस्थानि अनुपदं वक्ष्यमाणानि 'परिसञ्चक्षते' परिसंख्यानानि कुर्वन्ति। परिसंख्यानञ्च निषेधविशेषम्, निषिद्धादन्यत्र विधानमित्येव तस्य विशेषत्वम् ॥२॥

भा०:–घर में पुनः आये हुए व्यक्तियों के लिये आचार्य्यों ने वक्ष्यमाण नियम निर्द्दिष्ट किये हैं ॥ २ ॥

नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत् ।३। नायुग्वा ।४। न रजस्वलया ।५। न समानर्ष्या ॥६॥

'अजातलोम्न्या' रसानभिज्ञया बालिकया 'उपहासम्' अपि 'न' 'इच्छेत्' अपि ।३। 'अयुग्वा' अयोग्यया अपि 'न' तथा ।४। 'रजस्वलया' अपि 'न' तथा ।५। 'समानर्ष्या' समानः योग्यः ऋषिः पतिः यस्या अस्ति, तया सधवया अपि 'न' तथा ॥ ६ ॥

भा०:–जिस कन्या को अन्तर्लोम उत्पन्न हुए हों इसप्रकार रस से अनभिज्ञा बालिका के साथ उपहास करने की इच्छा न करे ॥ ३ ॥ इसप्र-

कार आयु रूप गुण प्रभृति में सर्वथा अयोग्या नारी के साथ भी उपहास परित्याग करे ॥ ४ ॥ रजस्वला पत्नी से अलग रहे ॥ ५ ॥ परस्त्री के साथ भी उपहास आदि न करे ॥ ६ ॥

नापरया द्वारा प्रपन्नमन्नं भुञ्जीत ।७। न द्विःपक्वम् ।८। न पर्युषितम् ।९। अन्यत्र शाकमांसयवपिष्टविकारेभ्यः ॥१०॥

'अपरया' गुप्तया 'द्वारा' 'प्रपन्नम्' प्राप्तम् 'अन्नम्' 'न भुञ्जीत' ।७। 'द्विःपक्वम्' पक्वं पुनःपक्वम् अन्नं 'न' भुञ्जीतेत्येव । ८ । 'पर्युषितम्' अन्नम् 'न' भुञ्जीत । ९ । तत्रास्ति विशेषः— शाकमांसयवानां पिष्टविकाराभ्याम् अन्यत्र पूर्वोक्तो निषेधो ज्ञेयः । तथाच शाकादिविकृतपिष्टकमिष्टान्नादौ पर्युषितत्वं न दोषायेति ॥ १० ॥

भा०:—अन्य किसी गुप्त रीति से प्राप्त अन्न भोजन न करे ॥ ७ ॥ दोवार का पका अन्न (उसना चावल आदि) भोजन न करे ॥ ८ ॥ वासी भात भी न खावे ॥ ९ ॥ कन्द, मूल फलादि द्वारा तैयार किया हुआ मांस की नाईं यव आदि अन्न से समुत्पन्न जलेवी आदि या अन्य किसी प्रकार का खाद्य मिष्टान्नादि वासी होने पर भी (कोई हानि नहीं) खावे ॥ १० ॥

न वर्षति धावेत् । ११ । नोपानहौ स्वयंहरेत् ।१२। नोदपान मवेक्षेत् ॥ १३ ॥

'वर्षति' पर्जन्ये 'न' धावेत् । ११ । 'उपानहौ' स्वस्यापि 'स्वयं' 'न आहरेत्' हस्तेनेति निर्माणप्रज्ञया वा ।१२। 'उदपानम्' कूपं 'न' 'अवेक्षेत्' तथावेक्षणे तत्र पतनसम्भवात् ॥ १३ ॥

भा०:—पानी वर्सते समय या वर्सने पर कीचड़ भरे मार्ग में दौड़ कर न चले ॥ ११ ॥ अपना जूता स्वयं हाथ में लेकर न चले और न स्वयं अपना जूता बनावे ॥१२॥ बहुत गहरे कूप आदि में एक टक से न देखे ॥ १३ ॥

न फलानि स्वयं प्रचिन्वीत । १४ नागन्धांस्रजं धारयेत् । १५ अन्यांहिरण्यस्रजः । १६ नामालोक्ताम् ॥ १७ ॥

'फलानि' आम्रपनसादीनि 'स्वयं 'न प्रचिन्वीत' वृक्षशाखादिभ्य इति यावत् । १४ 'अगन्धां' गन्धशून्यां 'स्रजं' मालां 'न धारयेत्' मस्तके इति यावत् ।१५ तत्राप्ययं विशेषः—'हिरण्यस्रजः' सुवर्णमालातः 'अन्यां' न धारयेत् स्वर्णमालाभरणन्तु धारयेदित्येव ।१६ गृहस्थाश्रमतः प्राक् अमालोक्तां माला व्यतिरिक्तां प्रालम्बादिकां 'न' धारयेत् ॥ १७ ॥

भा०—आम आदि कोई फल स्वयं पेड़ों से तोड़ कर न जमा करे ॥१४॥माथे पर बिना गन्धकी माला न धारण करे॥१५॥ किन्तु सोनेकी माला तो गन्ध रहित होने पर भी अवश्य धारण करे ॥ १६ ॥ माला शब्द से जिस माले का व्यवहार हो, उसी को धारण करे, प्रालम्बादिक (माला) को नहीं । अर्थात् गृहाश्रम के पहिले आश्रम सन्धि में प्रालम्ब आदि का व्यवहार न करे ॥१७॥

स्रगिति वाचयेत् । १८ भद्र मित्येतां वृथावाचं परिहरेत् । १९ भद्र मिति ब्रूयात् । २० तत्रैते त्रयः स्नातका भवन्ति ॥२१॥

स्रगलक्षणं शिरोवेष्टनिकां मालां तु धारयेदेव । १८ 'भद्रम्'—'इति' वृथा वाचं' अभद्रेऽपि भद्रोक्तिं 'परिहरेत्' न प्रयुञ्जीत । १९ 'भद्रम्'—इति' 'ब्रूयात्' सत्य मेव तद् भद्रं चेत् । २० अथ स्नातक विभागान् दर्शयति,—'तत्र' समावर्त्तितेषु 'स्नातकाः' कृतब्रह्मचर्यव्रतान्तस्नानाः 'त्रयः' त्रिविधाः 'भवन्ति' ॥ २१ ॥ तत्त्रिविधत्वमेव स्फुटयति ;—

भा०:—जिस का नाम स्रक् है, उसी को धारण करे ॥ १८ ॥ जो वस्तु अच्छी न हो, उसे अच्छी है ऐसा न कहे ॥१९॥ इसप्रकार, जो वस्तुतः अच्छी हो उसे अच्छी कहे ॥२०॥ समावर्त्तित (जिन का ब्रह्मचर्य्य समाप्त हो गया है) द्विज गण तीन प्रकार के होते—जिन्हें स्नातक कहते हैं ॥ २१ ॥

विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥२२॥

'विद्यास्नातकः' विद्याग्रहणनियमपालनमन्तरेणापि वेदविद्यां समग्रामवाप्यैव अपूर्णेऽपि काले स्नातः, 'व्रतस्नातकः' विद्याग्रहणनियमान् प्रतिपाल्यापि समग्रवेदविद्याग्रहणे न कृतकृत्योऽपि च पूर्णे काले स्नातः, 'विद्याव्रतस्नातकः' विद्यां समग्रां प्रगृह्य, व्रतं च यथावत् प्रतिपाल्य, यथाकालं स्नातः, 'इति' इमे त्रयः स्नातकाः ॥ २२ ॥

भा०:—प्रथम, विद्यास्नातक अर्थात् जितने नियमों का ब्रह्मचर्य्य में प्रतिपालन करना पड़ता, उतने नियमों का पालन न कर सकने पर, एवं जितने काल पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य कर्त्तव्य हैं, उतने काल तक न करके वेदाध्ययन समाप्त कर ब्रह्मचर्य्य समाप्ति सूचक स्नानकारी होता है। द्वितीय, व्रतस्नातक अर्थात् जितने समय तक ब्रह्मचर्य कर्त्तव्य, एवं जिस २ नियमसे कर्त्तव्य हो, उस २ प्रकार वेदाध्ययन समाप्त न करके भी 'व्रतस्नातक' होता है। तृतीय—'विद्याव्रतस्नातक' अर्थात् नियम पूर्वक यथोक्त कालपर्यन्त ब्रह्मचर्य करके सम्पूर्ण वेदाध्यायी होता है॥२२॥

तेषा मुत्तमः श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ । २३ । नार्द्रं परिदधीत । २४ । नैकं परिदधीत ।२५। न मनुष्यस्य स्तुतिं प्रयुञ्जीत ।२६। नादृष्टं दृष्टतोब्रुवीत ॥ २७ ॥

'तेषां' त्रिविधानां स्नातकानां मध्ये 'उत्तमः' तृतीयः विद्याव्रतस्नातक एव 'श्रेष्ठः' 'पूर्वौ' विद्यास्नातक व्रतस्नातकौ उभावेव 'तुल्यौ' समानमर्यादौ ॥ २३ ॥ पुनरपि स्नातकव्रतान्याह,—'आर्द्रं' वासः 'न' 'परिदधीत' । २४ ॥ 'एकं' वासः 'न' 'परिदधीत' एवञ्च अन्तर्वासः कौपीनखण्डं व्यवहरेदेव। २५ मनुष्यस्य स्तुतिं' न प्रयुञ्जीत चाटुवादं परित्यजेदिति । २६ 'अदृष्टं' किमपि कर्म, 'दृष्टतः' परदृष्टहेतुना स्वयं दृष्टमिव सूचयन् मन्वानो वा 'ब्रुवीत' ॥ २७ ॥

भा०—उक्त तीन प्रकार के स्नातकों में से तृतीय अर्थात् 'विद्याव्रतस्नातक' ही सब से अच्छा है, अन्य दो समान हैं ॥ २३ ॥ भींगा कपड़ा न पहने ॥२४॥ केवल एक ही वस्त्र न पहने, किन्तु भीतर उस के काछा, या कौपीन पहन कर ऊपर से धोती पहने ॥२५॥ मनुष्य की झूठी प्रशंसा न करे ॥ २६ ॥ जिसे अपनी आंखों से न देखे, उसे अपनी आंख से देखा है ऐसा न कहे ॥२७॥

नाश्रुतंश्रुततः । २८ स्वाध्यायविरोधिनोऽर्थानुत्सृजेत् । २९ तैलपात्रमिवात्मानं दिधारयिषेत् ॥ ३० ॥

'अश्रुतं' किमपि वाक्यं, 'श्रुततः' परश्रुतहेतुना स्वयं श्रुतमिव सूचयन् मन्वानो वा न ब्रुवीत । २८ 'स्वाध्यायविरोधिनः अर्थान्' स्वाध्यायः पञ्चधा उपपद्यते, स्वीकारात् विचारात् अभ्यसनात् जपात् छात्रेभ्योदानाच्च तदेषामन्यतमस्यापि विरोधिनो येऽर्था विषयाः तान् 'उत्सृजेत्' परित्यजेत् । २९ 'तैलपात्रं तैलैः पूर्णं पात्रं पर्णद्रोणपर्णादिकम् 'इव' 'आत्मानं' जीवात्मानं 'दिधारयिषेत्' देहे धारयितुमिच्छेत् । तैलपूर्णपात्रहस्तः कश्चिद् यथा पथि अतीव सावधानो गच्छति, अन्यथा वेगगमनेन वक्रगमनेन मनसोऽप्रणिधानेन च पात्रस्थतैलानामुच्छलनं सपात्राणां भूमौ पतनं ततश्च पुनरापादनासम्भवः, भूम्याः कथञ्चिदापादितेष्वपि तेषु मालिन्यादिकं परिमाणाल्पत्वञ्चानिवार्यं भवेत् । तथैव देहस्थमिममात्मान मतियत्नेनैव देहे रक्षितुमिच्छेत् चिरं देहे रक्षणं स्वसम्भवमेव, परमिच्छेत् तादृशेच्छया च किञ्चित्कालमपि रक्षितुं समर्थो भवेत् किञ्च यावत् कालं रक्षितः स्यात् तावदपेक्षाकृतोऽक्लेशोऽपि स्यात् , अन्यथा यावत् स्थेयं तावत्कालमपि न तिष्ठेत् किञ्चिस्थतोऽप्यपेक्षाकृतः क्लेशीभवेन्नामेति३०

भा०–जिसे अपने कानों से न सुना हो, उसे अपने कानसे सुना है ऐसा न कहे ॥ २८ ॥ पांच प्रकार के (स्वीकार, विचार, अभ्यास, जप, और छात्रों को देना) स्वाध्यायों में से किसी में बाधा न हो, ऐसा वर्ते । अर्थात् ऐसा कार्य न करे जिससे स्वाध्याय को बाधा पहुंचे ॥ २९ ॥ मार्ग में चलता पुरुष जिस प्रकार तेल से भरा, तेल का वर्तन अपने हाथ में रक्ख कर, उस के गिरने के डरसे बहुत सावधानी से चलता है; नहींतो अनवधानता से शीघ्रता, या टेढी चाल चलने से, तेल पृथिवी पर गिरकर नष्टहो जावे, यदि भूमि पर से गिरा तेल उठा लेवे, तो भी उसकी मलीनता एवं न्यूनता अनिवार्य है। इसीप्रकार इस शरीर में आत्मा की भी सावधानी से रक्षा करे, नहीं तो अकाल ही में, यह शरीरच्युत या दुःखीहो जावेगा । यद्यपि यह, एक शरीर में चिरस्थायी और दुःखरहित नहीं रह सकता, तथापि यत्न करने पर अपेक्षाकृत स्थायी और अपेक्षा कृत सुखी हो सकता है) ॥ ३० ॥

न वृक्षमारोहेत् । न प्रतिसायं ग्रामान्तरं व्रजेत् । नैकः ।३१-३३

'वृक्षं' 'न आरोहेत्' । तदारोहणेन ततः पतनमनु मरणमङ्गहानि र्वा भवेत् । ३१ 'प्रतिसायं ग्रामान्तरं' 'न व्रजेत्' । तादृशव्रजनेन गुप्तप्रणयादिकं तथाच ततएव प्राणहानि रपि सम्भवति ।३२ 'एकः' एकाकी एव ग्रामान्तरं 'न' व्रजेत् तथाच ग्रामान्तरगतोविपन्नश्चेत् यः सहायो भवेत् अथवा यथास्थानं संवादमपि नयेदेवं कश्चनापरो द्वितीयः सहगोऽतीवावश्यकः ॥ ३३ ॥

भा०–पेड़ पर न चढ़े (क्योंकि इसमें गिर कर मर जावे, चोट लगने आदि की शङ्का है) ॥३१॥ प्रतिदिन सन्ध्या के पीछे दूसरे गांव में भ्रमणार्थ न जावे (इससे गुप्त प्रणय आदि दोष होने का डर है) ॥ ३२ ॥ अकेला दूसरे गांव में न जावे (एकाकी विपन्न होने पर, सहायकारी, या संवाद दाता का अभाव होता है । इस लिये ग्रामान्तर जाते समय एक उपयुक्त व्यक्ति को सतत सङ्ग रक्खे) ॥ ३३ ॥

न वृषलैः सह । ३४ न कासृत्या ग्रामं प्रविशेत् । ३५ न चाननुचरश्चरेत् । ३६ एतानि समावृत्तव्रतानि । ३७ यानि च शिष्टा विदध्युः ॥ ३८ ॥

'वृषलैः' दुर्नीतिकैः 'सह' 'न व्रजेत्' । तथाच 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'।३४ 'कासृत्या' कुपथेन 'ग्रामं न प्रविशेत्' अपितु प्रसिद्धेन पथा दूरतरेणापि प्रविशेत् तथाच निर्भयगमनं भवेत् । ३५ 'च' अपि 'अननुचरः' भृत्यशिष्यात्मीयान्यतमपरिचारकविहीनः 'न चरेत्' प्रवासं न गच्छेत् । अतएवोक्तं 'भृत्याभावे

भवति मरणम्' । ३६ 'एतानि' उक्तानि समावृत्तव्रतानि' समावृत्तानां स्नातकानां कर्माणीति ॥ ३७ ॥ 'च' अपि 'यानि' उक्तान्यानि 'शिष्टाः' गुर्वादयः विदध्युः तानि च कर्त्तव्यान्येवेति ॥ ३८ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठके पञ्चमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम्३,५

भा०–दुष्ट लोगों का संसर्ग न करे (जिस कारण संसर्ग ही से दोष गुण उत्पन्न होते हैं) ॥३४॥ प्रसिद्ध मार्ग रहने पर भी, जल्दी पहुंचने के विचार से प्रसिद्ध मार्ग को छोड़ कुपथ से न जावे ॥ ३५ ॥ एवं प्रवास (दूरदेश बाहर) जाते समय नौकर, छात्र, या किसी एक अपने अनुचर को अवश्य सङ्ग ले लेवे ॥ ३६ ॥ ये सब कर्म स्नातक के लिये कहे गये हैं ॥३७॥ और भी जो कुछ शिष्टगण स्नातकोंके हितार्थ नियम कहें, उन २ का प्रतिपालन अवश्य करे॥३८॥ गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के पञ्चमखण्ड का भाषानुवादपूराहुआ ॥३।५॥



गाः प्रकाल्यमाना अनुमन्त्रयतेमा मे विश्वतो वीर्य्य इति। १ प्रत्यागता इमा मधुमतीर्मह्यमिति ॥ २ ॥

"प्रकाल्यमानाः" चरणभूमौ गमनार्थं गृहान्निष्काश्यमानाः गाः, "इमा मे विश्वतो वीर्या भव इन्द्रश्च रक्षतम् । पूषथंस्त्वं पर्यावर्त्तयानष्टा आयन्तु नो गृहान्" ॥१॥ (म० ब्रा० १, ८, १)–'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' । १– । 'प्रत्यागताः' चरणभूमितो गृहागता स्ता गाः "इमा मधुमती र्मह्य मनष्टाः पयसा सह । गाव आज्यस्य मातर इहेमाः सन्तु भूयसीः" ॥ २ (म० ब्रा० १, ८, २) 'इति' अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रयेतेत्येव ॥ २ ॥

भा०–चारण भूमि (गौ चराने की जगह) में चराने के लिये गौ आदि को घर से बाहर ले जाते समय " इमामे विश्वतो वीर्यः" यह मन्त्र पढ़े ॥१॥ और जब गौ आदि चरकर घर आवें तो "इमा मधुमती मह्यम्" यह मन्त्र पढ़े ॥२॥

पुष्टिकामः प्रथमजातस्य वत्सस्य प्राङ्मातुः प्रलेहनाज्जिह्वया ललाटमुल्लिह्य निगिरेद् गवाथंश्लेष्मासीति॥३॥

'पुष्टिकामः' पुरुषः, 'प्रथमजातस्य वत्सस्य, मातुः प्रलेपनात् प्राक्' एव तस्य 'ललाटं' जिह्वया' स्वकीयया 'उल्लिह्य' आस्वाद्य लेहनेन मुखागतं श्लेष्माणं "गवाथं श्लेष्मासि गावो मयि श्लिष्यन्तु" ॥ ३ (म० ब्रा० १, ८, ३)–'इति' इमं मन्त्रं मनसा पठन्नेव निगिरेत्' गलाधः कुर्यात् । इत्येतत् पुष्टिकामस्य प्रथमं कार्य्यम् (एतेन वत्समातुः स्नेहतोऽपि समधिकः स्नेहः प्रतिपालकस्यावश्यकस्तथासत्येव यथाभिलषितपुष्टिर्भवतीति सूचितम्) ॥ ३ ॥

भा०—जोलोग, पुष्टिकी कामना करें, वे गौ के वत्स, को जन्म के साथ ही, जब-तक उसकी अपनी मा उसे चाटे,या न चाटे, पुरुष अपनीजिह्वा से, वत्सका ललाट चाटे (अर्थात् मा के स्नेह से भी पालक का स्नेह कुछ अधिक होना आवश्यक है)। इस प्रकार चाटते समय मुंह में आया हुआ लार को "गवां श्लेष्मासि" यह मन्त्र मन ही मन पढ़ कर निगल जावे ॥३॥

पुष्टिकाम एव संप्रजातासु निशायां गोष्ठेऽग्निमुपसमाधाय विलयनं जुहुयात् संग्रहण संगृहाणेति ॥ ४ ॥

'पुष्टिकाम एव' पुरुषः, 'निशायां' रात्रौ 'सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु; 'गोष्ठे' तत्रैव गोस्थाने, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय, सम्यक् प्रज्वाल्य, तत्र, "संग्रहण संगृहाण ये जाताः पशवो मम। पूषैषाᳬशर्म्म यच्छतु यथा जीवन्तो अप्ययात्" ॥ ४॥ (म० ब्रा० १, ८, ४)—'इति' एतेन मन्त्रेण 'विलयनं' अर्द्धमथितं दधि 'जुहुयात्' स्रुवेणेति। (इत्येतत् पुष्टिकामस्य द्वितीयं कार्यम्। एतेन, गवां प्रसवक्लेशरुजमपनीतं स्यात्) ॥ ४॥

भा०—जिन्हें पुष्टि की इच्छा हो, वे रात में गौ के बच्चा जनने पर, घरमें अच्छे प्रकार आग जला कर "संग्रहण संगृहाण" यह मन्त्र पढ़ते हुए "विलयन" (आधा महा हुआ दधि) होम करे ॥४॥

पुष्टिकाम एव संजातास्वौदुम्बरेणासिना वत्समिथुनयोर्लक्षणं करोति पुंᳬसएवाग्रेऽथ स्त्रिया भुवनमसिसाहस्त्रमिति५

'पुष्टिकामएव'पुरुषः,'सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु,'वत्समिथुनयोः' द्वयोर्द्वयोर्वत्सयोः 'औदुम्बरेण' उदुम्बरकाष्ठीयेन असिना, चिह्नकविशेषेण 'लक्षणं' चिह्नम् उभयोः समरूपमेव 'करोति' कुर्य्यात्। तत्र, 'पुंसः एव' चिह्नम् 'अग्रे' कर्त्तव्यम्, 'अथ' तदनन्तरं च 'स्त्रियाः'। अत्र चिन्हकरणे मन्त्रौ "भुवनमसि साहस्त्रमिन्द्राय त्वा सृमोऽददात् अक्षतमरिष्टमिलान्दम् ॥५॥ गो पोषणमसि गोपोषस्येशिषे गोपोषाय त्वा। सहस्त्र पोषणमसि सहस्त्रपोषस्येशिषे सहस्त्रपोषाय त्वा" ॥६॥ (म० ब्रा० १, ८, ५, ६)-'इति' इमौ ॥ ५ ॥

भा०:—जो लोग पुष्टि की इच्छा करें, वे, गूलर की लकड़ी की अनी लाल तरवार से नवोत्पन्न प्रतिवत्सके दोनों कानों को इसप्रकार चिन्ह कर देवें कि (यदि जोड़ा उत्पन्न होतो) प्रथम बाच्छे को, फिर बछिया को। दोनों काम में चिन्ह करते समय, "भुवमनसि साहस्त्रः" ये मन्त्र पढ़ें ॥ ५ ॥

कृत्वा चानुमन्त्रयेत लोहितेन स्वधितिनेति ॥ ६ ॥

'कृत्वा' अङ्कनं, 'च' ततः "लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृतम्। (यावतीनां) भूयसीनां च एषमो लक्षणमकारिषम्। (भूयसीनां) भूयसीनां च उत्तरामुत्तरार्थं समां क्रियासम्" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० १, ८, ७)–'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' ताम् वत्सानिति शेषः। अत्र च मन्त्रे 'लोहितेन'–इति पदलिङ्गात् स चौदुंबरोऽसिः लोहितः स्यादिति गम्यते, लोहितत्वञ्च तस्य ज्वलनेन सिन्दूरादिना वा भवितव्यम्। तथाच दाहने सिन्दूरादिरञ्जितेन वा वत्सयुग्माः चिन्हिताः स्युः किञ्चात्रैव 'कर्णयोः'–इति पददर्शनात् तेषां कर्णयोरेव चिन्हानि कर्त्तव्यानीति च गम्यते। (एतेन (चरणभूम्यादौ बहुस्वामिक वत्सानामेकत्र चरणेऽपि विभ्रमः सुपरिहार्यः, किञ्चैकविधचिन्हेन द्वयोर्द्वयोः कर्णावङ्किताविति एकेऽपहृते तदन्वेषणं सुकरं भवेदित्येतत् पुष्टिकामस्य तृतीयं कार्य्यम्) ॥ ६ ॥

भा०–उक्त प्रकार चिन्ह करने पर, "लोहितेन स्वधितिना" यह मन्त्र पढ़े (एक २ जोड़ा वत्स का एक २ प्रकार चिन्ह रहने से एक बछा भुलाने पर उसके मिलने का सुभीता होगा, जहां गौयें अधिक हों, वहां के लिये यह नियम जान पड़ता है) ॥ ६ ॥

तन्तीं प्रसार्य्यमाणां बद्धवत्साञ्चानुमन्त्रयेतेयं तन्त्री गवां मातेति ७

'प्रसार्यमाणां' शुष्कीभवनाय बद्धवत्साञ्च' गोदोहनादौ 'तन्त्रीं' वत्सबन्धनरज्जुं "इयं तन्त्री गवां माता सवत्सानां निवेशनी। सा नः पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तरार्थंसमाम्"। ८ ॥ ८ (म० ब्रा० १, ८, ८)–'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' ॥ ७ ॥

भा०–'इयं तन्त्री गवां माता' इस मन्त्र का पाठ कर वत्स को बान्धने की रस्सी पसार कर सुखावे ॥ ७ ॥

तत्रैतान्यहरहः कृत्यानि भवन्ति। ८ निष्कालनप्रवेशने तन्त्रीविहरणमिति। ९ गोयज्ञे पायसश्चरुः ॥ १० ॥

'तत्र' गोपोषणे 'एतानि' 'अहरहः कृत्यानि' प्रतिदिनंकर्त्तव्यानि 'भवन्ति' भवेयुः। ८ 'निष्कालन प्रवेशने' प्रथमद्वितीयसूत्रोक्ते 'तन्त्रीविहरणं' सप्तमसूत्रोक्तम् अपि 'इति' इमानि त्रीणि। ९ अथ पुष्टिकामेन गोयज्ञः कार्य्यः तत्र द्रव्यदेवते विधत्ते ;– "गोयज्ञेपायसः" पयसा सिद्धः 'चरुः' पक्तव्यः ॥ १० ॥

भा०—गौ पोषण (पालन) करने में प्रति दिन, ये नियम करना चाहिये ॥८॥ प्रथम, गौ आदिक को चारण भूमि (चरागाह) में चरने देना, २ तीय, चर कर आने पर उनको यत्न से ग्रहण करना और तृतीय, बच्चों की विशेष गौओं की सेवा करनी ॥९॥ गो—यज्ञ के निमित्त दूधमें का पका चरु आवश्यक है॥१०॥

अग्निं यजेत पूषणमिन्द्रमीश्वरम् । ११ ऋषभपूजा ।१२ गोयज्ञेनैवाश्वयज्ञो व्याख्यातः । १३ । यमवरुणौ देवतानामत्राधिकौ ॥ १४ ॥

'अग्निं' 'पूषणम्' 'इन्द्रम्' 'ईश्वरम्'—इमान् चतुरो देवान् 'यजेत' अर्चयेत् । ११ 'ऋषभस्य' वृषभस्य पूजा अपि कार्या । १२ ' गोयज्ञेन ' उक्तेनानेन 'एव' 'अश्वयज्ञः' व्याख्यातः विशेषेणोपदिष्टः। तथाच अश्वयज्ञेऽपि पायसश्चरुर्द्रव्यम्; अग्न्याद्याएव देवताः । ऋषभपूजास्थानेऽश्वपूजनम् । १३ 'अत्र' अश्वयज्ञे 'देवतानाम्' मध्ये 'यमवरुणौ' इमौ देवौ 'अधिकौ' पूज्याविति ॥ १४ ॥

भा०—और अग्नि, पूषा, इन्द्र, और ईश्वर, ये चार नाम वाले देव विशेष अर्चनीय हैं। (अर्थात् जिन मन्त्रों के ये देवता हैं उन मन्त्रों से) ॥ ११ ॥ ऋषभ पूजा भी गोयज्ञ का प्रधान अङ्ग है ॥१२॥ गोयज्ञ और अश्वयज्ञ दोनों ही एक प्रकार से होंगे (इस से अश्वयज्ञ में भी दुग्ध सिद्ध चरु आवश्यक है और अग्नि प्रभृति उक्त चार देवता भी विशेष अर्चनीय हैं) ॥१३॥

भा०:—गो—यज्ञ से, अश्व—यज्ञ में विशेषता यह है कि अश्व यज्ञ में 'यम' एवं 'वरुण' देवता की पूजा होती है ॥१४॥

गन्धैरभ्युक्षणं गवां गन्धैरभ्युक्षणं गवाम् । १५ ॥ ६ ॥

'गन्धैः' धूपादिभिः 'गवाम्' 'अभ्युक्षणं' प्रहर्षणं कार्यमिति शेषः। वीप्सायाञ्च द्विर्वचनम्, तेन प्रतिदिनमेव सायंप्रातः सायमेव वा गोगृहे अग्निं प्रज्वाल्य तत्र गुग्गुल्वादिगन्धद्रव्यक्षेपणेन च तद्गृहं धूपायितं कार्य्यम्। एतेन मशकादीनामुपद्रवो वारितः स्यात्, गृहदोषश्च विदूरितो भवेदिति ॥ १५ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके षष्ठखण्डस्य व्याख्यानंसमाप्तम्३,६

भा०:—गौ—शाला में प्रतिदिन सायं प्रातः काल, अन्ततः सायंकाल भी आग जला कर उस में धूना, गुगगुल प्रभृति डाल कर, घर को साफ रक्खे (जिस से मल मूत्र जनित दुर्गन्ध दूर हो) ॥१५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के छठेखण्ड का भाषानुवाद पूराहुआ ॥३।६॥

—:o:—

अथातः श्रवणाकर्म्म ।१ पौर्णमास्यां कृत्यम् ।२ पुरस्ताच्छालाया उपलिप्य शालाग्नेरग्निं प्रणयन्ति ॥ ३ ॥

'अथ' अधिकारार्थः । 'अतः' ऊर्ध्वं 'श्रवणाकर्म्म' अधिकृतं वेदितव्यम् ।१ तत्र श्रवणाकर्म्म 'पौर्णमास्यां' तिथौ 'कृत्यं करणीयं भवति आरब्धव्यमिति । श्रवणाकर्मेति महासंज्ञाकरणसामर्थ्यादर्थतः श्रवणानक्षत्रयुक्तायामेव पौर्णमास्यामिति । २ 'शालायाः' अग्न्यागारस्य 'पुरस्तात्' पुरोभागे 'उपलिप्य' गोमयेत्यादिना, 'शालाग्नेः अग्न्यागारस्थिताग्नितएव 'अग्निं' गृहीत्वा 'प्रणयन्ति' यथाविधिं प्रज्वालयन्ति प्रज्वालयेयुः गृहस्था अविशेषेणेति ॥ ३ ॥

भा०:—अब श्रवणा कर्म का आरम्भ जानो ॥ १ ॥ यह श्रावण कर्म, श्रावण मास की पूर्णिमा में पहिले किया जावे । अर्थात् श्राविणी पूर्णिमा से इस का आरम्भ करे ॥ २ ॥ जिस घर में नित्य अग्निहोत्र का अग्नि स्थापित हो, उसी घर के पुरो भाग में गौ के गोबर से लीप कर अग्निहोत्र से कुछ अग्नि लेकर पृथक् यथा विधि अग्नि प्रज्वलित करे । यह, साधारणतः सब ही गृहस्थ करे ।३।

अभितश्चत्वार्य्युपलिम्पन्ति । ४ प्रतिदिशम् साधिके प्रक्रमे । ५ ,६ । अग्नौ कपालमाधाय सकृत्संगृहीतं यवमुष्टिं भृज्जत्यनुपदहन् ॥ ७ ॥

'अभितः' तस्याभिनवस्याग्नेः, 'चत्वारि' स्थानानि 'उपलिम्पन्ति' गोमयेत्यादिनैव । ४ 'प्रतिदिशं' दिशं दिशं प्रति 'साधिके प्रक्रमे' अन्यून प्रक्रमपरिमित स्थाने तल्लिम्पनं कर्त्तव्यम् । 'त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः' । ५, ६ 'अग्नौ' तत्र 'कपालं' घटार्द्धप्रायं भाजनम् 'आधाय' स्थाप्य, तस्मिन्नेवोत्तमे भ्राष्ट्रे 'सकृत्सङ्गृहीतं एकदैव सङ्गृहीतं मुष्टिमितं यवानाम् 'अनुपदहन्' दग्धं यथा न भवेत् तथा कृत्वा 'भृज्जति' भर्जयेत् ॥ ७ ॥

भा०—उस नये स्थापित अग्नि की चारो ओर चार स्थान भी गोबर से लीपे ॥ ४ ॥ प्रत्येक दिशा में कम से कम तीन पग स्थान लीपे ॥ ५, ६ ॥ उस नये अग्नि पर एक खपरी (घड़े का अद्धा) रक्ख कर, उस में एक मुट्ठी यव एकवार डाल कर ऐसा भूने जिस में यव भस्म न हो जावे ॥ ७ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृंहयित्वाऽवहन्त्युद्वेचम् ॥ ८ ॥

'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' भागे 'उलूखलं' 'दृंहयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र उद्वेचं, तुषमुक्तं यथा स्यात्तथा कृत्वा 'अवहन्ति' मुष्टिमितान् तान् भृष्टयवान्, मुसलेनेति । ८ ।

भा०–उस अग्नि के पीछे दृढ़ता से ओखरी (उलूखल) रक्ख, उस में उक्त भूने यव आदि को साफ करने के लिये रक्ख कर मूसल से छांट देवे ॥८॥

सुकृतान्सक्तून् कृत्वा चमस ओप्य शूर्पेणापिधाय निदधाति । ९ दक्षिणपश्चिमे अन्तरेण सञ्चरः ॥ १० ॥

एवञ्च 'सुकृतान्' निस्तुषीकृतान् 'सक्तून्' भृष्टयवचूर्णान् 'कृत्वा' 'चमसे' पानपात्रविशेषे 'ओप्य' संस्थाप्य 'शूर्पेण' अपिधाय च 'निदधाति' यथास्थानं रक्षति ॥ ९ ॥ क्व दिशि रक्षेत् ? इत्याशङ्कामपनोदितुमाह;–'दक्षिणपश्चिमे' द्वे दिशौ 'अन्तरेण' मध्ये 'सञ्चरः' गमनागमनमार्गः । तदेतत्सञ्चरातिरिक्तप्रदेशेषु यत्र कुत्र वा रक्षेदित्यभिप्रायः ॥ १० ॥

भा०–इस प्रकार भूने यव आदि की भूसी निकाल और चूर्ण कर, सुन्दर सत्तू प्रस्तुत होने पर, उसे चमसे में (पानीय पात्र में) रक्ख कर, सूप से ढांक कर यत्न से रक्खे ॥९॥ दक्षिण और पश्चिम दिशा में अर्थात् नैर्ऋत्यकोण में, जाने आने का रास्ता छोड़ कर, जहां चाहे, उक्त सत्तू को रक्खे ॥ १० ॥

अस्तमिते चमसदर्व्यावादाय शूर्पञ्चातिप्रणीतस्यार्द्धं व्रजति । ११ । शूर्पे सक्तूनावपति चमसे चोदकमादत्ते ॥१२॥

'अस्तमिते' सवितरि 'चमस–दर्व्यौ शूर्पं च' 'आदाय' गृहीत्वा 'अतिप्रणीतस्य' अतिरिक्तरूपेण स्थापितस्य, नित्याग्नितः पृथक् कृत्वा द्वितीयतया स्थापितस्य, अभिनवस्य, तस्यैवाग्नेः 'अर्द्धं' समीपं 'व्रजति' होमार्थमिति । । ११ । चमसे रक्षितान् तान् 'सक्तून्' 'शूर्पे' 'आवपति' 'च' अपि शून्ये तत्र चमसे 'उदकम्' 'आदत्ते' गृह्णीयात् । १२ ।

भा०.–सूर्यास्त होने पर, चमस दर्वी (चलौना) सूप लेकर उस के अतिरिक्त (अर्थात् नित्य स्थायी अग्नि से विभिन्न) नये अग्नि के निकट होम करने के अभिप्राय से जावे ॥ ११ ॥ पहिले चमसे में रक्खा सत्तू आदि सूप में उफल कर, उस चमसे में जल ग्रहण करे ॥ १२॥

सकृत संगृहीतान् दर्व्या सक्तून् कृत्वा पूर्व उपलिप्त उदकं निनीय बलिं निर्वपति, यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिरिति । १३ । उपनिनयत्यपाꣳ शेषं यथा बलिं न प्रवक्ष्यतीति ॥ १४ ॥

ततः 'दर्व्या' तया 'सक्तून्' 'सकृत' एकवारं 'संगृहीतान् कृत्वा' गृहीत्वा,

किञ्च 'पूर्वे' पूर्वस्यां दिशि 'उपलिप्ते' गोमयादिलिप्तस्थाने 'उदकं' चमसाद् गृहीतं 'निनीय' निषिच्य, तदुपरि "यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥१॥ (म०ब्रा०२,१,१)-'इति' अनेन मन्त्रेण 'बलिं' भागं 'निर्वपति' संस्थापयति ॥१३॥ 'अपां शेषं' तच्चमसपात्रस्थमवशिष्टं जलं 'उपनिनयति' उपनिनयेत् स्था-पितबलेरुपरि किञ्चित् क्षिपेत्। तथा कृत्वा क्षिपेत् 'यथा' च 'बलिं' तं बलिं 'न प्रवक्ष्यति' न प्रवहेत् ॥ १४ ॥

भा०:-अनन्तर उस दर्वी से एक ही बार में पूरा सत्तू उठाले और पूर्व दिशा में गोबर से लीपे हुए स्थान में उस चमस पात्र में रक्खा जल सींचकर उस के ऊपर यथा क्रम से "यः प्राच्यां" इस मन्त्र से बलिभाग रक्खे ॥ १३ ॥ उस चमस पात्र के बचे जल को उस बलि पर छींटे। इस जल को इस प्रकार छींटे जिस में ये बलि आदि वह न जावे ॥ १४ ॥

सव्यं बाहुमन्वावृत्त्य चमसदर्व्यावभ्युक्ष्य प्रताप्यैवं दक्षिणैवं प्रतीच्येवमुदीची यथालिङ्गमव्यावर्त्तमानः। शूर्पेण शेषमग्नावोप्यानतिप्रणीतस्यार्द्धं व्रजति। १५, १६।

ततश्च 'अव्यावर्त्तमानः, तत्रैकत्रैवस्थितो 'सव्यं बाहुम्' 'अन्वावृत्य' वाम-भागावर्त्तनक्रमेण 'एवं' यथोक्तेन सकृत् सङ्गृहीतादिप्रकारेण 'दक्षिणा' दक्षि-णस्यां दिशि देया बलिः 'यथालिङ्गं' मन्त्रलिङ्गमनतिक्रम्य मन्त्रलिङ्गानुसारत-एव मन्त्रं (यो दक्षिणस्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः॥२॥ यः प्रतीच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥ ३ ॥ यः उदीच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥४॥ मं०ब्रा०२,१,२-४) पठित्वा हर्त्तव्येति । 'एवं प्रतीची' बलिः हर्त्तव्या। 'एवम् उ-दीची' बलिः च हर्त्तव्या। ततश्च 'चमसदर्व्यौ' 'अभ्युक्ष्य' जलधौते प्रकृत्य 'प्रताप्य' तस्मिन्नेवाग्नौ, 'शेषं' अवशिष्टसक्तुभागम् 'अग्नौ' तस्मिन्नेव 'ओप्य' प्रक्षिप्य 'अनतिप्रणीतस्य' चिरस्थायिनएव तस्य, यतो गृहीत्वा एषोऽतिप्रणीतः तस्य 'अर्द्धं' समीपं 'व्रजति' व्रजेत् ॥ १५, १६ ॥

भा०:-उसी एक स्थान में रहते हुए थोड़ा बाईं ओर हटकर, इसी प्रकार दक्षिण ओर एक बलि पश्चिम ओर एक और उत्तर ओर भी एक बलि, रक्खे और उस २ बलि, के देते समय 'मन्त्र ब्राह्मणोक्त अपर तीन मन्त्र अर्थानुसार यथा यथ मन्त्रों का व्यवहार करे। पीछे चारो ओर चार बलि प्रदान करे और उस के ऊपर बचा जल छिड़के। पीछे खाली चमस और दर्वी जल में धोकर उसी अग्नि के ऊपर सुखाकर और अवशिष्ट सत्तू आदि उसी अग्नि

में डालकर जिस अग्नि से कुछ आग लेकर यह अग्नि प्रस्तुत हुआ है, उसी चिरस्थायी अग्नि के निकट आवे ॥ १५-१६ ॥

पश्चादग्ने भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं जपति । १७ । प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ १८ ॥

'अग्नेः' चिरस्थापितस्य अनतिप्रणीतस्य तस्य 'पश्चात्' भूमौ 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "नमः पृथिव्यै दंष्ट्राय विश्वभृन्मा ते अन्ते रिषाम ॥ सꣳहतं माविवधी विहतं मा भिसंवधीः"॥५॥ (म० ब्रा० २,१,३) 'इति एतं मन्त्रं जपति'।१७। ततः'प्रदोषे' रात्रिप्रथमयामे 'पायसः चरुः' पक्तव्यः।१८

भा०:-उस अनति प्रणीत चिरस्थापित अग्नि के पृष्ठ भाग में दोनों हाथ नीचे कर "नमः पृथिव्यै" इस मन्त्र का जप करे ॥ १७ ॥ उस के पीछे रात्रि के पहिले अध पहरे में पायस चरु पकावे ॥ १८ ॥

तस्य जुहुयात्; श्रवणाय विष्णवेऽग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति ॥ १९ ॥

'तस्य' चरोः एकैकं भागं गृहीत्वा 'श्रवणाय स्वाहा' 'इति' इत्येवं पञ्चभिर्मन्त्रैः 'जुहुयात्' पञ्चहोमान् कुर्यादिति ॥ १९ ॥

भा०:-उस चरु में से एक २ भाग लेकर 'श्रवणाय स्वाहा' प्रभृति पांच मन्त्रों से पांच आहुति देवे ॥ १९ ॥

स्थालीपाकावृताऽन्यत् । २० । उत्तरतोऽग्नेर्दर्भस्तम्बꣳ समूलं प्रतिष्ठाप्य सोमोराजेत्येतं मन्त्रं जपति याꣳ सन्धाꣳ समधत्तेतिच ॥२१॥

'अन्यत्' कर्मशेषं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या कर्त्तव्येति शेषः।२० 'अग्नेः' तस्यैव 'उत्तरतः' 'समूलं दर्भस्तम्बं' 'प्रतिष्ठाप्य' "सोमो राजा सोमस्तम्बो राजा सोमो स्माकꣳ राजा सोमस्य वयꣳस्मः ॥ अहिजम्भन मसि सौमस्त म्बꣳ सौमस्तम्ब महिजम्भन मसि" ॥६॥ (म० ब्रा० २,१,४) 'इति' 'एतं' 'मन्त्रं' 'च' अपि "याꣳ सन्धाꣳ समधत्त यूयꣳ सप्तऋषिभिः सह। ताꣳ सर्पामात्यक्रामिष्ट नमो वो अस्तु मानो हिꣳसिष्ट" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २,१,५,) 'इति' मन्त्रं 'जपति' ॥ २१ ॥

भाः-अपर शेष कर्म्म सब स्थाली, पाकयज्ञ जिस प्रकार सिद्ध करना होता उसी प्रणालि से करे ॥२०॥ उस अग्नि के उत्तर भाग में मूल के साथ कुशपुञ्ज स्थापन कर 'सोमो राजा' यह मन्त्र और 'याꣳ सन्धाꣳ' मन्त्र पढ़े ॥२१॥

श्वस्ततोऽक्षतसक्तून् कारयित्वा नवे पात्रेऽपिधाय निदधाति। अहरहस्तूष्णीं बलीन् हरेत् सायं प्राग्घोमादाग्रहायण्याः।२२,२३

'ततः' तदनन्तरं 'श्वः' परदिने 'अक्षतसक्तून्' यवसक्तून् 'कारयित्वा' पुत्र-पुरोहितादिना 'नवे पात्रे' 'अपिधाय' आच्छाद्य 'निदधाति' स्थापयति। तैरेव सक्तुभिः 'अहरहः' प्रतिदिनं 'सायं होमात्' सायङ्कालीनहोमतः पुरस्तादेव 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव 'बलीन् हरेत्'। 'आ आग्रहायण्याः' अग्रहायणमासी-यपौर्णमासीं यावत् पौर्णमासीतः प्रागदिनपर्यन्तमिति। समाप्तं श्रवणाकर्म।२२,२३

इतिसामवेदीयगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेसप्तमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्३,७

भा०:-उस के दूसरे दिन अपने पुत्र, या पुरोहित आदि द्वारा यव का सत्तू प्रस्तुत कराकर नये पात्र में ढाक कर रक्खे और इसी सत्तू से प्रतिदिन सायंहोम के पहिले पूर्ववत् बलिभाग यथा स्थान में प्रदान करे। अग्रहण महीने की पूर्णिमा के पूर्वदिन तक इसी प्रकार करे॥ २२, २३॥ *

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ॥३,७॥

आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातके पायसश्चरूरौद्रः॥१॥

'आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां' आश्विनपूर्णिमायां 'पृषातके' आज्यमिश्रिते पयसि सम्पादिते (इति भावतोलब्धः) 'रौद्रः, रुद्रदेवताकः 'पायसः चरुः' पक्तव्यः इति शेषः॥१॥

भा०:-आश्विन मास की पूर्णिमा को, पृषातक अर्थात् घृत मिश्रित दुग्ध सम्पादन पूर्वक रुद्र देवता की तुष्टि के लिये पायस चरु पाक करे॥ १॥ *

तस्य जुहुयादा नो मित्रावरुणेति प्रथमां मानस्तोक इति द्वितीयाम्॥ २॥

'तस्य' चरोः एकैकमंशं गृहीत्वा 'आनोमित्रावरुणा' (छ० आ० ३,१,३,७) 'इति' 'प्रथमाम्' आहुतिं किञ्च "मानस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामिनो बधी र्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे"॥८॥ (म० ब्रा० २,१,८) 'इति' 'द्वितीयाम्' 'आहुतिं' 'जुहुयात्'॥२॥

भा०:-उक्त चरु का एक २ भाग लेकर "आनो मित्रा वरुणा" (छ०आ०४, १,३,७) मन्त्र से प्रथम और "मान स्तोके तनये" मन्त्र से दूसरी आहुति देवे॥२॥

* आज इसी "श्रवणाकर्म" के बदले सावन की पूर्णिमा को सलोनो 'राखी', वा 'रक्षाबन्धन', ब्राह्मण लोग अपने २ यजमानों को "येन बद्धो बलो राजा दानवेन्द्रो महाबलस्तेन त्वा प्रतिबध्नामि रक्षे माचल माचल", इस श्लोक को पढ़ (राखी रङ्गीन धागा) बान्ध कर दक्षिणा पाते हैं॥

* इसी के बदले "कोजागरी कृत्य" अर्थात् कोजागर पौर्णमासी को लक्ष्मी पूजा हुआ करती है॥

गोनामभिश्च पृथक् काम्यासीत्येतत्प्रभृतिभिः ३ । स्थालीपाकावृताऽन्यत् ॥ ४ ॥

'च' अपि 'काम्यासि इत्येतत्प्रभृतिभिः' यजुर्वेदप्रसिद्धैः (य० वे० सं० ८,४३) 'गोनामभिः' एकादशभिः 'पृथक्' नामशः एकादशाहुती जुहुयात्तस्यैव चरोरंशं गृहीत्वेति ॥ ३ ॥ 'अन्यत' सर्वं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या एव कर्त्तव्यमिति ॥ ४ ॥

भा०:–'काम्यासि' प्रभृति यजुर्वेद के प्रसिद्ध ग्यारह (य० वे० सं० ८, ४३) गौ के नामों का उच्चारण करे, इस चरु के भाग को लेकर भिन्न २ * ग्यारह आहुति देवे ॥ ३ ॥ और अन्यान्य सब कार्य स्थालीपाक की नाईं करे ॥ ४ ॥

पृषातकं प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीय ब्राह्मणानवेक्षयित्वा स्वयमवेक्षेत;तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतमिति ॥ ५ ॥

ततः 'अग्निं प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा पृषातकम्' आज्य मिश्रितं पयः 'पर्याणीय' स्वसमीपं गृहीत्वा तच्च 'ब्राह्मणान्' तत्रागतान् 'अवेक्षयित्वा 'दर्शयित्वा 'तच्चक्षुर्देवहितम्'–'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'स्वयम् अवेक्षेत ॥ ५ ॥

भा०:–उस के अनन्तर अग्नि की प्रदक्षिणा कराकर उस पृषातक को अपने निकटस्थ लेकर स्थानीय ब्राह्मणों को देखावे एवं 'तच्चक्षुर्देवहितं, इत्यादि मन्त्र पढ़ २ कर उस में अपना मुख देखे ॥ ५ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा जातुषान्मणीन् सर्वौषधिमिश्रानाबध्नीरन् स्वस्त्ययनार्थम् ॥ ६ ॥

'ब्राह्मणान्' निमन्त्रितान् 'भोजयित्वा' भोजनदानेन तर्पयित्वा ततः 'स्वयं भुक्त्वा' 'सर्वौषधिमिश्रान्' व्रीहिशालिमुद्गगोधूम-सर्षप-तिल-यव-मिश्रपोट्टलिसहितान् 'जातुषान्' जातुषनामकान् लाक्षाकृतान् 'मणीन्' 'स्वस्त्ययनार्थं' कल्याणाय 'अबध्नीरन्' स्वबाहुादाविति ॥ ६ ॥

भा०:–इस प्रकार कर्म्म की समाप्ति में, निमन्त्रित ब्राह्मणादिकों को भोजन करा कर, आप भी भोजन करे और १ व्रीहि, २ धान्य, ३ मूंग, ४ गोहूम, ५ सर्षप, ६ तिल, ७ यव, इन सात शस्य (अनाज) की पुटली बना इस के

* इडा, रन्ता, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योता, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुति, अघ्न्या, ये ११ यजुर्वेदोक्त गौ के नाम हैं।

साथ * जातुष नामक कोई एक मणि के साथ बाहु पर, या दूसरे किसी कमर से ऊपर के ** अङ्गों में बान्धे। इस से कल्याण की वृद्धि होती है॥ ६॥

सायं गाः पृषातकं प्राशयित्वा सहवत्सा वासयेत स्वस्ति हासां भवति। ७, ८ नवयज्ञे पायसश्चरुरैन्द्राग्नः॥९॥

'सायं' समुपस्थिते 'गाः' 'पृषातकं' तत् 'प्राशयित्वा' पाययित्वा 'सहवत्साः' वत्सैः सहिताः ताः 'वासयेत' तां रात्रिमिति। एतेन कर्म्मणा 'आसां' गवां 'स्वस्ति' सुखं 'भवति'। ७, ८ 'नवयज्ञे' नूतनशस्यनिमित्तोत्साहादिप्रकाशनाय परमदेवाद्यर्चनं कर्त्तव्यं भवति, तत्र। 'पायसः पयसा दुग्धेन सम्पादितः 'चरुः' पक्तव्यः। स च चरुः 'ऐन्द्राग्नः' इन्द्राग्निदेवताको भवेदिति नवयज्ञद्रव्यदेवतानिर्देशः॥ ९॥

भा०:—सायंकाल में, जब गौयें चर कर बाहर से वापस आवें, उन को वह पृषातक पिलावें और रात्रि में बच्चों को अलग २ न बान्धकर, अपनी २ मा के निकट ही रक्खे। इस से गौ आदिक प्रसन्न रहेंगी॥ ७, ८॥ नूतन शस्य निमित्तक उत्साह आदि प्रकाशनार्थ परम देवतार्चन यज्ञ करना होता है। (नवान्नेष्टि) इस में इन्द्राग्नी कहकर प्रसिद्ध दोनों देवता के नाम से आहुति दियी जावेगी और वह उसी नये शस्य के पायस चरु से सम्पन्न होगी९

तस्य मुख्याᳬं हविराहुतिᳬं हुत्वा चतसृभिराज्याहुतिभि रभिजुहोति शतायुधायेत्येतत्प्रभृतिभिः। १० स्थालीपाकावृताऽन्यत्॥ ११॥

'तस्य' नवयज्ञस्य 'मुख्याम् आहुतिं' इन्द्राग्निदेवताकां 'हुत्वा' ततः परं "शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेभिमातिषाहे। शतं यो नः शरदो अजीजादिन्द्रो नेषदतिदुरितानि विश्वा॥ ९॥ ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति। तेषां यो अज्यानि मजीजिमावहास्तस्मै नो देवाः परिदत्तेह सर्वे॥१०॥ ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुवितन्नो अस्तु।

---

* आज इसी के बदले ब्राह्मण गण 'जई, (जयन्ती) बान्धा करते हैं। यद्यपि ये लोग उक्त सात ७ अनाज से रक्षा बन्धन नहीं करते, किन्तु आश्विन मास के शुक्लपक्ष की नवमी की रात्रि में काली के पूजार्थ जो कलश रक्खा जाता, उस वेदी में जो यव बोया रहता है, उस को जन्मने पर दशमी के दिन ब्राह्मण लोग कलशे में से उखाड़ कर अपने २ यजमानों को श्लोक—(जयन्ती मङ्गला काली, भद्रकाली कपालिनी दुर्गे क्षमा क्षमा धात्री, भद्रकाली नमोस्तु ते) पढ़ कर उन की शिखा में जयन्ती बान्धकर दक्षिणा पाते हैं॥

** जिस का रंग माणिक्य की नाईं, लाह सदृश होता है उसी को जतु कहते। द्रुमामय भी इसी का नामान्तर है। जतु खण्ड को जातुष कहते॥

तेषां मृतूनाᳫंशत शारदानां निवात एषा मभये स्याम ॥ ११ ॥ इद्वत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः । तेषां वयᳫं सुमतौ यज्ञियानां ज्योग् जीता अहताः स्याम" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, १, ९-१२)—'इत्येतत्प्रभृतिभिः' 'चतसृभिः' मन्त्रैः 'आज्याहुतिभिः' 'अभिजुहोति' ॥ १० ॥ 'अन्यत्' अवशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकयज्ञरीत्या एव भवेनाम ॥११॥

भा०:—उस नूतन यज्ञ की मुख्य यह ऐन्द्राग्न आहुति देने पर "शतायुधाय" इत्यादि चार मन्त्रों से आज्याहुति द्वारा और भी चार होम करे ॥ १० ॥ अवशिष्ट कार्य्य सब स्थाली पाक यज्ञ के विधि अनुसार करे ॥११॥

हविरुच्छिष्टशेषं प्राशयेद् यावन्त उपेताः स्युः ॥ १२ ॥

' उच्छिष्टशेषम् ' उत्सर्गीकृतस्य हविषः शेषं ' हविः ' 'यावन्तः' दर्शकाः परिजना निमन्त्रिताश्च 'उपेताः' तत्रागताः 'स्युः' तान् सर्वानेवाविशेषेण 'प्राशयेत्' ॥ १२ ॥

भा०:—होम में की बची हुई शेष हवि, यज्ञ दर्शनार्थ आये परिजन, निमन्त्रण से आये हुए लोगों को यथा भाग खवावें ॥ १२ ॥

सकृदपामुपस्तीर्य्य द्विश्चरोरवद्यति।१३ त्रिर्भृगूणाम्। १४

'चरोः' उपरि ' अपां ' भागं 'सकृत्' एकवारम् ' उपस्तीर्य्य ' प्रथमसिञ्चनं प्रकृत्य 'द्विः' द्विवारम् 'अवद्यति' तं चरुं मेक्षणेनेति ॥१३॥ 'भृगूणां' भृगुगोत्रोत्पन्नानां 'त्रिः' त्रिवारमवदानं कर्त्तव्यमिति विशेषः ॥१४॥

भा०:—होम से बचे हुए चरु के ऊपर एक वार जल छिड़क कर मेक्षण द्वारा, दो वार खण्ड २ करे अर्थात् उस चरु को तीन भाग करे ॥ १३ ॥ भृगुगोत्र वाले उस चरु को ४ भाग में बांटे, यही इसमें विशेषता है ॥ १४ ॥

अपाञ्चैवोपरिष्टात्। १५ असᳫंस्वादंनिगिरेद्भद्रान्नः श्रेय इति। १६ एवं त्रिः ॥ १७ ॥

'च' अपि 'उपरिष्टात्' तस्यैवावदातस्य चरोः 'अपां' प्रक्षेपः कर्त्तव्यः ॥१५॥ एवंकृत्वा ततः कियन्मात्रं तच्चरुं "भद्रान्नः श्रेयः समनैष्टदेवास्त्वया वसेन समशीमहि त्वा। सनो मयोभूः पितेवाविशस्व शं तोकाय तन्वे स्योनः (स्वाहा)" ॥१३ ॥ (म० ब्रा० २, १, १३)'—'इति ' इमं मन्त्रं पठित्वा 'असंस्वादं' तच्चरोः आस्वादं सम्यक् गृहीतं न भवति यथा तथाकृत्यैव 'निगिरेत्' दन्तैश्चर्वणमकृत्वैव गलाधः कुर्यादिति ॥१६ ॥ 'एवं' मन्त्रपाठपूर्वकमसंस्वादञ्च 'त्रिः' त्रिवारम् निगरणं कर्त्तव्यम् ॥१७॥

भा०:—उसी प्रकार कई भागों में बटे हुए चरु पर भी एक वार जल छिड़के ॥ १५ ॥ तत्पश्चात् उस चरु में से कुछ लेकर "भद्रान्नः श्रेयः" यह मन्त्र पढ़कर स्वाद न लेकर निगल जावे ॥ १६ ॥ इस प्रकार मन्त्र पढ़कर और स्वाद न लेकर तीनवार चरुभाग को गला के नीचे करे (निगलजावे) ॥ १७ ॥

तूष्णीं चतुर्थम् । १८ भूय एवावदाय कामन्तत्र संस्वादयेरन् । १९ आचान्तोदकाः । २० प्रत्यभिमृशेरन्मुखꣳ शिरोऽङ्गानीत्यनुलोमममो सीति ॥ २१ ॥

'चतुर्थं' निगरणं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव परमत्राप्यसंस्वादमिति वर्त्तते ॥१८॥ 'भूयः' पुनरपि पूर्ववत् 'अवदाय' चरुच्छेदं प्रकृत्य 'तत्र' तस्मिन् पक्षे 'कामं' यथा स्यात् तथा 'संस्वादयेरन्' तं चरुभागमिति । १९ ततः 'आचान्तोदकाः' भवेयुः उदकैः कृताचमनाः स्युरिति। २० ततश्च "अमोसि प्राण तदृतं ब्रवीम्यमास्यसि सर्वमनु प्रविष्टः । स मे जराꣳ रोगमपमृज्य शरीरादपाम एधि मा मृथा न इन्द्र (स्वाहा)" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, १, १४) —'इति' इमं मन्त्रं पठन्नेव 'मुखं' ललाटादि चिबुकपर्यन्तं 'शिरः' ब्रह्मरन्ध्रम् 'अङ्गानि' कर्णमूलादीनि पादाग्रान्तानि 'प्रत्यभिमृशेरन्' उदकैः सिञ्चेरन्निति ॥ २१ ॥

भा०:—चतुर्थवार में मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं, किन्तु इस वार भी स्वाद ग्रहण न करे ॥ १७ ॥ पुनः, उसीप्रकार मेक्षण द्वारा चरु सब को टुकड़ा २ कर भक्षण करे, परन्तु इस वार यदि इच्छा हो, तो, स्वाद भी ग्रहण कर सकता है ॥ १९ ॥ अनन्तर, जल से आचमन करे अर्थात् मुख और हाथ पैर धोवे॥२०॥ उस के पश्चात् ही "अमोसि प्राण" मन्त्र पाठकर ललाट से डाढ़ी पर्यन्त और ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश एवं कान की जड़से पैर तक अच्छे प्रकार धोवे॥२१॥

एतयैवावृता श्यामाकयवानामग्निः प्राश्नातु प्रथम इति श्यामाकानामेतमुत्यं मधुना संयुतं यवमिति यवानाम् २२, २३, २४ । ३, ८ ॥

'एतया एव आवृता' अनया नवव्रीहियज्ञोक्तरीत्या एव श्यामाकयवानाम्' अपि नवानां यज्ञः कार्यः । विशेषस्तु ;—'श्यामाकानां' श्यामाकसम्बन्धिनि यज्ञे "अग्निः पश्चात् प्रथमः स हि वेद यथा हविः शिवा । अस्मभ्य मोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणिः" (स्वाहा) ॥ १५ ॥(म० ब्रा० २, १, १५)—'इति' एष मन्त्रो

व्यवहार्यः ; किन्तु 'यवानां' यवसम्बन्धिनि यज्ञे "एतमुत्यं मधुना संयुतं यवᳯ सरस्वत्या अधिवनाव चर्कृधि। इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः" (स्वाहा) (म० ब्रा० २, १,१६)—'इति' एष मन्त्रो व्यवहर्त्तव्यइति । २२, २३, २४ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेऽष्टमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥३.८॥

भा०:—पूर्व जो कहा गया है, ये सब ही नूतन व्रीहि, शस्य के लिये हैं, परन्तु सामा, यव, शस्य के विषय में इसी रीति से यज्ञ सम्पन्न करे । विशेषता केवल यह है कि— नूतन श्यामाक (सामा) यज्ञ में 'शतायुधाय' मन्त्र के बदले "अग्निः प्राश्नातु" प्रथम मन्त्रका पाठकरे और नूतन यव यज्ञ में "एत मुत्यं मधुना" मन्त्र का व्यवहार करे ॥ २२, २३, २४ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीय प्रपाठक के अष्टमखण्ड का भाषानुवाद पूराहुआ॥३,८॥



आग्रहायण्यां बलिहरणम् १ तत् श्रावणेनैव व्याख्यातम् ।२।

'आग्रहायण्याम्' अग्रहायणो मार्गशीर्ष इति पर्यायवचनम्। अग्रहायणस्येयमाग्रहायणी, तस्यां पौर्णमास्याम् अपि 'बलिहरणं' कर्त्तव्यम् । १ । एतच्च बलिहरणं 'श्रावणेन एव व्याख्यातम्' श्रावण्यां बलिहरणे यद्यदुपदिष्टमिहापि तत्तदेव बोध्यमिति । २ ।

भा०:—अगहन की पूर्णिमा को भी बलि प्रदान करे ॥१॥ * यह बलिप्रदान, श्रावण मास के बलिहरण में कहा गया है । अर्थात् श्रावण मास की पूर्णिमा का बलिहरण विषय में जो २ कहा गया है इस अगहन मास की पूर्णिमा के बलिहरण में भी वही २ नियम प्रतिपालन करे ॥२॥

नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं न जपति ॥ ३ ॥

'नमः पृथिव्यै' (पृ० १५१),—'इति एतं मन्त्रं' 'न जपति' आग्रहायणबलिहरणकारीति श्रावण्यां बलिहरणे उक्तं 'न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य 'नमः पृथिव्या' इत्येतं मन्त्रं जपति (पृ० १५१)' तदत्र न भवतीत्येव विशेष इति ।३। अपराण्यपि कानिचित् तद्दिनकर्त्तव्यान्याह;—

भा०—श्रावण मास में जो बलिहरण आरम्भ हुआ है, उस में "नमःपृथिव्यै" मन्त्र का व्यवहार करने का विधि है। इस अगहन मास के बलिहरण में उस की आवश्यकता नहीं, यही इस में विशेषता है ॥ ३ ॥

* श्रावण की पूर्णिमा से प्रतिदिन जो सर्पभयन होगा सो इसी बलिहरण मे शेष होगा । प्राचीन समय में भी इन्हीं चार मासों में सर्प का भय होता था ॥

अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिꣳ हुत्वा दर्भान् शमीं वीरणां फलवतीमपामार्गꣳ शिरीषमेतान्याहारयित्वा तूष्णीमक्षतसक्तूनामग्नौ कृत्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्यैस्तैः सम्भारैः प्रदक्षिणमग्न्यागारात् प्रभृति धूमं शातयन् गृहाननुपरीयात् । ४ । उत्सृजेत् कृतार्थान् सम्भारान् ॥ ५ ॥

'अथ' शब्दो बलिप्रकरणतो वैभिन्नं द्योतयति । तद्दिने पूर्वाह्णे प्रातराहुतिं हुत्वा एव' 'दर्भान्' कुशतृणानि, 'शमीं' तद्वृक्षपत्रं, 'वीरणां' वीरणतृणं, 'फलवतीं' सफलां बदरीशाखां, 'अपामार्गं' तच्छाखां, 'शिरीषं' तच्छाखां, 'एतानि' सम्भाराणि 'आहारयित्वा' येन केनचित् 'अक्षतसक्तूनां' यवसक्तूनां भागं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव 'अग्नौ' कृत्वा प्रक्षिप्य 'ब्राह्मणान्' तत्रत्यान् दक्षिणादानादितोषणेन 'स्वस्ति' शब्दं कल्याणवचनं वा 'वाचयित्वा' 'एतैः' दर्भादिभिः 'सम्भारैः' सह 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'अग्न्यागारात्' अग्निगृहात् 'प्रभृति' 'गृहान्' सर्वानेव 'अनु' लक्ष्य 'धूमं' प्रदाय 'शातयन्' निर्वापयंश्च 'परीयात्' सर्वतो व्रजेत् एतेन सर्वगृहेषु शान्त्यर्थं दर्भादिभिर्धूमदानं फलितम् ॥४॥ तान् 'सम्भारान्' 'कृतार्थान्' निष्पन्नप्रयोजनान् इति 'उत्सृजेत्' परित्यजेत् ॥ ५ ॥

भा०—और भी,—उस दिन दो पहर के पीछे प्रातःकाल की आहुति दे कर, पीछे कुश, पीपर का पत्ता, वीरणतृण, (खस) फल सहित बेर का डाढ़, चीरचीरी का डाल, शिरीष की शाखा, ये सब किसी से मंगवाकर अग्नि में विन मन्त्र पढ़े सत्तू होम कर, उस स्थान में उपस्थित ब्राह्मणों को दक्षिणा दे कर प्रसन्न करे, 'स्वस्ति' कहवा कर, इन दर्भ आदि सम्भार, सब को लेकर उस अग्निगृह से आरम्भ कर सम्पूर्ण घर में धूम देवे । परन्तु उस धूम को ठण्डा भी कर देवे ॥४॥ उक्त सम्भाली हुई वस्तुओं को अर्थात् कुश आदिक को, काम हो जाने पर, फेंक देवे ॥ ५ ॥

जातशिलासु मणिकं प्रतिष्ठापयति वास्तोष्पतइत्येतेन द्विकेन ॥ ६ ॥ पर्केण द्वावुदकुम्भौ मणिक आसिञ्चेत् ॥ ७ ॥ समन्न्यायन्तीत्येतयर्चा प्रदोषे पायसस्त्रहः ॥ ८ ॥

'जातशिलासु' उत्पन्नशिलासु शिलावद्दृढनिर्म्मितासु इष्टकासु इष्टकनिर्म्मित वेद्याम् 'वास्तोष्पते (गे०गा०१,२,२०,२१),—'इति' 'अनेन द्विकेन' साम-

द्वयेन 'मणिकं' मृण्मयं ताम्रादिमयं वा बृहत् जलाधारं 'प्रतिष्ठापयति' ॥ ६ ॥ ततः तस्मिन् 'मणिके' 'पर्केण' पर्कनाममन्त्रेण (गे० गा० १, १, १) ' द्वौ ' 'उद-कुम्भौ' उदकपूर्णकलशौ 'आसिञ्चेत्' ॥ ७॥ 'प्रदोषे' रजनी मुखे 'समन्न्यायन्ति' (अ०आ० ३, ३, ६) 'इति' 'एतया ऋचा' 'पायसः चरुः' पक्तव्यः ॥८॥

भा०–पत्थर की नाईं सुदृढ (खूबमज़बूत) ईंटों से बनी, वेदी के ऊ-पर "वास्तोष्पते" (गे० गा०–७, २०–२१) इन दोनों साममन्त्र पढ़ कर जल का घड़ा रक्खे ॥ ६ ॥ तत्पश्चात् उस घड़े में 'पर्कसाम' (गे० गा० १, १, १) पाठ करते हुए कलशों से जल डाले ॥ ७ ॥ प्रदोष समय (रात्रि–का आरम्भ) "समन्न्यायन्ति" (अ० आ–३, ३, ६), यह मन्त्र पढ़ते हुए 'पायसचरु' पकावे ॥८॥

तस्य जुहुयात् प्रथमाहव्युवाससेति ॥ ९ ॥ स्थालीपाका-वृतान्यत् ॥ १० ॥ पश्चादग्नेर्बर्हिषि न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्षत्रइत्येताव्याहृतीर्जपति ॥ ११ ॥

'तस्य' चरोः अंशं गृहीत्वा "प्रथमा हव्युवास सा धेनु रभवद्यमे । सा नः पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तराꣳ समाम्" ॥१॥ (म० ब्रा० २, २, १)'–'इति' मन्त्रेण 'जुहुयात्' ॥९॥ 'अन्यत्' अवशिष्टकार्य्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकयज्ञ-रीत्याएव भवेन्नाम ॥१०॥ 'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमे 'बर्हिषि' आस्तृतकु-शोपरि 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे ॥२॥ प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु ॥३॥ प्रतिप्राणे प्रतितिष्ठामि पुष्टौ ॥४॥ प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मनि ॥५॥ प्रतिद्यावा पृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे" ॥६॥ (म० ब्रा० २, २, २–६)'–'इति एताव्याहृतीः जपति' ॥११॥

भा०–उस चरु का कुछ अंश ले कर 'प्रथमाहव्युवाससा' यह मन्त्र पढ़ कर एक आहुति देवे ॥ ९ ॥ अपर सब कार्य पूर्वोक्त स्थालीपाक यज्ञ की रीति से होंगे ॥१०॥ अग्नि के पश्चिम भाग में कुश के ऊपर, दोनों हाथ नीचे स्थापन कर 'प्रतिक्षत्र' आदि इन तीन व्याहृति मन्त्रों का जप करे ॥ ११ ॥

पश्चादग्नेः स्वस्तरमास्तारयेदुदगग्रैस्तृणैरुदक्प्रवणम् ॥१२॥ तस्मिन्नहतान्यास्तरणान्यास्तीर्य्य दक्षिणतो गृहपति रुपविशति ॥१३॥ अनन्तरा अवरे याथाज्येष्ठम् ॥१४॥

'अग्ने' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि 'उदगग्रैः तृणैः' उत्तराग्रीकृतैः कु-शादिभिः 'उदक्प्रवणं' उत्तरनिम्नं यथा स्यात्तथा 'स्वस्तरं' आसनं 'आस्तारयेत्'

आस्तृतं कुर्य्यात् ॥१२॥ 'तस्मिन्' स्रस्तरे 'अहतानि' अखण्डितानि 'आस्तरणानि' तिर्य्यक्प्रक्षेपणीयतृणानि 'आस्तीर्य्य' पातयित्वा तत्र 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां 'गृहपतिः' अनुष्ठानकारी 'उपविशति' उपविशेत् ॥१३॥ 'अनन्तराः' अव्यवहिता 'अनन्तराः' अव्यवहिताः 'अवरे' गृहपतितः कनिष्ठाः यथाज्येष्ठं' ज्येष्ठानुक्रमेण उत्तरोत्तरं स्थानमधिकुर्य्युरिति ॥ १४ ॥

भा०–अनन्तर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराग्र कुशा आदि से बैठने के लिये आसन बनाने में यत्नवान् होवे, यह स्थान उत्तर दिशा में गहरा होगा ॥ १२ ॥ उस के ऊपर अच्छिन्न (टूटा नहीं) आस्तरण आदि बिछा कर सब से दक्षिण ओर घर का मालिक बैठे ॥ १३ ॥ उन के बायें क्रम से ज्येष्ठानुसार भाई आदि बैठे । अर्थात् उन के बाईं ओर प्रथम बड़े बैठें, तत्पश्चात् छोटे, इसी रीति से और भी बैठें ॥ १४ ॥

अनन्तराश्च भार्य्याः सजाताः । १५ समुपविष्टेषु गृहपतिः स्वस्तयेत् । १६ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य स्योनापृथिवि नोभवेत्येतामृचं जपति ॥ १७ ॥

'अनन्तराः' तदव्यवहिताः 'भार्य्याः' गृहपतिबध्वादयः 'च' अपि यथाज्येष्ठमुत्तरोत्तरं उपविशेयुरित्येव । तत्र विशेषमाह 'सजाताः' समानजातीयाः असवर्णानामत्रोपवेशने नाधिकार इति भावः । १५ 'समुपविष्टेषु' स्वावरादिभार्य्यान्तेषु परिजनेषु 'गृहपतिः' अनुष्ठाता 'स्वस्तयेत् स्वस्तिवाचनं कुर्य्यात् । १६ तथाहि स्वस्तिवाचनप्रकारमेव दर्शयति । 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "संस्थाप्य स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छानः शर्म स प्रथमो देवान्मा भयादिति" ॥७॥ (म०ब्रा० २,२,७)–'इति एतां ऋचं जपति' ।१७।

भा०–एवं उन से पश्चात् अपने वर्ण की भार्या आदि भी उक्त प्रकार बड़े छोटे क्रम से बैठें ॥ १५ ॥ सब के ठीक २ बैठजाने पर, घर का मालिक स्वस्त्ययन आरम्भ करे ॥१६॥ दोनों हाथ नीचे कर 'स्योनापृथिवि नो भव' इस मन्त्र का पाठ करे ॥ १७ ॥

समाप्तायां संविशन्ति दक्षिणैः पार्श्वैः । १८ एवं त्रिरभ्यात्मावृत्य स्वस्त्ययनानि प्रयुज्य यथान्यायम् ॥ १९ ॥

'समाप्तायां' पाठक्रियायां 'दक्षिणैः पार्श्वैः' दक्षिणपार्श्वानुसारेण स्वावरादिभार्य्यान्तोपविष्टः सर्वपरिजनप्रदक्षिणतः इति यावत् 'संविशन्ति' अग्निपरिजनयोर्मध्यतः आगच्छन्ति । १८ 'एवं' परिजनप्रदक्षिणया 'त्रिः' त्रिवारम्

'अभ्यात्मं' स्वोपवेशनस्थानमभिलक्ष्य 'आवृत्य' आवर्त्तनं कृत्वा 'स्वस्त्ययनानि' वामदेव्यादीनि सामानि 'प्रयुज्य' गीत्वा "यथान्यायं पूर्वोक्तवत् क्रियाशेषं कार्य्यमिति ॥ १९ ॥

भा०—पाठ समाप्त होने पर सब को प्रदक्षिणा कर, अग्नि और परिजन इन के बीच हो कर अपनी जगह आ बैठे ॥ १८ ॥ इसीप्रकार तीनवार प्रदक्षिण कर 'वामदेव्यादि' 'स्वस्त्ययन' सामगान के अन्त में पूर्वोक्त रीति से क्रिया शेष करे ॥ १९ ॥

अरिष्टसामसंयोगमेके। २०। उपस्पृश्य यथार्थम् ॥ २१ ॥ ३, ९

'एके' आचार्य्या अत्र 'अरिष्टसामसंयोगं' अरिष्टनामकसाम्नः संयोगमपि आहुः। २० "उपस्पृश्य" अप आचम्य क्रियासमाप्तिं मत्वा 'यथार्थं' स्वप्रयोजनानुगतं विहरेदिति ॥ २१ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेनवमखण्डस्य व्याख्यानंसमाप्तम्३.९

भा०—कोई २ आचार्य इस स्वस्त्ययन में अरिष्ट नामक साम को मिलाना चाहते हैं ॥ २० ॥ क्रिया समाप्त होने पर आचमन कर जहां चाहे, जावे, या अपने प्रयोजनानुसार कार्य करे ॥ २१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयप्रपाठक के नवम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ॥३, ९॥

अष्टका रात्रिदेवता। १। पुष्टिकर्म्म ॥ २ ॥

'रात्रिदेवता' रात्रिः देवता अस्याः 'अष्टका' इति नाम क्रिया कर्त्तव्येति शेषः। १। "पुष्टिकर्म्म" पुष्टिः पोषणं फलमस्येति। पुष्टिकाम एवास्याधिकारी तथाचास्य काम्यत्वं स्थितम् ॥ २ ॥

भा०—अष्टका नामक एक क्रिया रात्रि में करनी पड़ती है ॥ १ ॥ जिन्हें पुष्टि की इच्छा हो, वे ही इस यज्ञ को करें ॥ २ ॥

आग्नेयी पित्र्या वा प्राजापत्यर्त्तुदेवता वैश्वदेवीति देवताविचाराः। ३ चतुरष्टको हेमन्तस्ताः सर्वाः समांसाश्चिकीर्षेदिति कौत्सः ॥ ४ ॥

'आग्नेयी' अग्निदेवताका 'पित्र्या' पितृदेवताका 'वा' अथवा 'प्राजापत्या' प्रजापतिदेवताका' 'ऋतुदेवता' ऋतव एव देवता यस्याः 'वैश्वदेवी' सर्वदेवता 'इति' एवं 'देवताविचाराः' सन्तीतिशेषः। ३। 'कौत्सः' आचार्यस्तु 'हेमन्तः' कार्त्तिकादिमाघान्तोमासचतुष्टयः 'चतुरष्टकः' चतसृभिरष्टकाभिरुपेतः 'इति' मन्यते

। किन्तु 'ताः सर्वाः अष्टकाः 'समांसाः' मांसद्रव्यकाः 'चिकीर्षेत्' कर्तुमिच्छेत् ।

भा०—किसी का मत है कि इस कार्य की देवता अग्नि है, कोई कहता कि पितृगण के तोषणार्थ यह यज्ञ किया जाता, कोई २ कहता कि प्रजापति की तुष्टि के लिये इस का अनुष्ठान किया जाता है, कतिपय लोगों का यह मत है कि इस के द्वारा शीतऋतु के उपभोगार्थ प्रकृत रूप से सम्पादित किया जाता है। अनेक लोग कहते हैं कि इसका अनुष्ठान सब देवताओं के प्रीति के लिये है ॥३॥ कौत्स नामक आचार्य अग्रहायण प्रभृति हेमन्त *—चार महीनों में चार 'अष्टका' करना चाहिये। और ये चार अष्टका मांसद्वारा करे ऐसा मानते हैं ॥ ४ ॥

त्र्यष्टकइत्यौद्गाहमानिस्तथा गौतमवार्कखण्डी ॥५॥

'औद्गाहमानिः' 'तथा' 'गौतम—वार्कखण्डी' इमे आचार्याः, हेमन्तः 'त्र्यष्टकः तिस्रोऽष्टका यत्र 'इति' मन्यन्ते इति शेषः ॥ ५ ॥

भा०—उद्गाहमानि नामक आचार्य एवं गौतम और वार्कखण्डी आचार्य ये आचार्यगण—हेमन्त ऋतु में तीन ही ** अष्टका यज्ञ करना मानते हैं ॥५॥

योद्‌र्ध्वमाग्रहायण्यास्तामिस्राष्टमी तामपूपाष्टकेत्याचक्षते॥६॥

'आग्रहायण्याः' पौर्णमास्याः 'ऊर्द्ध्वम्' उपरि 'या' 'तामिस्राष्टमी' अन्धकारपक्षीया अष्टमी' तिथिः' 'ताम्' तिथिम् 'अपूपाष्टका'—'इति' 'आचक्षते' आचार्या इति यावत्। एतेन तत्राष्टम्याम् अष्टकाकृत्यं कर्त्तव्यम्, तच्च अपूपैः साध्यमिति फलितम् ॥ ६ ॥

भा०—अग्रहायणमास की पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी को आचार्यलोग 'अपुपाष्टक' कहते हैं। अर्थात् उस तिथि में अपूप द्वारा अष्टका करे ॥६॥ ***

स्थालीपाकावृता तण्डुलानुपस्कृत्य चरुंश्रपयति ॥ ७ ॥

'स्थालीपाकावृता' पूर्वोक्तया स्थालीपाकरीत्या 'तण्डुलान्' 'उपस्कृत्य' संस्कृत्य तैरेव तण्डुलैः 'चरुं' हवनीयान्नं 'श्रपयति' श्रपयेत् परिपचेत् ॥ ७ ॥

*—"द्वादश मासाः पञ्चर्तवो हेमन्त शिशिरयोः समासेन" ऐ० ब्रा० १, १, १। इस से 'पांच ऋतु में एक वर्ष पूरा होता है,—इस मत से हेमन्त और शिशिर दोनों ही ऋतु को हेमन्त कहते हैं और वेद में "शतं हिमाः" "शरदः शतं" इत्यादि अनेक प्रयोग रहनेभी शरत् ऋतु में वर्ष की पूर्त्ति और हेमन्तमें ही वर्षारम्भ जान पड़ता है, अग्रहायण पदसे वर्षका पहिला महीना जान पड़ता है, सुतरां, अग्रहायण से हेमन्त ऋतु गिनना चाहिये ॥

** चार महीनों में तीन अष्टका कर्त्तव्य होने से, सुतरां एक मास छूट जावेगा। कौन महीना छूटेगा, सो स्पष्ट न कहने से जिस २ मास में जिस २ प्रकार अष्टका करनी होगी सो क्रम से कहा जावेगा, तो जिस मास में कुछ नहीं कहा जावेगा, वही मास छूटेगा ऐसा जानना चाहिये ॥

*** पूआ—का परिचय और उस के द्वारा अष्टका कृत्य किस प्रकार करना होगा, सो सब क्रम से कहा जावेगा ॥

भा०—इस के पूर्व स्थालीपाक प्रकरण में जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार तण्डुल आदि से 'चरु' पाक करे ॥ ७ ॥

अष्टौ चापूपान् कपालेऽपरिवर्त्तयन् ॥८॥

'च' अपि 'कपाले' एकस्मिन् मृत्कटाहे 'अष्टौ' 'अपूपान्' पिष्टकविशेषान् 'अपरिवर्त्तयन्' मेक्षणादिना अस्पृशन्नेव श्रपयेत् ॥८॥

भा०—और एक बड़ी मट्टी की कराही में, आठ पूआ पकावे। (एक समय में ८ पूआ आवश्यक होनेसे आठ कराही आवश्यक होंगी) पूआको इस भांति बनावे जिस से वह टूटे नहीं ॥ ८ ॥

एककपालानमन्त्रानित्यौद्गाहमानिः।९। त्रैयम्बकप्रमाणान् १०

इमान् अपूपान् परिमाणेन 'एककपालान्' एककपालपूर्णमितान्, किञ्च 'अमन्त्रान्' मन्त्रपाठसाहित्यशून्यान् 'इति' 'औद्गाहमानिः' आचार्यः मन्यते इति शेषः ९ त्रैयम्बकं करतलम्, तत्प्रमाणानेव अपूपान् श्रपयेत् इत्यस्माकं मतमिति।

भा०—उद्गाहमानि नामक आचार्य के मतसे पूए आदि को एक २ कराही में बनावे (अर्थात आठों को अलग २) और पूआ बनाते समय मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥ ९ ॥ एक २ पूआ हथेली की बराबर होगा ॥ १० ॥

शृतानभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥११॥

'शृतान्' पक्वान् तान् 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' उत्तरतः अग्नेः, 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव तानपूपानिति ॥११॥

भा०—पूआ आदि पक जाने पर घी का ढार दे कर अग्नि की उत्तर में उतार कर पुनः घी का ढार देवे ॥ ११ ॥

स्थालीपाकावृतावदाय चरोश्चापूपानाञ्चाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥१२॥ स्थालीपाकावृतान्यत ॥१३॥

'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या 'चरोश्च' तस्य 'अपूपानाञ्च' तेषाम् अंशान् 'अवदाय' सङ्कृत्य गृहीत्वा " अष्टकायै स्वाहा "-'इति' अनेन मन्त्रेण 'जुहोति' जुहुयात् ॥१२॥ 'अन्यत्' क्रियाशेषं सर्वं स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यमिति समाप्तापूपाष्टका ॥१३॥

भा०—पूर्वोक्त स्थालीपाक के नियमसे उस चरु और पूए आदि से कुछ २ अंश काट कर, इस काटे हुए अंश को "अष्टकायैस्वाहा"-इस मन्त्र से अग्नि

में डाले ॥ १२ ॥ स्थालीपाक प्रकरण में जो २ साधारण नियम पहिले कहे गये हैं, वे सब ही नियम यहां वर्त्ते जावेंगे ॥ १३ ॥

तैष्या ऊर्ध्वमष्टम्यां गौः ॥१४॥ ताᳬसन्धिवेलासमीपं पुरस्तादग्नेरवस्थाप्योपस्थितायांजुहुयाद्यत्पशवःप्रध्यायतेति ॥१५॥

'तैष्याः' पौषपौर्णमास्याः 'ऊर्ध्वम्' परस्तात् 'अष्टम्यां' कृष्णपक्षीयायाम्, 'गौः' आलब्धव्येति शेषः ॥ १४ ॥ 'सन्धिवेलासमीपं' सूर्योदयकालात् किञ्चित् पूर्वमेव 'तां' गां 'अग्नेः पुरस्तात् अवस्थाप्य' 'उपस्थितायां' तस्यां सन्धिवेलायाम्, सूर्योदयक्षणे इति यावत्, " यत्पशवः प्रध्यायत मनसा हृदयेन च। वाचा सहस्रपाथया अपि अप्नासि यो ममः" ॥८॥ (म० ब्रा० २, २, ८)-'इति' मन्त्रेण तत्रैवाग्नौ 'जुहुयात्' घृत मिति ॥१५॥

भा०-पौष मास की पूर्णिमा के पीछे अष्टमीतिथि को गोमांसद्वारा मांसाष्टका करे ॥ १४ ॥ सन्धिवेला (रात और दिन का संयोगसमय) के कुछ पहिले अग्निके पूर्वभाग में उस गौको लाकर रक्खे, पीछे सन्धिवेला होने पर "यत्पशवप्रध्यायत" इस मन्त्रसे घी की आहुति दे कर कार्यारम्भ करे ॥१५॥

हुत्वा चानुमन्त्रयेतानु त्वा माता मन्यतामिति ॥१६॥

'हुत्वा' कार्यारम्भद्योतिका माहुतिं पूर्वोक्ताम्, 'च' अपि 'तां' गाम् "अनु त्वा माता मन्यता मनुपितानुभ्राताऽनु सगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, २, ९)'-'इति' मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' संज्ञपनार्थं निमन्त्रयेदिति ॥१६॥

भा०-कार्य के आरम्भ सूचक पूर्वोक्त आहुति देने पर इससमय यव मिला जल पवित्र, क्षुर, शाखा विशाखा, बर्हिः इध्म, आज्य, दो समिधा, और स्रुव, ये सब भी अपने पास आवश्यकतानुसार ठीक रक्खे "अनुत्वा" इस मन्त्र को पाठ करते हुए गौ को मारने के लिये निमन्त्रण देवे ॥ १६ ॥

यवमतीभिरद्भिःप्रोक्षेदष्टकायै त्वा जुष्टां प्रोक्षामीति ॥१७॥

' अष्टकायै ' अष्टकानामदेवतायाः तुष्ट्यर्थं 'त्वा' 'जुष्टां' प्रीति-सेवनीयां गाम् 'प्रोक्षामि' अहम्-' इति ' मन्त्रं पठन् 'यवमतीभिः' अद्भिः 'प्रोक्षेत्' तामालब्धव्यां गामिति ॥१७॥

भा०-"अष्टका देवता की प्रीतिके लिये प्रीति पूर्वक सेवनीय तुम्हें धोता हूं"-यह मन्त्र पढ़ते हुए उस बध्य गौ को यव से भींगा जलसे धोवे ॥ १७ ॥

जमा।

खर्च।

६॥) मूलचंद छात्र
१॥=) बाबू सुमतिलालजी
१०) चतुर्भुज छात्र
५) कस्तूरचंद „
५) रतनकुमार „
३) माधोप्रसाद „
३) ज्योतिस्वरूप „
१०) मन्नीमल „
६) गोपालदास „

८७॥)।

१५८४॥=)।

५१७१६≡)॥। श्री रोकड़बाकी नगद, बैंक व कोठियों में जमा
१३६५-) बाबू बनारसीदास जी जौंहरी, काशी (कोषाध्यक्ष)
१७४॥)॥ तीर्थक्षेत्रकमेटी, बं०
५०॥-) सेविंग बैंक, शिवाला, काशी
१६२१६)॥। वारलोन खाते
६६०६।) प्रामिसरी नोट खाते
१७६०) बंबई बैंक, बंबई
१६६५) टाटा कंपनी, „
२५००) अलायंस जूट मिल्स, कलकत्ता

आय ।	व्यय ।
	२५००) खरदा कंपनी, कलकत्ता
	२०००) बाबू हरकिसनदास जी, काशी
	२०००) बाबू शिवनारायण कुञ्जीलालजी, काशी
	३०००) बाबू माधोजी, ,,
	* १०००) लाला हींगामल कल्याणचंद, कैला-शचंदजी, इलाहाबाद
	* १००१) सर सेठ स्वरूपचंद हुक्मचंदजी, इंदौर
	* २५००) रा० ब० सेठ ओंका-रजी कस्तूरचंद इंदौर
	२५००) बाबू गोपालकृष्ण दासजी, काशी
	१५००) बाबू मधुवनदास पन्नालालजी, काशी
	३०००) बाबू नंदगोपाल मकसूदनदासजी, काशी
	१७॥।)॥ नकद रोकड़ बाकी विद्यालयमें मौजूद
	५१७१६≈॥।
	६५५७६॥।-)॥

उल्मुकेन परिहरेत् परिवाजपतिः कविरिति ॥१८॥ अपः पानाय दद्यात् ॥ १९ ॥

"परिवाजपतिः कविः (छ० आ० १.१.३.१०)"–'इति' मन्त्रम्पठन् 'उल्मुकेन' प्रज्वलिताग्निना 'परिहरेत्' प्रदक्षिणीकुर्यात् तां गा मिति ॥ १८ ॥ तस्यै गवे इति शेषः ॥ १९ ॥

भा०–"परिवाजपति" (छ० आ० १. १. १३ १०) इस मन्त्र को पढ़ कर, एक मुट्ठी खर जला कर, उस जलते हुए खर से उस गौ की प्रदक्षिणा करे ॥ ॥ १८ ॥ उस गौ को एक पात्र में जल पीने को देवे ॥ १९ ॥

पीतशेषमधस्तात्पशोरवसिञ्चेदात्तंदेवेभ्याहविरिति ॥२०॥

'पीतशेषं' पानावशिष्टमुदकम् "आत्तं देवेभ्यो हविः।१० (म० ब्रा० २.२.१०)" 'इति' मन्त्रम्पठन् 'पशोः' तस्यैव 'अधस्तात् अवसिञ्चेत्' नीचैः सिञ्चनं कुर्वीत ॥२०॥

भा०–पीने से जो पानी बचे, उस में "आत्तं देवेभ्यो हविः" इस मन्त्र को पढ़ कर उस गौ के अधोभाग को सींचे ॥ २० ॥

अथैनामुदगुत्सृप्य संज्ञपयन्ति ॥२१॥ प्राक्शिरसमुदक्पदीं देवदेवत्ये दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं पितृदेवत्ये २२,२३॥

'अथ' अनन्तरम् 'एनाम्' गाम् 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः 'उत्सृप्य' उत्सर्पणेन नीत्वा 'संज्ञपयन्ति' हन्युः शासितार ऋत्विज इति ॥२२॥ तत्र च–'देवदेवत्ये' कार्ये तां 'प्राक्शिरसम् उदक्पदीं' किन्तु पितृदेवत्ये कार्ये 'दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं' संज्ञपयेयुरिति ॥ २२,२३ ॥

भा०–अनन्तर मारने के लिये प्रस्तुत (तैयार) ऋत्विक्गण, उस गौको अग्नि के उत्तर ला कर काट डालें ॥ २१ ॥ यदि देवकार्य निमित्त गौ मारी जावे, तो पशु का मस्तक पूर्वदिशा में रक्खे और चारों पैर उत्तर की ओर रक्खे और यदि पितृकार्य के लिये गो–वध हो, तो पशु का मस्तक दक्षिण दिशा में, और उस के पैर सब पश्चिम ओर रक्खे ॥ २२ ॥ २३ ॥

संज्ञप्तायां जुहुयाद्यत्पशुर्मायुमकृतेति ॥ २४ ॥

'संज्ञप्तायां' तस्यां "यत्पशुर्मायु मकृतोरोवापद्भिराहत। अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वामुञ्चत्वꣳहसः" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २. २. ११)–'इति' मन्त्रेण 'जुहुयात्' आज्य मिति शेषः ॥ २४ ॥

भा०–उक्त गौ मारे जाने पर "यत्पशु" मन्त्र से आज्य होम करे ॥२४॥

पत्नी चोदकमादाय पशोः सर्वाणि स्रोतांसि प्रक्षालयेत ॥२५॥

'च' अपि तदेव 'पत्नी' यजमानस्य, 'उदकम् आदाय 'पशोः' संज्ञप्तस्य 'सर्वाणि स्रोतांसि' चक्षुरिन्द्रियादीनि 'प्रक्षालयेत्' ॥ २५ ॥

भा०—एवं उस समय यजमान की स्त्री जल से, उस कटे हुए शिरवाली गौ के नेत्र आदि इन्द्रिय अच्छेप्रकार धोवे (माथे में नेत्र आदि सात, चार स्तन, नाभि, कटिदेश, गुह्यदेश, ये १४ स्थान हैं) ॥ २५ ॥

अग्रेण नाभिं पवित्रे अन्तर्धायानुलोम माकृत्यवपा मुद्धरन्ति२६

'अग्रेण नाभिं' नाभेरग्रतः नाभिसमीपे 'पवित्रे' 'अन्तर्द्धाय' 'अनुलोमं' यथा स्यात्तथा 'आकृत्य' क्षुरेण निम्नाभिगामि कर्त्तनं कृत्वा, ततः 'वपां' मेदसम् 'उद्धरन्ति' उद्धरेयुः ॥ २६ ॥

भा०—नाभि के समीप पवित्रद्वय छिपा कर लोमानुसरण क्रम से क्षुर से निम्न-गामि चालन से काट कर उस में से वपा निकाले ॥ २६ ॥

ताᳬंशाखाविशाखयोः काष्ठयोरवसज्याभ्युक्ष्य श्रपयेत् । २७ । प्रश्च्युतितायां विशसथेति ब्रूयात् ॥ २८ ॥

'शाखाविशाखयोः' एतन्नामकपात्रयोः 'काष्ठयोः' पलाशनिर्मितयोः ऊर्द्धाधोमुखीभावावस्थितयोः आधाराच्छादनयोः मध्ये 'तां' वपां 'अवसज्य' संस्थाप्य 'अभ्युक्ष्य' जलपातैः 'श्रपयेत्' पचेदिति । २७ । 'प्रश्च्युतितायां' प्रसारितायां तस्यां वपायां 'विशसथ' गां विगतचर्मां कुरुथ 'इति' ब्रूयात्' ॥ २८ ॥

भा०—और निकाली हुई वपा को, शाखा, विशाखा नामक पलाश की लकड़ी का बनाहुआ ढक्कन के आधार पर रक्ख कर, जल से सामान्यरूप से धोकर, अग्नि से सिद्ध करे ॥ २७ ॥ इधर, उस गौ के नाभि के समीप से काट कर, मेद निकाल, इस गौ के चमरा निकालने की आज्ञा करे ॥२८॥

यथा न प्रागग्नेर्भूमिᳬंशोणितं गच्छेत् । २९ शृता मभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् । ३। स्थालीपाकावृता वपा मवदाय स्विष्टकृदावृता वाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥३१॥

परं तत्र विशसने सातकर्य मिद मवलम्ब्यम् :—'अग्नेः' 'प्राक्' पुरतः भूमिं 'शोणितं' 'यथा न गच्छेत्' इति । २९ । 'शृतां' पक्वां वपाम् 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेः उत्तरतः 'उद्वास्य संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' पुनर्घृतेनैवाभिघारणं कुर्यात् । ३० । ततः शैत्येन कठिनीभूतां तां 'वपाम्' स्थालीपाकरीत्या स्विष्टकृद्रीत्या वा अवदानेन 'अवदाय' कर्त्तयित्वा, कर्त्तितमंशं गृहीत्वा "अष्टकायै स्वाहा"—'इति' मन्त्रेण तत्र अग्नौ 'जुहोति' जुहुयात् ॥ ३१ ॥

भा०—परन्तु चमरा कुहाते समय, ऐसा न हो कि अग्नि के आगे हो कर रुधिर बहचले ॥ २९ ॥ इस वपा के तैयार होने पर, उस में घी का ढार दे कर, उसे अग्नि के उत्तरभाग में उतार कर रक्खे और पुनः उस में घी का ढार देवे ॥ ३० ॥ अनन्तर उस आग में पकी वपा, जो ठंढे के कारण जम आयेगी, उसे 'स्थालीपाक' की रीति से, या स्विष्टकृत् की रीति से चाकू से काट कर, उस में से लेकर " अष्टकायै स्वाहा " इस मन्त्र से होम करे ॥ ३१ ॥

स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् ॥३२॥

'अन्यत्' अवशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कुर्यादिति शेषः। द्विर्वचनं प्रपाठकसमाप्तिसूचक मिति । ३२॥१० ॥

इतिसामवेदीयगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेदशमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥३।१०॥

अध्यायश्च समाप्तः ॥ ३ ॥

भा०—बाकी सब काम 'स्थालीपाक' के नियम से होंगे ॥ ३२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के दशम खण्डका भाषानुवाद पूराहुआ और तीसरा प्रपाठक भी समाप्तहुआ ॥ ३ । १० ॥

अनु प्रहरति वपाश्रपण्यौ प्राचीमेकशूलां प्रतीचीमितराम् ॥१॥

'अनु' पश्चात्, वपाहोमानन्तर मिति यावत् । 'वपाश्रपण्यौ' वपाश्रपणसाधन्यौ ते पूर्वोक्ते शाखा–विशाखे 'प्रहरति' परिहरेत, प्रक्षिपेत् । क ? पूर्वोक्तन्यायात् तत्रैवाग्नौ । तत्र च प्रहरणीये नियमः—'एकशूलां' शाखानामिकां वपाश्रपणीं 'प्राचीं' प्रागग्राम्, 'इतराम्' अपरां विशाखानामिकां वपाश्रपणीं 'प्रतीचीं' प्रत्यगग्राम्ः प्रहरेदिति योज्यम् ॥ १ ॥

भा०—वपा पाककर्म समाप्त होने पर उन दोनों * "वपाश्रपणी" को उसी अग्नि में इस प्रकार डाल देवे कि एकशूला पूर्वाग्रा हो एवं अपर पश्चिमाग्रा हो ॥१॥

अवद्यन्त्यवदानानि सर्वाङ्गेभ्योऽन्यत्र वामाच्च सक्थ्नः क्लोम्नश्च ॥ २ ॥ वामंसक्थ्यन्वष्टक्याय निदध्यात् ॥३॥

'वामात्' सक्थ्नः, 'क्लोम्नः च', अन्यत्र, वामसक्थि क्लोम च वर्जयित्वा

---

* अर्थात् ऊपर नीचे भाव से जोड़ा पलाश काठ निर्मित, वपा पाक की सिद्धि के लिये दो पात्र ... में वपा रख कर सिद्ध की जाती और उस के ऊपर ढका रहता है, उन में से ऊपर वाले पात्र को "शाखा" और "एकशूला" भी कहते हैं) इस में वपा रांधन होता है और उस के ऊपर ढाकने के लिये नीचे मुंह रक्खे पात्र को "विशाखा" कहते हैं ॥

** यह उस अग्नि में डाला जाता, इस कारण इसे "वपाश्रपणी" कहते हैं ॥

अन्येभ्यः 'सर्वाङ्गेभ्यः' 'अवदानानि' मांसानि 'अवद्यन्ति' क्षुरेण खण्डखण्डीकुर्वन्ति ॥ २ ॥ तदखण्डितं 'वामं सक्थि' अन्वष्टक्याय अनुपदवक्ष्यमाणायकर्मणे निदध्यात् संस्थापयेत् ॥ ३ ॥

✓ भा०--वाम सक्थि (ऊरु) और क्लोम (पित्तकोष) छोड़ कर, सब अङ्गों से खण्ड २ करके मांस ग्रहण करे ॥ २ ॥ वाम सक्थि समस्त ही 'अन्वष्टका' कार्य में व्यवहार के लिये रक्खे ॥ ३ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्च मांसचरुञ्च पृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रदक्षिण मुदायुवन् । ४ । शृतावभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥ ५ ॥

'तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च' उभावेव चरू 'पृथङ्मेक्षणाभ्यां पृथक्पृथक्स्थापिताभ्यां मेक्षणाभ्यां 'प्रदक्षिणं' दक्षिणावर्त्तेन मेक्षणचालनं यथा स्यात्तथा 'उदायुवन्' ऊर्द्ध्वमीषन्मिश्रयन् 'श्रपयति' श्रपयेत् पचेदिति ॥ ४ ॥ 'शृतौ' तौ चरू 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः 'उद्वास्य' 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव ॥ ५ ॥

भा०—उसी एक अग्नि में 'ओदनचरु' और 'मांसचरु' ये दोनों चरु पकावे, परन्तु दोनों चरु में भिन्न २ चलौने (मेक्षण) से चलावे, एक ही से नहीं ॥ ॥ ४ ॥ इन दोनों चरुओं के अच्छे प्रकार पकजाने पर, घी का ढार दे अग्नि के ऊपर भाग में उतार लेवे और पुनः उस में घी का ढार देवे ॥ ५ ॥

कंसे रसमवासिच्य प्लक्षशाखावतिप्रस्तरेऽवदानानिकृत्वा स्थालीपाकावृतावदानानां कंसेऽवद्यति स्विष्टकृतश्च पृथक् ६

मांसचरुस्थालीतः निचोड्य 'रसं' मांसयूषं 'कंसे' कांस्यपात्रे 'अवासिच्य' पातयित्वा 'प्लक्षशाखावति' प्लक्षशाखानिर्मिताच्छादनविशिष्टे 'प्रस्तरे' प्रस्तरनिर्मितकुड्ये 'अवदानानि' यूषहीनमांसखण्डानि 'कृत्वा' स्थापयित्वा 'च' अपि 'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्यागार्थं 'पृथक् कंसे' पूर्वस्थापितयूषाधारातिरिक्तकांस्यपात्रे 'स्थालीपाकरीत्या' 'अवदानानां' मांसानांकिञ्चिदंशम् 'अवद्यति' सङ्कल्प्यगृह्णाति॥६॥

भा०—मांस के यूष को, एक कांसे के वर्त्तन में ढार रक्खे मांस आदिक को एक पत्थर की कुण्डी में रक्खे और पुनः उस मांस में से थोड़ा स्थालीपाक के नियम से काट लेवे, एवं उसे स्विष्टकृत यागार्थ दूसरे कांस्यपात्र में रख छोड़े ।६।

चरोरुद्धृत्य बिल्वमात्र मवदानैः सह यूषण सन्नयेत् ॥७॥

ओदनचरुस्थालीतः 'बिल्वमात्रं' बिल्वप्रमाणं 'चरोः' अंशम् 'उद्धृत्य' 'अवदानैः' प्लक्षशाखाच्छादितप्रस्तरपात्रस्थितैः मांसखण्डैः 'सह' 'यूषेण' कांस्यपात्रस्थेन मांसरसेन 'सन्नयेत् एकीकुर्यात् तत्रैव यूषपात्रे यूषमध्ये एव स्थापयेदिति७

भा०-ओदन की हांडी से बेल की बराबर चरु ले कर (उस पत्थर की कुण्डी में रक्खा) मांस खण्ड के साथ (उस कांसे के पात्र में रक्खे हुए) यूष को मिलावे। अर्थात् उस यूष के पात्र में यूष के बीच रक्खे ॥ ७ ॥

चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाष्टर्चप्रथमया जुहुयादग्नावग्निरिति ॥ ८ ॥

'चतुर्गृहीतम् आज्यम्' (पूर्ववत्) गृहीत्वा 'अष्टर्चप्रथमया' अष्टाना मृचां समाहारोऽष्टर्चम् (म० ब्रा०२, २, १२-१९), तत्र या प्रथमा ऋक् तया "अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः। स नः स्योनः सुयजा यजा च यथा देवानां जनिमानि वेद" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, २, १२)-'इति' 'अनया जुहुयात्' गृहीतं तत् ॥ ८ ॥

भा०-पूर्वोक्त रीति से चार बार ग्रहण किया हुआ आज्य ले कर 'अग्नावग्निः' आदि आठ मन्त्रों में से "अग्नावग्निः" मन्त्र पढ़ कर हवन करे ॥ ८ ॥

सन्नीतात् तृतीयमात्र मवदाय द्वितीयातृतीयाभ्यां जुहोत्युत्तरस्यां स्वाहाकारं दधात्येव मेवावरेचतुर्थीपञ्चमीभ्याꣳ षष्ठीसप्तमीभ्याञ्च शेष मवदायसौविष्टकृतमष्टम्यां जुहुयात्॥९॥

'सन्नीतात्' (पूर्वोक्तात्) यूषपात्रे नीतात् बिल्वप्रमाणात् ओदनचरोः 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांशम् 'अवदाय' कर्त्तयित्वा 'द्वितीयातृतीयाभ्याम्' "औलूखलाः सम्प्रवदन्ति ग्रावाणो हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणाम्। एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा ज्योग् जीवेम बलिहृतो वयं ते ॥ १३ ॥ इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपं जातवेदः प्रतिहव्या गृभाय। ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषाꣳ सप्तानां मयि रन्ति रस्तु" (स्वाहा) ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, २, १३-१४)-इत्येताभ्या मृग्भ्यां 'जुहोति' जुहुयात्। तत्र च 'उत्तरस्याम्' तृतीयायाम् "इडायास्पदम्" इत्येतस्याम् एव अन्ते 'स्वाहाकारं दधाति' स्वाहापदं प्रयुञ्ज्यात्। 'अवरे' अपरे द्वे तृतीयमात्रे 'चतुर्थी-पञ्चमीभ्याम्' "एषैव सा या पूर्व्वा व्यौच्छत् से यमप्स्वन्तश्चरति प्रविष्टा। वधूर्जिगाय प्रथमा जनित्री विश्वे ह्यस्यां महिमानो अन्तः

॥ १५ ॥ एषैव सा या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनुरभद्विश्वरूपा । सम्वत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली” (स्वाहा) ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, २, १५–१६) इत्येताभ्याम् ऋग्भ्यां षष्ठीसप्तमीभ्यां “ यां देवाः प्रतिपश्यन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम् । सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तरा१ समाम् ॥१७ ॥ सम्वत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्रि यजामहे । प्रजा मजर्यां नः कुरु रायस्पोषेण मङ्सृज ” (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, २, १७–१८) इत्येताभ्यां जुहुयादिति । 'सौविष्टकृतम्' स्विष्टकृदर्थं 'शेषम्' इत्येताभ्या मृग्भ्यां 'च' एव मेव “ उत्तरस्यां स्वाहाकार ”–इत्येतन्नियमेनैव स्थालीपाकरीत्या यद्गृहीतम्, तत 'अवदाय' गृहीत्वा अष्टम्या, " अन्वियन्नो अनुमति र्यज्ञं देवेषु मन्यताम् । अग्निश्च हव्यवाहनः स नोऽदाहाद्दाशुषे मयः १९ । (म० ब्रा० २, २, १९) इत्यनयर्चा 'जुहुयात्' ९

भा०–पूर्वोक्त बिल्व की बराबर जो ओदनचरु मांस के साथ मिलाकर यूष में रक्खागया है, उस में से एक तिहाई लेकर द्वितीय और तृतीय मन्त्र से एक आहुति देवे, उस के तृतीय आहुति के अन्तमें 'स्वाहा' शब्दका प्रयोग करे । अपर दो तिहाई भी चतुर्थ और पञ्चम मन्त्र से ,एवं छठा और सातवां मन्त्र से, इसी नियम से अर्थात शेष मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' जोड़कर यथाक्रम दो आहुति देवे । मन्त्र के अन्त में अष्टम मन्त्र पढ़कर स्विष्टकृत यागके लिये पूर्वगृहीत (अलग कांसेके पात्रमें रक्खा) मांसखण्ड आदि होम करे ॥९॥

यद्युवा अल्पसम्भारतमः स्यादपि पशुनैव कुर्वीतापिवा स्थालीपाकं कुर्वीतापि वा गोग्रास माहरेदपि वारण्ये कक्ष मुपाधाय ब्रूयादेषा मेऽष्टकेति–न त्वेव न कुर्वीत न त्वेव न कुर्वीत । १० ॥ १ ॥

'यदि' 'उ' अपि 'वै' निश्चयेन 'अल्पसम्भारतमः' अत्याल्पायोजनः पुरुषः स्यात्, 'अपि' तथापि 'पशुना' सप्तानां ग्राम्याणां पशूनां अन्यतमेन येन केनापि ' कुर्वीत ' ' एव ' सम्पादयीतैव एतामष्टकाम् । अपि वा पश्वभावेऽपि 'स्थालीपाकं' 'कुर्वीत' एव । अपि वा' स्थालीपाककरणसामर्थ्याभावेऽपि 'गोग्रासम् आहरेत्';–एतेनापि सिद्धिस्मामाष्टकाकृत्यम् । अपि वा 'अरण्ये' 'कक्षम् उपाधाय' कक्षं दर्शयित्वा, ऊर्द्धबाहुर्भूत्वेति यावत्, एषा मे अष्टका'–'इति' 'ब्रूयात्' एतेनापि सिद्धिस्मामाष्टकाकृत्यम् । 'तु' प्रत्युत गोपश्वलाभे मांसाष्टकां 'न कुर्वीत'–इति 'न एव' । द्विर्वचनं प्रपाठकसमाप्तिद्योतकमिति समाप्ता मांसाष्टका । १० ॥ १ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ४॥१॥

भा०—यद्यपि विशेष सामग्री न कर सके, तथापि पशुद्वारा ही मांसाष्टका करे। यदि पशुद्वारा न कर सके तो स्थालीपाक द्वारा करे। दोनों के अभाव में गौको 'ग्रास देने से भी हो सकता है। उस के करने का भी सामर्थ्य न हो, तो वन में जाकर दोनों बाहू उठा कर कहे कि–'यही हमारा मांसाष्टका है' परन्तु 'मांसाष्टका' न करे ऐसा किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ १० ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके प्रथमखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ४। १।



श्वस्ततोन्वष्टक्य मपरश्वो वा ।१। दक्षिणपूर्वेऽष्टमदेशे परिव्रारयन्ति तथायतं तथामुखैः कृत्यम् ॥ २ ॥

'ततः' अष्टकाकार्यादनन्तरम्। 'श्वः' द्वितीयदिने 'अपरश्वः, तृतीयदिने 'वा' 'अन्वष्टक्यम्' अन्वष्टकाकृत्यं कुर्यादिति ॥१॥ स्वावासभूमौ 'दक्षिणपूर्वे' दक्षिण-पूर्वयोर्दिशोरन्तराले आग्नेयकोणे, 'अष्टमदेशे' स्वावासस्यानाष्टमे भागे, 'तथा-यतं' दक्षिणपूर्वायतं स्थानम्, 'तथामुखैः' आग्नेयाभिमुखैः स्थापित सम्भारा-दिभिः 'कृत्यम्' अन्वष्टक्यम् कार्यं यथा स्यादेव प्रशस्तं कृत्वा 'परिवारयन्ति' परितः आच्छादयन्ति, आच्छादयेयुर्जना यजमानकर्मकरा इति ॥२॥

भा०—अष्टका कार्य के दूसरे दिन, या उस के तीसरे दिन, 'अन्वष्टका' कार्य करे ॥ १ ॥ रहने के घर से अग्निकोण में, अष्टम भाग स्थान रोक कर, दक्षिण–पूर्वदिशा में विस्तृत, इस अग्निकोणाभिमुख स्थापित द्रव्यादि द्वारा कार्य सिद्ध करने के लिये रुकावट न हो, इस प्रकार उत्तम एक मण्डप बनावे ॥२॥

चतुरवरार्द्ध्यान् प्रक्रमान् पश्चादुपसञ्चार उत्तरार्द्धे परिवृतस्य लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्ति ॥३॥

'परिवृतस्य' तस्य मण्डपस्य 'अवरार्द्ध्यान्' अपरार्द्धेविदितान् 'चतुःप्रक्र-मान्' अन्यूनान् द्वादशपदभूमिं विहाय ततः 'पश्चात्' 'उपसञ्चारः' गमनागमन मार्गः भवेत्, 'उत्तरार्द्धे' तु 'लक्षणं' पूर्वोक्तं 'कृत्वा' 'अग्निं प्रणयन्ति' ॥३॥

भा०—उस मण्डप में ऊपर की ओर कमसे कम १२ बारह पग भूमि छोड़ कर, तत्पश्चात् आने जाने का रास्ता छोड़, नीचे के आधे भाग में 'लक्षण' कर उसमें अग्नि प्रणयन करे ॥ ३ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृंहयित्वा सकृत्संगृहीतं व्रीहिमुष्टि मवहन्ति सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्याम् ॥४॥

'अग्नेः पश्चात्' उलूखलं' दृंहयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र 'सकृत्' एकवारेणैव 'संगृहीतं' 'व्रीहिमुष्टिम्' कतिपयमुष्टिपरिमितं धान्यं यथा च कृत्यं सम्पद्येत 'सव्योत्तराभ्याम्' उभाभ्यामेव 'पाणिभ्यां' मुसलं गृहीत्वा 'अवहन्ति' अवहन्यात् ॥४॥

भा०—अग्नि के पश्चिम भाग में दृढ़ता के साथ उलूखल स्थापन कर, उस में एकही बार कईएक मुट्ठी धान्य लेकर, दोनों हाथ से मूसल पकड़ धान्य कूटे ॥४॥

यदा वितुषाः स्युः सकृदेव सुफलीकृतान् कुर्वीत ॥५॥

तेनावघातेन 'यदा' ते धान्यसंघाताः 'वितुषाः' विगततुषाः 'स्युः' तदा 'सकृदेव' एकवारेणैव तान् अवहतधान्यसमूहान् 'सुफलीकृतान्' शूर्पादिना तुषान् पृथक्कृत्य तण्डुलरूपान् 'कुर्वीत' ॥५॥

भा०—पूर्वोक्त प्रकार कूटने से धान्य आदि में जब भूसी न रहे, तब उसे सूपसे फटक कर, उस भूसी आदिको उड़ादेवे (यों तण्डुल तैयार करे) ॥५॥

अथामुष्माच्च सक्थ्नो माꣳसपेशीमवकृत्य नवायाꣳसूनायामणुशश्छेदयेद्यथा मांसाभिघाराः पिण्डा भविष्यन्तीति॥६॥

'अथ' अपरञ्च 'च' 'अमुष्मात्' अष्टकायै हतायाः गोः 'सक्थ्नः' रक्षितवामसक्थिभागात 'मांसपेशीम्' 'अवकृत्य' कर्त्तनेन गृहीत्वा 'नवायां' 'सूनायां' व्यञ्जनकर्त्तन्यां तथा 'अणुशः' छेदयेत्' 'यथा' कर्त्तिताः ते 'मांसाभिघाराः' घृतमिश्रिताः सन्तः 'पिण्डाः' पिण्डाकाराः भवेयुर्नाम ॥ ६ ॥

भा०—इधर, उस पूर्व-रक्षित वाम-ऊरु से मांस-पेशी आदि काट कर नये वर्त्तन में खण्ड २ कर काटे, इस प्रकार खण्ड २ करे, जिस में घी के ढार देते वह पिण्डाकार बन जावे ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्च मांसचरुञ्च पृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रसव्य मुदायुवन् ॥ ७ ॥

'तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च' उभावेव चरू 'पृथङ्मेक्षणाभ्यां' पृथक् पृथक् स्थापिताभ्यां मेक्षणद्वयाभ्यां 'प्रसव्यं' वामावर्त्तेन मेक्षणचालनं यथा स्यात् तथा 'उदायुवन्' ऊर्द्ध्वमीषन्मिश्रयन् 'श्रपयेत्' पचेदिति॥७॥

भा०—एक ही अग्नि पर 'ओदनचरु' और 'मांसचरु' को भिन्न २ रक्खेहुए मेक्षणद्वारा बांई ओर से चलावे और ऊपर को चलौना से उठा २ कर धर देखता हुआ पकावे ॥ ७ ॥

शृतावभिघार्य दक्षिणोद्वास्य न प्रत्यभिघारयेत् ॥ ८ ॥

'शृतौ' तौ चरू 'अभिघार्य' घृतेन, 'दक्षिणा' अग्नेर्दक्षिणतः 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'न प्रत्यभिघारयेत्' अष्टकाया मिवात्र प्रत्यभिघारणं न कुर्वीतेति ॥८॥

भा०—इन दोनों चरु के अच्छे प्रकार पक जाने पर, घी का ढार दे, अग्नि के दक्षिणभाग में उतारे, परन्तु उस में पूर्ववत् पुनः घी का ढार न देवे ॥ ८ ॥

दक्षिणार्द्धे परिवृतस्य तिस्रः कर्षूः खानयेत् पूर्वोपक्रमाः-प्रादेशायामाश्चतुरङ्गुलपृथिवीस्तथावखाताः ॥ ९ ॥

'परिवृतस्य तस्य मण्डपस्य 'दक्षिणार्द्धे' दक्षिणेंऽशे 'तिस्रः कर्षूः' त्रीन् गर्त्तान् 'खानयेत्'; ताश्च कर्षवः 'पूर्वोपक्रमाः' पूर्वदिगारभ्य क्रमेणारब्धाः, 'प्रादेशयामाः' प्रादेशपरिमितदीर्घाः, 'चतुरङ्गुलप्रशस्ताः, 'तथा अवखाताः' चतुरङ्गुलखातविशिष्टाः भवेयुरिति ॥ ९ ॥

भा०—उस मण्डप के दक्षिण भागमें तीन गढ़ा खुदवावे। इन गढ़ों की लम्बाई प्रादेशमात्र, चौड़ाई ४ अंगुल, चार ही 'अंगुल' गहराई भी होगी ॥ ९ ॥

पूर्वस्याः कर्ष्वाः पुरस्ताल्लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्त्यपरेण कर्षूः पर्याहृत्य लक्षणे निदध्यात् । १०, ११ ॥

'पूर्वस्याः कर्ष्वाः' प्रथमस्य गर्त्तस्य 'पुरस्तात्' 'लक्षणं' पूर्वोक्तरूपं 'कृत्वा' तत्र 'अग्निं 'प्रणयन्ति' प्रणयेयुरिति । किञ्च, 'अपरेण कर्षूः' कर्षूणाम् अपरपार्श्वेऽदूरे एव अग्निं 'पर्याहृत्य' परित आहृत्य 'लक्षणे' पूर्वोक्ते 'निध्यात्' स्थापयेत् । १०, ११ ॥

भा०—पहिला गड्हे के सामने लक्षण पूर्वक अग्नि प्रणयन करे और इन दो 'लक्षणों' से अग्नि लावे और उसे गड्हों के निकट दूसरे बगल में रक्खे ।१०,११।

सकृदाच्छिन्नं दर्भमुष्टिं स्तृणाति कर्षूश्च पूर्वोपक्रमाः।१२,१३॥

'आच्छिन्नं' ईषच्छिन्नं किञ्चिन्मूलच्छिन्नं 'दर्भमुष्टिम्' 'सकृत्' एकवारं 'स्तृणोति' स्तृणुयात्, अग्नेश्चर्दिक्षु। 'च' अपि'पूर्वोपक्रमाः' कर्षूः स्तृणुयादेव१२;१३

भा०—कुछ जड़ काटी हुई कुश मुट्ठी एक ही वार में अग्नि के चारों ओर बिछादेवे और पूर्वादि क्रमसे उस गड्हे में भी वही कुशमुट्ठी बिछावे॥१२, ॥१३॥

पश्चात् कर्षूणां स्वस्तर मास्तारयेद्दक्षिणाग्रैः कुशैर्दक्षिणाप्रवणम् । १४ वृषीञ्चोपदध्यात्तत्र ॥ १५ ॥

'कर्षूणां' गर्त्तानां 'पश्चात्' 'दक्षिणाग्रैः कुशैः' 'दक्षिणाप्रवणम्' 'स्वस्तरम्'

'आस्तारयेत्' । १४ 'तत्र' कर्षूणां पश्चादेव 'वृषीं' काष्ठासनं 'च' 'उपदध्यात्' स्थापयेदिति ॥ १५ ॥

भा०—इन तीनों गड्ढेके पश्चिम भागमें दक्षिणाग्र कई एक कुश से दक्षिणा प्रवणस्वरूप स्वस्तरास्तरण करे १५। उसी स्थान में पटा भी रक्खे ॥ १५ ॥

अस्मा आहरन्त्येकैकशः सव्यं बाहु मनु चरुस्थाल्यौ मेक्षणे कंसं दर्वी मुदक मिति ॥ १६ ॥

'अस्मै' अस्य यजमानस्य 'सव्यं बाहुम् अनु' लक्षीकृत्य वामभागे इति यावत् 'चरुस्थाल्यौ' मांसौदनयोः 'मेक्षणे' अन्नाद्यावर्त्तनसाधने 'कंसम्' अन्नाद्याधारभूतं कांस्यपात्रम् 'दर्वीम्' परिवेशनसाधनम् 'उदकम्' च 'एकैकशः' क्रमात् 'आहरन्ति' आहृत्य स्थापयेयुः ॥ १६ ॥

भा०—इस यजमान के बाईं ओर मांस और चरुकी दो हांडी एवं दोनों के चलौना और जल से रक्खे ॥ १६ ॥

पत्नी बर्हिषि शिलां निधाय स्थगरं पिनष्टि तस्यामेवाञ्जनं निघृष्य तिस्रो दर्भपिञ्जलीरञ्जलि सव्यन्तरास्तैलञ्चोपकल्पयेत् क्षौमदशाञ्च । १७—२० ॥

'पत्नी' यजमानस्य 'बर्हिषि' कुशोपरि 'शिलां' पेषणाधारभूतां 'निधाय' संस्थाप्य तत्र 'स्थगरं' चन्दनादिकं गन्धद्रव्यं 'पिनष्टि' पेषणं कुर्यात् । किञ्च 'तस्याम्' एव शिलायाम् 'अञ्जनं' सौवीरं 'निघृष्य' घर्षयित्वा तेन 'तिस्रः दर्भपिञ्जलीः' 'स-व्यन्तराः' व्यन्तरः पुनःपुनरवकाशः, तत्सहिताः कृत्वा 'अञ्जलि' अञ्जत् । 'च' अपि 'तैलञ्च' 'उपकल्पयेत्' करतलमर्द्दनादिना पेषणेनैव वा तिलानाम् । क्षौमदशां' क्षुमनिर्मितवसनस्य 'दशां' प्रान्तस्थितदशास्थसूत्रम् 'च' अपि 'उपकल्पयेत्' क्षौमवसनप्रान्ततो निष्कास्य रक्षेत् । १७–२० ॥

भा०—यजमान की स्त्री बिछाए हुए कुश के ऊपर शिला (पत्थर) रक्खे, उस पर चन्दनादि पीसे । एवं उस में 'अञ्जन' घिस कर, उस अञ्जन से तीन दर्भपिंजुली थोड़ी २ दूर पर रंगे । उसी शिला पर तेल भी सम्पादन करे एवं रेशमी कपड़े के किनारे से सूत निकाल कर रक्खे ॥ १७, १८, १९, २०॥

शुचौ देशे ब्राह्मणाननिन्द्यानयुग्मानुदङ्मुखानुपवेश्य दर्भान् प्रदायोदकपूर्वं तिलोदकं ददाति पितुर्नाम गृहीत्वाऽसाववनेनिक्ष्व तिलोदकं ये चात्र त्वा मनुयांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति ॥ २१ ॥

'शुचौ देशे' पवित्रे स्थाने (कर्षूणां 'दक्षिणत एव, यथा च तेषामग्रत एव कर्षूपिण्डाः स्युः) 'अनिन्द्यान्' पाङ्क्तेयान्' 'अयुग्मान्' त्रीन् 'ब्राह्मणान्' 'उदङ्मुखान्' 'उपवेश्य' तेभ्यो 'दर्भान्' आसनार्थं 'प्रदाय' 'पितुः' स्वस्य 'नाम' 'गृहीत्वा' "असावेतत्ते"–इत्यादिकमन्त्रेण 'उदकपूर्वं' उदकदानपूर्वम्, 'तिलोदकम्' तिलैर्मिश्रित मुदकं 'ददाति' दद्यात् ॥ २१ ॥

भा०–उन गड्ढे के दक्षिणभाग में कुशासन पर तीन अनिन्द्य ब्राह्मणों को उत्तर मुंह बिठला कर अपने पिता का नाम धर, उन में से एक ब्राह्मणके हाथ में कुछ जल देकर, तत्पश्चात् "असावेतत्ते"–इत्यादि मन्त्र पढ़ कर तिल मिला जलदान देवे ॥ २१ ॥

अथ उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ २२ ॥

'इतरयोः' स्वपितामहप्रपितामहयोः प्रतिनिधिब्राह्मणयोः अपि 'एव मेव' उदकपूर्वं तिलोदकदानम्, परम् 'अप उपस्पृश्य' जलस्पर्शनं कृत्वा । एकस्मै ब्राह्मणाय स्वपितृनामोच्चारणपूर्वक मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च कृत्वा ततो जलस्पर्शनं हस्तधौतं कृत्वैवापरस्मै द्वितीयब्राह्मणाय स्वपितामहनामोच्चारणपूर्वक मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च प्रकृत्य ततः पुनरपि जलस्पर्शं प्रकृत्य तृतीयब्राह्मणाय स्वप्रपितामहनामोच्चारणपूर्वक मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च कुर्यादिति ॥ २२ ॥

भा०–पितामह और प्रपितामह के प्रतिनिधि स्वरूप अन्य दो ब्राह्मणों को भी इसी प्रकार जल देकर तिल जल दान करे । परन्तु एक को देने पर, दूसरे को देने के पहिले, हाथ धो लिया करे ॥ २२ ॥

तथा गन्धान्॥२३॥अग्नौ करिष्यामीत्यामन्त्रणꣳहोष्यतः॥२४॥

'गन्धान्' अपि तेभ्यः 'तथा' एव दद्यात् । २३ । 'होष्यतः' होमं करिष्यतो यजमानस्य "अग्नौ करिष्यामि" 'इति' उक्त्वा 'आमन्त्रणं' कर्त्तव्य मिति ॥२४॥

भा०–गन्धादि भी उसी प्रकार उनको देवे ॥ २३ ॥ होम करने के पहिले यजमान उन तीनों ब्राह्मणों को पूछे, कि–अग्निमें पितृगण की अर्चना करूं ? ॥२४॥

कुर्वित्युक्ते कꣳसे चरू समवदाय मेक्षणेनोपघातं जुहुयात् स्वाहा सोमाय पितृमत इति पूर्वाꣳस्वाहाग्नये कव्यवाहनायेत्युत्तराम् । २५ ॥ २ ॥

तैः आमन्त्रितब्राह्मणैः "कुरु"–'इति' 'उक्ते' होमकरणे प्रवृत्तो यजमानः

'कंसे' कांस्यपात्रे 'चरू' ओदनचरुं मांसचरुञ्च 'समवदाय' एकीकृत्य 'मेक्षणेन' तदीयं किञ्चिद् गृहीत्वा 'उपघातं जुहुयात् उपघातनामहवनं यागारम्भसूचकं होमं कुर्यात्। तत्र 'पूर्वाम्' आहुतिं "स्वाहा सोमाय पितृमते"–इति, 'उत्तराम्' आहुतिं "स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय"–'इति'। २५॥ २॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानंसमाप्तम्४।२

भा०–वे तीनों ब्राह्मण (जिनसे पूछा गया)एक वाक्य से 'करो' ऐसा कहैं। इस पर यजमान कांसे के बर्त्तन में मांसचरु,और ओदनचरु,दोनों चरु एकत्र ले कर उस में से थोड़ासा मेक्षण द्वारा ले कर उपघात होम * करे। उन में से "स्वाहा सोमाय पितृमते" इस मन्त्र से प्रथम आहुति देवे, और "स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय" इस मन्त्र से दूसरी आहुति देवे॥ २५. २॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके द्वितीय खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ४।२



अत ऊर्द्ध्वं प्राचीनावीतिना वाग्यतेन कृत्यम्॥ १॥

'अतः ऊर्द्ध्वम्' इत आरभ्य अन्वष्टक्यसमाप्तिं यावत्। 'प्राचीनावीतिना' दक्षिणस्कन्धत उपवीतं धृत्वा, 'वाग्यतेन' नियतवाग् भूत्वा 'कृत्यम्' एतदन्वष्टक्यं नाम कार्यमिति॥ १॥

भा०:–इसके पश्चात् 'अन्वष्टका' कार्य की समाप्ति पर्यन्त जो २ क्रिया करनी पड़ेगी, उस में 'प्राचीनावीति' (प्र० १ ख० १ सू० ३.४) होकर करे और उस समय प्रयोजन से अधिक वाक्य व्यवहार न करे॥ १॥

सव्येन पाणिना दर्भपिञ्जूलीं गृहीत्वा दक्षिणाग्रां लेखा मुल्लिखेदपहता असुरा इति॥ २॥

'सव्येन' वामेन 'पाणिना' 'दर्भपिञ्जूलीं' स्वस्तरात्'गृहीत्वा' दक्षिणे पाणौ "अपहता असुरा रक्षांꣳसि वेदिषदः" ॥३५॥ (म० ब्रा० २. ३. ३)–इति मन्त्रेण 'दक्षिणाग्रां लेखाम्' तयैव पिञ्जूल्या 'उल्लिखेत्' तासु कर्षूष्विति॥ २॥

भा०:–बांयें हाथ में 'स्वस्तर' से एक 'दर्भ पिञ्जूली' लेकर दहिने हाथ में लेते हुए, उस के द्वारा "अपहता असुरा" इस मन्त्र से उन तीन कर्षू से क्रम से दक्षिण मुंह रेखापात करे॥ २॥

सव्येनैव पाणिनोल्मुकं गृहीत्वा दक्षिणार्द्धे कर्षूणां नि-

* आरम्भ सूचक होम को 'उपघात' होम कहते हैं॥

दध्याद्ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना इति ॥ ३ ॥

'सव्येन एव पाणिना' 'उल्मुकं ज्वलदग्निं 'गृहीत्वा' आनीय दक्षिणे पाणौ 'कर्षूणां' तासां मध्ये 'दक्षिणार्द्धे' (तथा च रेखापातमुखे इति फलितम्) "ये रूपाणि प्रति मुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात् प्रणुदत्वस्मात्" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ४)-इति मन्त्रं सर्वत्रैव पठन् तं हस्तस्थ मुल्मुकं 'निदध्यात्' स्थापयेत् ॥ ३ ॥

भा०:-वाम हाथ में जलती आग लेकर दहिने हाथ में रक्खे, उस कर्षू आदि के मध्य में रेखा पात के अगले भाग में "ये रूपाणि" यह मन्त्र पढ़ कर स्थापन करे ॥ ३ ॥

अथ पितॄनावाहयत्येत पितरः सोम्यास इति ॥ ४ ॥

'अथ' अनन्तरम्। तत्रैव "एत पितरः सोम्यासो गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभिः। दत्तास्मभ्यं द्रविणेह भद्रꣳ रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छत" ॥५॥ (म० ब्रा० २, ३, ५)-'इति' 'पितॄन्' पितृपितामहप्रपितामहान् यथाक्रमेण 'आवाहयति' आवाहयेदिति ॥ ४ ॥

भा०:-अनन्तर, उन्हीं तीन कर्षू मे एक ही समय पिता, पितामह, और प्रपितामह, इनतीन व्यक्तियोंको "एत पितरः" मन्त्र पाठानुसार आवाहन करे॥४

अथोदपात्रान् कर्षूषु निदध्यात् ॥ ५ ॥

'अथ' आवाहनानन्तरम्, 'कर्षूषु' 'उदपात्रान्' त्रीन् एकैकक्रमेण 'निदध्यात्' स्थापयेदिति ॥ ५ ॥

भा०:-इस के अनन्तर, उन कर्षू आदि में एक २ जलपात्र रक्खे ॥ ५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निनयेत् पितुर्नाम गृहीत्वासाववनेनिक्ष्व ये चात्र त्वा मनु याꣳश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेति ॥६॥

'सव्येन एव पाणिना' 'उदपात्रं' इतः पूर्वमेव स्थापित मुदकपात्रं 'गृहीत्वा' तदुदकपात्रस्थं जलम् 'अवसलवि' दक्षिणहस्तवृद्धाङ्गुष्ठमूलेन पितृतीर्थेन पथा 'पितुर्नाम गृहीत्वा' स्वपितृनामग्रहणपूर्वकं "असाववनेनिक्ष्व"-इति मन्त्र पठन् 'पूर्वस्यां कर्ष्वां' पातिता ये दर्भाः, तेषु 'दर्भेषु' 'निनयेत्' आहूतं पितरं प्रापयेदिति ॥ ६ ॥

भा०:-बांयें हाथसे कर्षू के पास रक्खे हुए जलपात्र को लेकर दहिने हाथ

के अंगुठे की जड़ से जल ढार कर, उस जल को पिता का नाम लेकर "असौ अवने निक्ष्व"-इत्यादि मन्त्र पढ़ कर पहिले से रक्खे हुए कर्षू के ऊपर दर्भ में आहूत अपने पिता को-प्राप्त करावे; इसी को 'निनयन' कहते हैं ॥ ६ ॥

अप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ७ ॥

'इतरयोः' पितामहप्रपितामहयोरर्थयोरपि निनयनम् 'एवमेव' कार्यम् अपरयोः कर्ष्वोर्यथाक्रमेणेति । तत्र च प्रतिवारम् अप उपस्पर्शनं कर्त्तव्यमिति॥७॥

भा०:-पितामह और प्रपितामह के उद्देश से भी इसी प्रकार 'निनयन' करे; परन्तु प्रतिवार जल स्पर्श करे। अर्थात् पितृनिनयन के पीछे हाथ धोकर पितामह 'निनयन' करे, फिर हाथ धोकर, प्रपितामह के लिये निनयन करे ॥७॥

सव्येनैव पाणिनादर्वीं गृहीत्वा सन्नीतात् तृतीयमात्र मवदायावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेष ते पिण्डो ये चात्र त्वा मनु यांश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ८ । ९ ॥

यथा पूर्वं निनयनं कृतम् तथैव तिसृष्वेव कर्षूषु पिण्डदानञ्च कार्य मिति फलितार्थः । अत्र मन्त्रे "असावेष ते पिण्डः"-इत्येव विशेषः । पूर्वस्यापिता 'दर्वीम्' । 'सन्नीतात्' पूर्वं कांस्यपात्रे ओदनचरुर्मांसचरुश्च सन्नीतः, तस्मात् । 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांश मिति ॥ ८ ॥ ९ ॥

भा०-पूर्वगृहीत कांसे के पात्र में मिला हुआ चरु, दर्वी द्वारा काटकर तीन भाग करे और एक २ कर क्रम से (बीच २ में हाथ धोले) कुश के ऊपर अपने पिता का नाम ले कर "असावेष ते पिण्डः"-इस मन्त्र से यथाक्रम तीन पिण्ड दान करे ॥ ८ ॥ ९ ॥

यदि नामानि न विद्यात स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्य इति प्रथमं पिण्डं निदध्यात स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्य इति द्वितीयं स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्य इति तृतीयम्॥१०॥

'यदि' 'नामानि' पित्रादीनाम्, 'न विद्यात्'? तर्हि 'प्रथमं पिण्डं' "स्वधा०"-'इति' मन्त्रेण 'निदध्यात्' तत्र कर्षूमध्ये पूर्ववदित्येव;-'द्वितीयं' पिण्डं "स्वधा०"-'इति' मन्त्रेण निदध्यादित्येव;-'तृतीयं' पिण्डं "स्वधा०"-इति मन्त्रेण निदध्यादित्येव ॥१०॥

भा०-यदि पिता का नाम स्मरण न हो, तो, पहिला पिण्ड पृथिवी स्थायी

पितृगण के लिये, द्वितीय पिण्ड अन्तरिक्ष स्थायी पितृगण के निमित्त एवं तृतीय पिण्ड द्युलोकस्थ पितृगण के निमित्त, उन्हीं कर्षूओं के बीच पूर्वोक्तानुसार स्थापित करे ॥ १० ॥

निधाय जपत्यत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग मावृषायध्व मित्यपर्यावृत्त्य ॥ ११ ॥ पुरोच्छ्वासादभिपर्यावर्त्तमानो जपेदमी मदन्त पितरो यथाभाग मा वृषायिपतेति ॥१२॥

पिण्डान् त्रीनेव तिसृषु कर्षूषु यथोपदिष्टं 'निधाय' 'अपर्यावृत्य' पर्यावर्त्तनं वर्जयित्वा एकत्रैव स्थितो यजमानः "अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २. ३. ६) 'इति' मन्त्रं 'जपति' जपेदिति ॥११॥ 'उच्छ्वासात्' नासिकया श्वासत्यागात् 'पुरा' प्रागेव 'अभिपर्यावर्त्तमानः' तिस्रः कर्षूः अभिव्याप्य 'परि' सर्वतः (अनुलम्फनेनेति भाव) 'आवर्त्तमानः' आवर्त्तनं कुर्वाणो यजमानः "अमी मदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत" ॥७। (म० ब्रा० २.३.७) 'इति' इमं मन्त्रं जपेत् अभिपर्यावर्त्तनञ्चैतद्वामत एव पैत्रे सव्यस्यैव सर्वत्र विधानात् ॥ १२ ॥

भा०—उन्हीं तीन गड्ढों में पूर्वोक्त रीति से स्थापन करने के पीछे यजमान एक स्थान में बैठ कर "अत्र पितरः" यह मन्त्र पढ़े ॥११॥ एक निःश्वास के काल को बराबर बाईं ओर से गड्हे आदि की परिक्रमा कर आवे और उसी समय "अमी मदन्त" मन्त्र का पाठ करे॥१२॥

सव्येनैव पाणिना दर्भपिञ्जूलीं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्त आञ्जनं ये चात्र त्वा मनु यांश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ १३ । १४ ॥

यथा पूर्वं निनयनं पिण्डदानञ्च कृतम्, तथैव 'दर्भपिञ्जूलीं' पत्नया सौवीराञ्जनेनाक्तां स्थितां क्रमतोऽप उपस्पृश्य पिण्डानामुपरि दद्यादिति। तदत्र मन्त्रे "असावेतत्त आञ्जनम्"—इत्येव विशेषः। १३, १४ ॥

भा०—बांये हाथ में, उस अञ्जन से रंगा—कुश की तीन पिंजूली ले कर दहिने हाथ के अंगुठे की जड़से पूर्व आदि तीन गड्हा में स्थित तीन पिण्ड के ऊपर एक२ क्रम से "असावेतत् त आञ्जनम्—मन्त्र पढ़ कर, प्रदान करे।और प्रथम और द्वितीयपिण्ड परपिञ्जूली देनेके पीछे एक२ वारहाथ धोवे ॥१३,१४॥

तथा तैलं तथा सुरभि ॥ १५ । १६ ॥

'तथा' पिञ्जूलीदानोक्तप्रकारेणैव 'तैलं' पत्न्यापादितं तेनैव मन्त्रेण तास्वेव कर्षूषु दद्यात् । किन्तु 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'सुरभि पत्न्या' पिष्टं स्थगरं तेनेव मन्त्रेण तास्वेव कर्षूषु दद्यात् । पर मुभयत्रैव "असावेतत्ते तैलम्"—इति, "असावेतत्ते सुरभि"—इति चोहनं कर्त्तव्य मेव ॥ १५ । १६ ॥

भा०—तदन्तर इस पिञ्जूली दानके अनुसार इस मन्त्र से उस २ के ऊपर तैल एवं सुगन्धि (चन्दनादि) प्रदान करे । विशेषता—मन्त्र में यह होगी कि 'आञ्जन' शब्द के बदले 'तैल' और 'सुरभि' शब्द व्यवहृत होंगे ॥ १५। १६ ॥

अथ निन्हुते पूर्वस्यां कर्ष्वां दक्षिणोत्तानौ पाणी कृत्वा नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूषायेति मध्यमायाᳯसव्योत्तानौ नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसायेत्युत्तमायां दक्षिणोत्तानौ नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यव इत्यथाञ्जलिकृतो जपति नमो वः पितरः पितरो नमो व इति ॥ १७—२१ ॥

'अथ' सुरभिदानानन्तरं 'निह्नुते' निह्नवनं नमस्करणं कार्यमिति । तत्र 'पूर्वस्याम्' 'उत्तमायां' च 'कर्ष्वां' 'दक्षिणोत्तानौ' 'पाणी' कृत्वा' 'मध्यमायां' तु 'सव्योत्तानौ' पाणी कृत्वा' ततो तिसृष्वेव कर्ष्वेकदैव 'अञ्जलिकृतः' जपति जपेत् यथाक्रमेण चतुरो मन्त्रान् "नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूषाय ।८। नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसाय ।९। नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यवे । १०। नमो वः पितरः पितरो नमो वः ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ८—११)—इत्यादिकानिति ॥ १७—२१ ॥

भा०:—अनन्तर पहिला पिण्ड पर दक्षिणोत्तान दोनों हाथ (दक्षिण करतल ऊपर को [चित्त] रहे एवं उसके ऊपर वायां करतल नीचे को हो) तत् पश्चात् मध्यम पिण्ड पर वामोत्तान दोनों हाथ (वायां करतल ऊर्द्ध मुख और उसके ऊपर दक्षिण करतल अधो मुख) पर अनन्तर शेष पिण्ड पर, पुनः दक्षिणोत्तान दोनों हाथ पर सब के अन्त में समस्त पिण्ड लक्ष्य कर अञ्जलि पूर्वक "नमो वः" इत्यादि चार नमस्कार करे ॥ १७—२१ ॥

गृहानवेक्षते गृहान् नः पितरो दत्तेति । २२ । पिण्डानवेक्षते सदो वः पितरो देष्मेति ॥ २३ ॥

ततः 'गृहान्' स्वगृहिणीम् 'अवेक्षते' अवेक्षेत; "गृहान्नः पितरो दत्त"॥१२॥ (म० ब्रा० २, ३, १२)–'इति' मन्त्रं पठन्निति ॥ २२ ॥ "ततः सदो वः पितरो देष्म" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १३)–'इति' मन्त्रं पठन् 'पिण्डान्' तानेव 'अवेक्षेतेति ॥ २३ ॥

भा०:–अनन्तर "गृहान्नः" इस मन्त्र को पढ़कर गृहिनी को देखे ॥ २२ ॥ इसके अनन्तर 'सदोवः पितरो' मन्त्र का पाठकर पिण्ड आदि देखे ॥२३॥

सव्येनैव पाणिना सूत्रतन्तुं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्ते वासो ये चात्र त्वा मनु याꣳश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः । २४, २५ ॥

पत्न्या सम्पादिता क्षौमदशा, त एव एकैकं 'सूत्रतन्तुं' 'गृहीत्वा' पूर्वादिषु कर्षूषु क्रमात् पित्रादिनामग्रहणपूर्वकं निदध्यात् । मन्त्रे तु "एतद्वः पितरो वासः" ॥ १४ ॥–इत्येव विशेषः । अत्रापि द्वितीयतृतीययोरप उपस्पर्शनं कार्य मेव ॥ २४, २५ ॥

भा:०–पत्नी कर्तृक सम्पादित उस रेशमी कपड़े के किनारे से एक २ सूत लेकर पूर्वादि गड्ढे क्रम से पिता आदि के नाम ले २ कर "यह तुम्हारा वास है" इत्यादि मन्त्र से पिण्ड आदि के ऊपर प्रदान करे ॥ २४,२५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वावसलवि पिण्डान् परिषिञ्चेदूर्जं वहन्तीरिति । २६ । मध्यमं पिण्डं पुत्रकामा प्राश्नीयादाधत्त पितरो गर्भ मिति ॥ २७ ॥

'उदपात्रं' पूर्वमेव स्थापितं तत् 'सव्येनैव पाणिना गृहीत्वा 'अवसलवि' पितृतीर्थेन "ऊर्जं वहन्ती रमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतꣳस्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्" ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १५)–'इति' मन्त्रेण 'पिण्डान्' त्रीन् एकदैव 'परिषिञ्चेत् ॥ २६ ॥ 'पुत्रकामा पत्नी' "आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषः स्यात् ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १६) 'इति' मन्त्रं पठती 'मध्यमं पिण्डम्' समग्रं तदीयं किञ्चिदंशं वा 'प्राश्नीयात्' ॥ २७ ॥

भा०:–पूर्व स्थापित उस जल पात्र को बायें हाथ में लेकर पहिले की नाईं 'पितृतीर्थ' मार्ग से अंगुठे से एक ही बार में तीन पिण्ड पर "ऊर्ज्जं वहन्ती" मन्त्र से परिषिञ्चन करे ॥२६॥ पुत्र की कामना वाली पत्नी "आधत्त" इस मन्त्र का पाठ कर मध्यम पिण्ड को सब, या थोड़ा भक्षण करे ॥२७॥

यो वा तेषां ब्राह्मणाना मुच्छिष्टभाक् स्यात् ॥ २८ ॥ अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा इत्युल्मुक मद्भिरभ्युक्ष्य द्वन्द्वंपात्राणि प्रक्षाल्य प्रत्यतिहारयेत् ॥ २९ ॥

'उच्छिष्टभाक्' दौहित्रः श्रद्धासमन्वितश्च । प्राश्नीयादित्येव । २८। "अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा अवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा । प्रादात् पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन् प्रजानन्नग्ने पुनरेहि योनिम्" ॥ १७ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १७) 'इति' मन्त्रं पठन् 'उल्मुकं' कर्षूदक्षिणार्द्धे स्थापितम् 'अद्भिः' 'अभ्युक्ष्य' तदीयेनैव भस्मना 'द्वन्द्वं' यथा स्यात् तथा 'पात्राणि' चरुस्थाल्यादीनि 'प्रक्षाल्य' 'प्रत्यतिहारयेत्, आनयेत् शिष्यादिनेति ॥ २९ ॥

भा०:—उन ब्राह्मणों के जो कोई, उच्छिष्ट भाक् हों (बचा हुआ खाने वाला) वे भी इन २ पिण्डों को समस्त, या कुछ अंश खा सकते हैं ॥ २८ ॥ "अभून्नो" इस मन्त्र को पढ़कर गड्हे आदि के दक्षिणार्द्ध में रखा इंगोरा पर जल छिड़के एवं उस भस्म पर चरुस्थाली पात्र आदि धोकर लावे ॥२९॥

अप्सु पिण्डान्त्सादयेत् प्रणीते वाग्नौ ब्राह्मणं वा भोजयेद् गवे वा दद्याद् । ३०–३३ ॥ वृद्धिपूर्त्तेषु युग्मानाशयेत् प्रदक्षिण मुपचारः । ३४, ३५ ॥ यवैस्तिलार्थः । ३६ ॥ ३ ॥

तान् त्रीनेव 'पिण्डान्' भुक्तशेषान् वा पिण्डांशान् 'अप्सु' नद्यादिषु 'सादयेत्' निक्षिपेत्। 'वा' अथवा 'प्रणीते अग्नौ' तत्रैव सादयेदित्येव, 'वा' अथवा 'ब्राह्मणं' यं कमपि क्षुधातुरं 'भोजयेत्'। 'वा' अथवा 'गवे' यस्यै कस्यै चिद् दद्यादिति समाप्त मन्वष्टक्यम् । ३०–३३ । श्राद्धप्रसङ्गात वृद्ध्यादिषु विशेष मुपदिशति:—वृद्धिः शरीरवृद्ध्यनुसारतः सम्पाद्या अन्नप्राशनादिका, पूर्त्तास्तु वापीकूपतडागादयः, तेष्वपि कर्त्तव्येषु तत्तत्कर्मणः प्रागेव अन्वष्टक्यवत् पित्रर्चनं कर्त्तव्य मिति। विशेषतस्तु तेषु 'युग्मान्' ब्राह्मणान् 'आशयेत्' इह तु 'अयुग्मान्—इत्युक्तम् (प्र० ४ खं० २ सू० २१) किञ्च इहोपचारे 'प्रसव्यम्' इत्युक्तम् (प्र०४ खं०२ सू०७) वृद्ध्यादिषु तु 'प्रदक्षिणम्' यथा स्यात् तथा 'उपचारः' कर्त्तव्यः इति । ३४, ३५ अथ तेषु द्रव्यातिदेश उच्यते । तिलैः यः अर्थः प्रयोजनं भवेत, यवैः अपि स एवार्थः सिद्धेदिति ।३६ ॥३॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठके तृतीयखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥३॥

भा०:—उन सब पिण्डों को जल में फेंक देवे, या उसी अग्नि में डाले या किसी भूखे ब्राह्मण को भोजन करावे, या किसी गौ को खिलावे। वृद्धि * और पूर्त**के उपलक्षमें पितृलोक की अर्चना समय भी पूर्वोक्त अनुष्ठान सब करना चाहिये। विशेषतः—अन्वष्टका कार्यमेंअयुग्म(१,३,आदि)ब्राह्मण कीव्यवस्था है, यहां जोड़ा (२, ४ आदि) ब्राह्मण भोजन करावे एवं अन्वष्टका कार्य में वामावर्त्त में चरु पाक करने का नियम है, यहां दक्षिणा वर्त्त में चरु पाक करे ३४।३५ तिल से जो २ कार्य कहे गये हैं, यव से भी वह २ कार्य होंगे ॥ ३६ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थप्रपाठक के तृतीयखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ।३६।३॥



अन्वष्टक्यस्थालीपाकेन पिण्डपितृयज्ञो व्याख्यातः ॥ १ ॥

'पिण्डपितृयज्ञः' पिण्डं शरीरं, भस्मीभूतं तदुपलक्ष्य यत् पितृपुरुषस्यार्चनम्, तदेव कर्म पिण्डपितृयज्ञइत्युच्यते। स च यज्ञो ऽनेनैव पुरस्तादुक्तेन अन्वष्टक्यविहितेन स्थालीपाकेनैव 'व्याख्यातम्'। तत्र स्थालीपाकनियमो यथा विहितः, अत्रापि तथैवेत्यतिदेशः। १।

भा०:—अन्वष्टका कार्य में स्थाली पाक की जो व्यवस्था कियी है, पिण्ड पितृ यज्ञ में भी उसी प्रकार जानना ॥ १ ॥

अमावास्यायां तच्छ्राद्धम् ॥२॥ इतरदन्वाहार्यं मासीनम् ।३। दक्षिणाग्नौ हविषः सꣳस्करणं तत्रैवातिप्रणयः ४,५॥

'तत्' पिण्डपितृयज्ञं कर्म 'श्राद्धम्'–इत्याचक्षते, 'अमावास्यायाम्' पित्रादिमरणानन्तरं प्रथमाया मेव वर्षमध्ये यस्यां कस्याञ्चिद्वा कर्त्तव्यम्। २। 'इतरत्' अपर मपि श्राद्धम्, 'मासीनम्' मासि मासि क्रमेण संवत्सरं यावत् 'अन्वाहार्यम्' प्रथम मनु प्रथम मिव व्यवहार्यम्। ३। आहिताग्नेरिति ॥ ४, ५ ॥

भा०:—उस पिण्ड पितृयज्ञ–श्राद्ध को पिता आदि के वियोग होने पर, प्रथम अमावास्या को करे॥२॥न होने से वर्षकी जिसकिसी अमावास्या को करे अपर ११ अमावास्या को भी११श्राद्ध इसी प्रकार करे ।३।आहिताग्नि यजमानगण, इस श्राद्ध के हवि को, दक्षिणाग्नि में संस्कृत करें और उसी में पूर्वोक्त अति प्रणय करें ॥ ४,५ ॥

शालाग्नावनाहिताग्नेः ॥ ६ ॥ एका कर्षूः ॥ ७ ॥ तस्या दक्षिणतोऽग्नेः स्थानम् ॥ ८ ॥

* शरीर वृद्धि अनुसार अन्नप्राशन आदि संस्कार ॥ ** वापी, कूप, तालाब आदि का खोदवाना ॥

अनाहिताग्नेः 'शालाग्नौ' गृह्याग्नौ एव । ६ । नात्रान्वष्टक्यवत् कर्षूत्रयमिति भावः । ७ । 'तस्याः' कर्ष्वाः । नान्वष्टक्यवत् पूर्वत इति भावः ॥ ८ ॥

भा०:—अनाहिताग्नि के गृह्यअग्नि में वह सम्पन्न होगा।६। इस स्थान में अन्वष्टका कार्यकी नाईं तीन कर्षू न होंगे, ।७।वरण एक ही कर्षू होगा उस कर्षू के दक्षिण ओर में अग्निस्थान होगा; अन्वष्टका कीनाईं कर्षू के पूर्व भागमें होगा।८।

नात्रोल्मुकनिधानं न स्वस्तरो नाञ्जनाभ्यञ्जने न सुरभि न निन्हवन मुदपात्रान्तो वासस्तु निदध्यात् । ९—१५ ॥

'अत्र' पिण्डपितृयज्ञे अन्वष्टक्यवत् 'उल्मुकनिधानं' 'स्वस्तरः', 'अञ्जनाभ्यञ्जने', 'सुरभि' 'निह्नवनं' च 'न' भवति, ततश्च 'उदपात्रान्तः' एवासौ यज्ञः, 'तु' अपि अत्र 'वासः निदध्यात्' न अन्वष्टक्यवत् दशासूत्रमिति समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा । ९—१५

भा०:—इस पिण्ड पितृ-यज्ञ में अन्वष्टका कार्य की नाईं "उल्मुक निधान," "स्वस्तर," "अञ्जनाभ्यञ्जन," "सुरभिदान," और "निह्नवन" न करे सुतरां यह उदपात्रान्त ही समाप्त होगा, एवं इस में पिण्ड पर अन्वष्टका कार्य की नाईं सूत न देकर वस्त्र डाले॥ ९—१५ ॥

माघ्या ऊर्द्ध्व मष्टम्यां स्थालीपाकः ॥ १६ ॥

माघमासीयपौर्णमास्याः परस्तात् कृष्णाष्टम्यां तृतीयाष्टका शाकाष्टकाख्या कर्त्तव्या, तत्र स्थालीपाकः पूर्ववत् पक्तव्यः ॥ १६ ॥

भा०:—माघी पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी, । तिथिको "शाकाष्टका" नामक तृतीय अष्टका करने और उस में भी पूर्ववत् स्थालीपाक करना चाहिये ॥१६॥

तस्य जुहुयादष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृतान्यच्छाकं व्यञ्जन मन्वाहार्यम् ॥१७—२० ॥

सर्वं पूर्ववत्, विशेषतस्त्विह 'शाकं' नाम 'व्यञ्जनं' भोजनोपकरणम् 'अन्वाहार्य्यम्' भवेदिति शाकाष्टका ॥ १७—२० ॥

भा०:—उस स्थालीपाक का कुछ अंश "अष्टकायै स्वाहा" मन्त्र से होमकरे; और अन्यान्य कार्य भीस्थाली पाक की नाईं होंगे । विशेषत इस में शाक व्यञ्जन लाना चाहिये ॥ १७—२० ॥

अथ पितृदैवत्येषु पशुषु वह वपां जातवेदः पितृभ्य इति वपां जुहुयाद्देवदेवत्येषु जातवेदो वपयागच्छ देवानि-

त्यनाज्ञातेषु तथादेशं यथाष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ २१–२४ ॥

'अथ' अष्टकाविधानसमनन्तरम् । सर्वत्रैव 'पितृदैवत्येषु पशुषु' "वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैन्वेत्थ निहितान् पराचः । मेदसः कुल्या अभितान्त् स्रवन्तु सत्या एषा माशिषः सन्तु कामात्" (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १८) इति मन्त्रेण,–'देवदेवत्येषु' पशुषु"जातवेदो वपया गच्छ देवां॑स्त्वं॑हि होता प्रथमो बभूव । सत्या वपा प्रगृहीता मे अस्तु समृध्यतां मे यदिदं करोमि" १९॥ (म० ब्रा० २, ३, १९) इति मन्त्रेण,–'अनाज्ञातेषु' यत्र संज्ञप्यमानपशौ देवता 'आ' सम्यक् न ज्ञाता, तादृशेषु, सन्दिग्धदेवत्येषु बहुदेवतेषु वा पशुषु 'तथादेशं' तत्र तत्रव यथा विहितं तथा विहितानुरूपेणैव मन्त्रेण 'वपां जुहुयात्' । अनाज्ञातेषु मन्त्रप्रयोगदृष्टान्तं दर्शयति'–'यथा' "अष्टकायै स्वाहा"–'इति' मन्त्रेण 'जुहोति' 'अष्टकाकर्मणि' अष्टकापशोश्च बहुदेवतात्वात विवदमानदेवतात्वाद्वा अनाज्ञातदेवदैवत्यत्वम् । वपाहोमे 'अन्यत्' सर्वं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम् ॥ २१–२४ ॥

भा०–जिस स्थान में पितृगण के निमित्त पशु हनन करे, उस स्थान में "वह वपां" इस मन्त्र से वपाहोम करे । जिस किसी स्थान में किन्हीं देवता के निमित्त पशुहनन करे, वहां "जात वेदो वपया" इस मन्त्र से वपा होम करे । जहां कर्त्तव्य कार्य के देवता निश्चय में सन्देह हो (कि यहां कौन देवता होनी चाहिये) ऐसे स्थान के लिये विशेष मन्त्र कहा जाता है । ऐसे स्थानों में जो मन्त्र कहा जावे उसी मन्त्र से वपा होम करे । जिस प्रकार अष्टका कार्य में "अष्टकायै स्वाहा" यही मन्त्र वपा होम में व्यवहृत होगा । अन्यान्य सब कार्य स्थाली–पाक के नियम से होंगे ॥ २१–२४ ॥

ऋणे प्रज्ञायमाने गोलकानां मध्यमपर्णेन जुहुयाद्यत्कुसीद मिति । २५ । अथातो हलाभियोगः ॥ २६ ॥

'ऋणे प्रज्ञायमाने' स्वल्प मृणाम्, ऋण मिति न ज्ञातं भवति, तदन्यत्र, बहवृणे जाते इति यावत् । 'गोलकानां' पलाशानां (?) 'मध्यमपर्णेन' "यत् कुसीद मप्रदत्तं मयेह येन यमस्य निधिना चरामि । इदं तदग्ने अनृणो भवामि जीवन्नेव प्रतिदत्ते ददानि"॥२०॥ (म० ब्रा०२, ३, १९) 'इति' मन्त्रेण'जुहुयात्' २५ 'अथ' अनन्तरम् । 'अतः' आरम्भ'हलाभियोगः'हलप्रयोगउपदिश्यते इतिशेषः२६

भा०–जब यह जाने कि ऋण (कर्ज) बहुत हो गया, तो "यत् कुसीदम्"

इस मन्त्र का पाठ करके ऋण संख्यानुसार (जितना कर्ज हो) मध्यम गोलक पत्र होमकरे॥२५॥ अब इसके आगे हलप्रयोग का विधि कहा जाता है ॥ २६ ॥

पुण्येनक्षत्रे स्थालीपाकꣳश्रपयित्वैताभ्यो देवताभ्यो जुहुयादिन्द्राय मरुद्भ्यः पर्जन्यायाशन्यै भगाय। २७। सीतामाशामरडामनघाञ्च यजेत॥ २८ ॥

स्पष्टम्। २७। सीतादीनि चत्वारि कृषियन्त्राणि च पूजयेत्॥ २८ ॥

भा०—पुण्य नक्षत्र में अर्थात् खेती के लिये उपयुक्त काल में कृषि कार्य में प्रवृत्त होकर पहिले स्थालीपाक कर वक्ष्यमाण देवता आदि को आहुति देवे; "इन्द्राय स्वाहा" मन्त्र से देवराट् इन्द्र को, *'मरुद्भ्यः स्वाहा,' मन्त्र से मरुद् गण ** को, 'पर्जन्याय स्वाहा' मन्त्र से पर्जन्य देव को *** 'अशन्यै स्वाहा' मन्त्रसे अशनि देवता को****और 'भगाय स्वाहा' मन्त्रसे, भग देवता को ॥२७॥ सीता, * (हल का फाला) आशा, अरडा, अनघा की पूजा करे २८॥*****

एता एव देवताः सीतायज्ञखलयज्ञप्रवपणप्रलवनपर्य्ययणेषु। २९। आखुराजञ्चोत्करेषु यजेत ॥ ३० ॥

यदा 'सीतायज्ञः' सीतायाः लाङ्गलपद्धतेश्चालनम्, 'खलयज्ञः' खले शस्यादीनां मर्द्दनम्, 'प्रवपणम्' शस्यबीजानाम्, 'प्रलवनम्' पक्वानां शस्यानां छेदनम्, 'पर्ययणम्' तृणवियुक्तधान्यादिशस्यानां गृहानयनम्; अत्र सर्वत्रैव 'एताः' पूर्वोक्ताः इन्द्रादयः 'एव' 'देवताः' स्मर्त्तव्याः। २९। 'उत्करेषु' मूषिकास्थानेषु 'आखुराजञ्च' 'यजेत' तत्खाद्य दानेन तोषयेत्॥ ३० ॥

भा०—जिस समय हल चलावे, जिस समय खलिहान में दौनी करे, जिस समय खेत में बीज बोये, जिस समय पके शस्य (गल्ला) काटे जावें, एवं जिस समय प्रस्तुत (तैयार) अनाज घर में लावे; इन समयों में पूर्वोक्त इन्द्रादि देवता को स्मरण करे ॥२९॥ पीछे शस्य आदि घर में रखने पर चहे के बिल में भी मूस की तुष्टि के लिये कुछ अनाज देवे ॥ ३० ॥

---

* जो वृत्र (मेघ) के साथ युद्ध कर, बहुत बज्र फेंक, उस असुर के (बलवान् जलाधार के) शरीर को खण्ड२ करते एवं शची (सब कर्मों के) पति, जिन के प्रभाव से सब क्रिया सिद्ध होती हैं (ऐश्वरीय बल विशेष)

** जो देवगण वृत्रासुर के साथ युद्ध काल में इन्द्र की सहायता करते हैं और पीछे वृत्र देह को खण्ड २ होने पर वह पृथिवी पर वेग के साथ गिराते हैं (वायु समूह)॥

*** जो वेद में वृत्रासुर नाम से परिचित हैं (मेघ)॥

**** बज्र—। वस्तुतः मेघाश्रित तेज मात्र को अशनि कहते, जिस के प्रकाशमान् ज्योति को 'विद्युत, कहते हैं॥

***** भग शब्द ऐश्वर्य वाचक और कृषि ही सब प्रकार के ऐश्वर्य की जड़ है अतएव जिस देवता के अनुग्रह से कृषि सुफल हो, उन्हीं को 'भग, देवता कहते (सूर्य)॥

* सीता प्रभृति चार ही खेती के यन्त्र होते हैं।

इन्द्राण्याः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादेकाष्टका तपसा तप्यमानेति ॥ ३१, ३२ ॥ स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् । ३३ ॥ ४ ॥

इन्द्राणीदेवतातोषणाय 'स्थालीपाकः' पक्तव्यः । पक्वस्य च 'तस्य' स्थालीपाकस्य अंशं गृहीत्वा "एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमान मिन्द्रम् । तेन देवा असहन्त शत्रून् हन्ता सुराणा मभवच्छचीभिः" ॥ २१ ॥ (म० ब्रा० २, ३, २१)-'इति' मन्त्रेण जुहुयात्" । ३१, ३२ । 'अन्यत्' सर्वं यद्-ग्रानुपदिष्टं तत, 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम्, न तत्र कश्चिदपि विशेष इति भावः । द्विरुक्तं खण्डसमाप्तिसूचक मिति हलाभियोगः ॥३३॥४॥
इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥४॥

भा०-अनन्तर इन्द्राणी * देवता के परितोष के लिये स्थालीपाक करे और परिपक्व स्थालीपाक में से थोड़ा लेकर "एकाष्टका तपसा"-मन्त्र से आहुति देवे ॥३१।३२॥ अन्यान्य सब कार्य पूर्वोक्त स्थालीपाक की रीति से सम्पन्न करे ॥३३॥
गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थप्रपाठकके चतुर्थखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ४, ४ ।



काम्येष्वत ऊर्द्ध्वम्पूर्वेषु चैके ॥ १, २ ॥

'अत ऊर्द्ध्वं' यत् किञ्चिद्वक्ष्यमाणं तत्सर्वं मेव 'काम्येषु' वेदितव्यम् । 'एके' प्रधानाः, गोभिलादयः पुनराचार्याः वक्ष्यमाण मपि किञ्चित् विरूपाक्ष-जपादिकम् 'पूर्वेषु' नित्यनैमित्तिकेषु 'च' स्वीकुर्वन्ति ॥ १, २ ॥

भा०:-इस के पीछे जो कुछ कहा जावेगा, सो सब काम्य ** कर्म विषय में जानना, प्रधान आचार्य्य गण के मत में वक्ष्यमाण विरूपाक्ष जप आदि कई एक कार्य्य, पूर्वोक्त नित्य नैमित्तिक कार्य्य में भी व्यवहृत होंगे ॥१,२॥

पश्चादग्नेर्भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्येदम्भूमेर्भजामह इति ॥३॥ वस्त्रन्तथंरात्रौ धन मिति दिवा ॥४॥ इमथंस्तोम मिति तृचेन परिसमूहेत् ॥ ५ ॥

---

* इन्द्र की अर्थात् अन्तर्बल की सहचारिणी, अर्थात् शची क्रिया मत ॥

** कर्म तीन प्रकार का होता-'नित्य,' 'नैमित्तिक,' और 'काम्य,' । जो करना ही होगा, न करने से पाप हो उसे 'नित्य,' कर्म कहते । जो किसी निमित्त से करना पड़े, न करने से वह निमित्त निर्दोष न होवे, वह 'नैमित्तिक,' है । किसी कामना की सिद्धि के लिये जो किया जावे, उस को 'काम्यकर्म कहते,' काम्य कर्म करे न करे कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर है, अर्थात् काम्य कर्म न करने से कोई पाप नहीं होता ॥

'अग्नेः पश्चाद्' 'भूमौ' 'पाणी' स्वकीयौ 'न्यञ्चौ' आत्माभिमुखौ वक्रौ 'प्रतिष्ठाप्य' "इदम्भूमेर्भजामह इदंभद्रᳬं सुमङ्गलम्। परा सपत्नान् बाधस्वान्येषां विन्दते वसु॥ (अन्येषां विन्दते धनम्)" ॥१॥ (म० ब्रा० २, ४, १) 'इति' मन्त्रं जपेदिति भूमिजपः ।३। 'रात्रौ' भूमिजपं चेत् 'वस्वन्तं' वसुपदान्तं मन्त्रं जपेत् 'दिवा' अहनि चेत् 'धनम्'-इत्यन्तं जपेदित्येव॥ ४ ॥ "कृत्वाग्न्यभिमुखौ हस्तौ स्वस्थानस्थौ सुसंहितौ। प्रदक्षिणं तथासीनः कुर्यात् परिसमूहनम्"-इति कर्मप्रदीपः । तिसृणा मृचां समाहारः तृचः तेन । एष च तृचः उ० आ० ४, १, ७, १-२-३। "इमᳬं स्तोम मर्हते जातवेदसे रथमिव सम्महेमा मनीषया। भद्रा हि नः प्रमतिरस्य सᳬंसद्यग्ने सख्ये मारिषामा वयं तव ॥२॥ भरामेध्म कृणवामा हवीᳬंषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम्। जीवातवे प्रतराᳬंसाधय धियोऽग्ने सख्ये मारिषामा वयं तव ॥ ३ ॥ शकेम त्वा समिधᳬं साधया धियस्त्वे देवा हविरदयन्त्या हुतम्। त्वमादित्याᳬं आवह ताᳬंह्युश्मस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव" ॥४॥ (म०ब्रा० २,४, २-४) ५

भा०-अग्नि के पश्चिम भाग में, अपना दोनों हाथ, अपने सम्मुख वक्रभाव से रक्खे "इदं भूमेर्भजामहे" यह मन्त्र जप करे। इसी को 'भूमिजप' कहते ॥३॥ रात्रि काल में इस मन्त्र के अन्त में 'वसु' इस पद का प्रयोग करे और दिन में, प्रयोग काल में उस के अन्त्यपद 'धनम्' पढ़े ॥ ४ ॥ "इमं स्तोम" प्रभृति तीन मन्त्रों से परिसमूहन करे (ये तीनों मन्त्र उ० आ० ४, १, ७, १-२-३, और मं०ब्रा० के २। ४। २-४ मन्त्र हैं) ॥५॥

वैरूपाक्षः पुरस्ताद्धोमानाङ्काम्येषु च प्रपदस्तपश्चतेजश्चेति६,७

नित्यनैमित्तिककाम्येषु सर्वत्रैव 'होमानां' 'पुरस्तात्' वैरूपाक्षः "विरूपाक्षोऽसि दन्ताञ्जिस्तस्य ते शय्यापर्णे गृहा अन्तरिक्षे विमितᳬं हिरण्यं तद्देवानाᳬं हृदयान्ययस्मये कुम्भे अन्तः सन्निहितानि तानि बलभृच्च बलसाच्च रक्षतोऽप्रमनी अनिमिषतः सत्यं यत्ते द्वादश पुत्रास्ते त्वा सम्वत्सरे सम्वत्सरे कामप्रेण यज्ञेन याजयित्वा पुनर्ब्रह्मचर्यमुपयन्ति त्वं देवेषु ब्राह्मणोऽस्यहं मनुष्येषु ब्राह्मणो वै ब्राह्मण मुपधावत्युप त्वा धावामि जपन्तं मामा प्रतिजापी र्जुह्वन्तं मामा प्रतिहौषीः कुर्वन्तं मामाप्रतिकार्षीस्त्वां प्रपद्ये त्वया प्रसूत इदं कर्म्म करिष्यामि तन्मे राध्यतां तन्मे समृध्यतां तन्म उपपद्यतां स मुद्रो मा विश्वव्यचा ब्रह्मानुजानातु तुथो मा विश्ववेदा ब्रह्मणः पुत्रोऽनुजानातु श्वात्रो मा प्रचेता मैत्रावरुणो ऽनुजानातु तस्मै विरूपाक्षाय दन्ताञ्जये समुद्राय

विश्वव्यचसे तुषाय विश्ववेदसे श्वात्राय प्रचेतसे सहस्राक्षाय ब्रह्मणः पुत्राय नमः" ॥६॥ (म० ब्रा० २, ४, ५)—इति मन्त्रः पठितव्यः । 'काम्येषु' कर्मसु 'प्रपद्ञ्च' "तपश्च तेजश्च श्रद्धा च ह्रीश्च सत्यञ्चाक्रोधश्च त्यागश्च धृतिश्च धर्मश्च सत्वञ्च वाक्च मनश्चात्मा च ब्रह्म च तानि प्रपद्ये तानि मा मवन्तु भूर्भुवः स्वरोम्महान्त मात्मानं प्रपद्ये" ॥५॥ (म०ब्रा०२.४.५)—'इति'प्रपद्मन्त्रोऽपि पठितव्यः ।६,७॥

भा०—नित्य, नैमित्तिक और काम्य, इन तीन प्रकार के कर्मों में जो कोई होम हो, होम के पहिले " विरूपाक्षोसि" यह मन्त्र पढ़े । सब काम्य कर्मों में "तपश्च" मन्त्र का भी पाठ करे ॥ ६ । ७ ॥

जपित्वा प्राणायाम मायम्यार्थमना वैरूपाक्ष मारभ्योच्छ्वसेत् ८

काम्येषु प्रपद्वैरूपाक्षयोरुभयोरेव जपो विहितः । तत्र प्रपद्जपानन्तरं प्राणायामः कर्त्तव्यः । "पूरककुम्भकरेचकाख्यः प्राणायामः"—इति सन्ध्यासूत्रोक्त एवात्र ग्राह्यः । तत्र पूरककुम्भकयोः प्रपद्मन्त्रार्थमननं कर्त्तव्यम्, रेचकारम्भत एव वैरूपाक्षमन्त्रं जपदिति । ८ । अथ भोजननियमः ।—

भा०—काम्य कर्मों में 'प्रपद्' मन्त्र और 'वैरूपाक्ष' मन्त्र दोनों ही के पाठ करने की व्यवस्था है, उन में प्रपद् मन्त्र पढ़ कर प्राणायाम आरम्भ करे एवं इस प्राणायाम काल में 'पूरक' और 'कुम्भक' प्रपद् मन्त्र के अर्थ का विचार कर 'रेचक' प्राणायामानुसार वैरूपाक्ष मन्त्र जप करे ॥८॥

काम्येषु त्रिरात्राभोजनं त्रीणि वा भक्तानि । ९, १०।

'काम्येषु' कर्मसु कर्त्तव्येषु 'तिरात्राभोजनं' कर्मारम्भदिवसस्याव्यवहितेषु पूर्वेषु त्रिषु दिवसेषु त्रिषु भोजनं माध्याह्निकं नैशं च न कर्त्तव्यम् । 'वा' असमर्थश्चेत् तेषु दिवसेषु 'त्रीणि' एव 'भक्तानि' भोजनानि कर्त्तव्यानि तथा च तेषु दिवसेषु माध्यन्दिनं नैशं वा एकैकमेव भोक्तव्यम् ; न तु यथानियमं वारद्वयम् ।९,१०॥

भा०—काम्य कर्म करने के पूर्व दिन, तीन मध्यान्ह और दो रात्रि का भोजन छोड़ देवे, यदि एक साथ दोनों भोजन न छोड़ सके तो कम से कम, एक भोजन छोड़ देवे । अर्थात् दिनरात में केवल एक बार भोजन करे ॥९।१०॥

नित्यप्रयुक्तानान्तु प्रथमप्रयोगेषु । ११ । उपोष्य तु यजनीयप्रयोगेषु ॥ १२ ॥

कश्चित् काम मभिलक्ष्य यत् कर्म द्विवार मनेकवारं वा क्रियते, तदेव नित्यप्रयुक्त मित्युच्यते ; तादृशानान्तु कर्मणां 'प्रथमप्रयोगेषु' एव पूर्वोक्तो भोजननियमः कर्त्तव्यः, न तु द्वितीयादिषु ॥ ११ ॥ यानि कर्माणि बहुदिनं

यावत् प्रतिदिनं यजनीयतया प्रयुज्यन्ते, तादृशेषु 'यजनीयप्रयोगेषु तु' 'उपोष्य' प्रातराशादिक मल्पाहार मेव कृत्वा तत्तद्यजनं विधेयम् ॥ १२ ॥

भा०—जो कर्म, किसी एक उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनेक वार करना पड़े, ऐसे कार्य में एक ही वार, प्रथम वार, पूर्वोक्त पहिला तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन व्यवस्था अर्थात् प्रतिवार कार्य आरम्भ के पूर्व तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन न करना चाहिये ॥ ११ ॥ जो सब कर्म कई एक दिन वा बहुत समय में समाप्त हो, ऐसे सब कर्मों में प्रतिदिन प्रातराशादि थोड़ा * खा कर प्रवृत्त हो ॥ १२ ॥

उपरिष्टाद्दीक्षथं सान्निपातिकम् ॥ १३ ॥

'सान्निपातिकं' नैमित्तिकं कर्म, 'उपरिष्टादीक्षं' निमित्त घटनात् पर मेव तस्य दीक्षा इति वेदितव्य मिति भोजननियमः ॥१३॥ अथ ब्रह्मवर्च्चसकामकर्म—

भा०—निमित्त घटना के पीछे नैमित्तिक कर्म्म समूह की दीक्षा कर्त्तव्य है, वही वैसे कार्यों के लिये निर्दिष्ट काल है, उस के पूर्व अभोजन, (नहीं खाना) या एक भोजन, या 'उपवास, यथासम्भव व्यवस्थित होंगे ॥ १३ ॥

अरण्ये प्रपदं प्रयुञ्जीत दर्भेष्वासीनः प्राक्कूलेषु ब्रह्मवर्च्चसकामः । १४ । उदक्कूलेषु पुत्रपशुकामः ॥ १५ ॥

यः कश्चन 'ब्रह्मवर्च्चसकामः' स्यात् स एव 'अरण्ये' गत्वा 'प्राक्कूलेषु' दर्भेषु 'आसीनः' सन् 'प्रपदं' (तपश्च पृ० १८९)—इति मन्त्रं 'प्रयुञ्जीत'। १४। यः कश्चन पुत्रकामः पशुकामो वा स्यात्, स खलु अरण्ये गत्वा 'उदक्कूलेषु दर्भेषु आसीनः त मेव प्रपदमन्त्रं प्रयुञ्जीत ॥ १५ ॥ अथ ब्रह्मवर्चस—पुत्रपशुकामकर्म ।

भा०—जो कोई 'ब्रह्मवर्च्चस' की इच्छा करे, वह वन में जा कर पूर्वाग्र रक्खे हुए कुश पर बैठ कर 'प्रपद' मन्त्र द्वारा पठित मन्त्रों से साधना करे ॥ ॥१४॥ और जो कोई पुत्र, या पशु की इच्छा करे, वह वन में जा कर उत्तराग्र कुश पर बैठ कर इस "प्रपद" मन्त्र से साधना करे ॥ १५ ॥

उभयेषूभयकामः । १६ । पशुस्वस्त्ययनकामो व्रीहियवहोमं प्रयुञ्जीत सहस्रबाहुर्गौपत्य इति ॥ १७ ॥

'उभयकामः' प्रथमसूत्रोपात्तं ब्रह्मवर्च्चसं द्वितीयसूत्रोपात्तं पुत्रं पशुं च यः कामयेत, स खलु अरण्ये गत्वा युगपत् 'उभयेषु' प्राक्कूलेषु, तदुपरि पातितेषु

* प्राचीन समय में 'प्रातराश' आदि थोड़े खाने को 'उपवास' कहते थे, इदानी 'उपवास' शब्द से एक मात्र भोजन नहीं करना समझा जाता, जो उस समय 'अभोजन' शब्द से व्यवहृत होता था ॥

उदक्कूलेषु च दर्भेषु आसीनः, त मेव प्रपदं नाम मन्त्रं प्रयुञ्जीत ।१६। पशूनां गृहपालितानां गवादीनां स्वस्त्ययनं कामयेत चेत् "सहस्रबाहु र्गौपत्यः स पशूनभिरक्षतु । मयि पुष्टिं पुष्टिपति र्दधातु मयि प्रजां प्रजापतिः" (स्वाहा) ॥ १५ ॥ (म० ब्रा २, ४, ७)—'इति' मन्त्रेण 'व्रीहियवहोमं' व्रीहिणा यवेन च आहुतिमग्नौ 'प्रयुञ्जीत' ॥ १७ ॥

भा०—प्रथम सूत्रोक्त 'ब्रह्मवर्च्चस' एवं द्वितीय सूत्रोक्त पुत्र और पशु, इन दो की जो कामना करे, वह वन में जा कर, पूर्वाग्रकुश बिछा कर उस पर उत्तराग्र कुश रक्ख, उस पर बैठ 'प्रपद' मन्त्र से साधना करे ॥१६॥ जो पालतू गौ भेड़आदि की भलाई चाहे, वह "सहस्र बाहुः" मन्त्र से धान्य और यव का होम करे ॥ १७ ॥

कौतोमतेन महावृक्षफलानि परिजप्य प्रयच्छेद्यस्यात्मनि प्रसाद मिच्छेत्तस्मा एकभूयांꣳस्यात्मनायुग्मानि कुर्यात् ॥ १८, १९ ॥ वृक्ष इवेति पञ्चर्चः ॥ २० ॥

अथ प्रसादकामकर्म ।—'यस्य' कस्य चिज्जनस्य पुरुषस्य स्त्रिया वा 'प्रसादम्' प्रसन्नताम् 'इच्छेत्', 'तस्मै' "कौतोमतꣳ संवननꣳ सुभागं करणं मम माकुली नाम ते मातायाहं पुरुषानयः । यन्नौ कामस्य विच्छिन्नं तन्नौ सन्धे ओषधे" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ४, ८) महावृक्षफलानि गुवाकानि आम्राणि वा 'परिजप्य' 'प्रयच्छेत्' । तानि च फलानि 'एकभूयांसि' एकस्मिन्नेव गुच्छे बहूनि विद्यन्ते चेत्, तर्हि दानात् पूर्वमेव 'आत्मनः' आत्मना स्वयमेव 'अयुग्मानि' विच्छिन्नानि 'कुर्यात्' ॥१८, १९॥ अथ पार्थिवं कर्म ।—(म० ब्रा० २, ४, ९—१३) अधिकृतो वेदितव्यः ॥ २० ॥

भा०—जिस किसी व्यक्ति की प्रसन्नता लाभ करने की इच्छा हो, तो उस व्यक्ति को "कौतोम" मन्त्र से पठित कई एक * महावृक्षफल प्रदान करे, इन फलों को गुच्छा से स्वयं एक २ कर तोड़ लेवे ॥ १८, १९ ॥ "वृक्ष इव" इत्यादि पांच मन्त्र हैं, उन का व्यवहार, यथाक्रम से कहा जाता है ॥ २० ॥

तस्मिन् प्रथमं पार्थिवं कर्म ॥ २१॥ अर्द्धमास मभुक्त्वाऽशक्तौ वा पेया मन्यतरं कालम् ॥ २२, २३ ॥

'तस्मिन्' अधिकृते पञ्चर्चे, तेनैव पञ्चर्चेन समुद्दिष्टेन 'प्रथमम्' एकं 'कर्म'

* इस में महावृक्ष फल शब्द से यहां 'आम, और गुवाक (सुपारी) इत्यादि जानना ॥

'पार्थिवं' क्षेत्राद्यर्थं कुर्वीतेति । २१। तच्च पार्थिवं कर्म 'अर्द्धमास मभुक्त्वा' एव कार्यम्। अभोजनेऽसमर्थश्चेत् 'अन्यतरं कालं' दिवा रात्रौ वा एकवार मेव 'पेयां' मण्ड–दुग्धादिकं पिबेदिति ॥ २२, २३ ॥

भा०–उन्हीं पांच मन्त्रों द्वारा पहिले पार्थिव कर्म अर्थात् खेत आदि की उर्व्वरता (खेत को ऐसा करे कि जिस से उस में सब प्रकार के शस्य अच्छेप्रकार उत्पन्न हों) आदि सिद्धि के लिये एक क्रियाका अनुष्ठान किया जाता है ॥ २१ ॥ यह पार्थिव कर्म, अर्द्धमास पर्यन्त अभोजन रह कर करे, यदि विना खाये न रहा जावे, तो एक समय केवल पेय (दुग्ध, आदि) पानकरे २२,२३

यत्रात्मानं परिपश्येत् ॥२४॥ एतद्व्रत मर्द्धमासव्रतेषु ॥२५॥

'यत्र' पेयायाम् 'आत्मानं' आत्मच्छायां दर्पणादाविव 'परिपश्येत्' तादृशीमेव तरलां पेयां पिबेदिति ॥२४॥ 'एतत्' पार्थिवं कर्म 'व्रतम्' उच्यते, तच्च 'अर्द्धमासव्रतेषु' गण्यते। तथाच शुक्लप्रतिपद्यस्यारम्भः पौर्णमास्यां च समाप्तिः सिद्धा२५

भा०–जिस 'पेय' वस्तु में अपना मुंह दीख पड़े, इसप्रकार तरलवस्तु पीवे ॥ २४ ॥ यह पार्थिवकर्म एक व्रत विशेष है, यह अर्द्धमास व्रतों में गणनीय है। इस से यह व्रत शुक्ल पक्ष की परिवा से आरम्भ कर पूर्णिमाको पूराकरे२५

पौर्णमास्याᳬरात्रावविदासिनि ह्रदे नाभिमात्र मवगाह्याक्षततण्डुलानृगन्तेष्वास्येन जुहुयात् स्वाहेत्युदके ॥२६॥

'पौर्णमास्यां रात्रौ' 'अवदासिनि' ह्रदे' निदाघेऽपि यस्य विदासः शोषो न, तादृशे जलाशये 'नाभिमात्र मवगाह्य' 'अक्षततण्डुलान्' आस्ये कृत्वा तेनैव 'आस्येन' अधिकृतानां पञ्चानामेकैकेनर्चा ' उदके ' तत्रैव 'जुहुयात्'; 'ऋगन्तेषु' तासां पञ्चाना मृचा मन्तेष च 'स्वाहा–इति' ब्रूयादिति पार्थिवं कर्म ॥ २६ ॥ अथ भोगादिकामकर्माणि ।—

भा०–पूर्णिमा की रात में अविदासी जलाशय में (जिस का जल ग्रीष्म ऋतु में भी न सूखे) नाभि मात्र जलमें पैठ, स्नान कर, मुंहमें अक्षत तण्डुल ले कर उन्हीं पांच मन्त्रों से, उसी जल में एक २ कर पांच आहुति देवे एवं इन पांच मन्त्रों में से,प्रत्येक के अन्त में "स्वाहा" शब्द का भी प्रयोग करता जावे२६

अथापरम् ॥२७॥ प्रथमयाऽऽदित्य मुपतिष्ठेत भोगकामोऽर्थपतिचक्षुर्विषये सिद्धत्यर्थः ॥२८॥

पञ्चाना मधिकृताना मृचां समुदितानां व्यवहारेण प्रथमं कर्म पार्थिवं नाम उक्तम्; 'अथ' अनन्तरम् , तासामेवर्चां मसमुदितानां व्यवहारेण ' अपरम् '

द्वितीयं कर्म आदित्योपस्थानादिकं वक्ष्यते इति ॥ २७ ॥ 'भोगकामः' पुरुषः, 'प्रथमया' "वृक्ष इव पक्वस्तिष्ठसि सर्वान् कामान् भुवस्पते । यस्त्वैवं वेद तस्मै मे भोगान् धुक्ष्वाक्षतान् बृहन्" ॥९॥ (म० ब्रा० २. ४. ९)-इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपतिष्ठेत' । क्वोपतिष्ठेत ? इत्याह,-'अर्थपतिचक्षुर्विषये' यतोऽर्थपतेः अर्थं कामयते, तस्यैव चक्षुर्गोचरे प्रदेशे । तथाच 'अर्थः' प्रयोजनं 'सिद्ध्यति' ॥२८॥

भा०:-उक्त पांच मन्त्रों द्वारा पहिले पार्थिव कर्म कहा गया है, अब उन्हीं पांच में से प्रत्येक के व्यवहार में एक २ अपर कर्म कहा जाता है ॥२७॥ जिस किसी को भोग की इच्छा हो, वह "वृक्ष इव" मन्त्र से सूर्योपस्थान करे। जिस स्थान में उस प्रयोजन के होने की सम्भावना हो, ऐसे स्थल में यह अनुष्ठान किया जावे, ऐसा ही करने पर वह प्रयोजन सिद्ध होगा ॥ २८ ॥

द्वितीययाऽऽदित्ये परिविष्यमाणेऽक्षततण्डुलान् जुहुयाद् बृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः ॥२९॥

पत्रं वाहनम्, बृहत्पत्रं हस्त्यश्वादि, 'बृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः' पुरुषः, 'द्वितीयया' "ऋतं सत्ये प्रतिष्ठितं भूतं भविष्यता सह । आकाश उपनिरज्जतु मह्यामन्न मथोश्रियम्" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २. ४.१०)-इत्यनयर्चा 'आदित्ये परिविष्यमाणे' 'अक्षत तण्डुलान्' 'जुहुयात्' । "वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः । मालाभा व्योम्नि दृश्यन्ते परिवेषस्तु सः स्मृतः" ॥-इति ।

भा०:-हाथी आदि बड़े वाहन के कल्याणार्थ "ऋतं सत्ये" इस द्वितीय मन्त्र से अक्षत तण्डुल हवन करे । जिस समय सूर्य मण्डल में परिवेष उपस्थित हो, उसी समय यह किया जावे ॥ २९ ॥

तृतीयया चन्द्रमसि तिलतण्डुलान् क्षुद्रपशुस्वस्त्ययन कामः ॥३०॥ चतुर्थ्यादित्य मुपस्थायार्थान् प्रपद्येत स्वस्त्यर्थवानागच्छति ॥३१॥

क्षुद्रपशवो गोमेषादयः, तत्स्वस्त्ययनकामः पुरुषः, तृतीयया "अभिभागोऽसि सर्वस्मिꣳस्तदु सर्वं त्वयिश्रितम् । तेन सर्वेण सर्वो मा विवासन विवासय" ॥११॥ (म० ब्रा० २. ४, ११)-इत्यनयर्चा 'चन्द्रमसि' परिविष्यमाणे एव काल 'तिल तण्डुलान्' जुहुयादित्येव ॥३०॥ 'चतुर्थ्या' "कोश इव पूर्णो वसुना त्वं प्रीतो ददसे। अदृष्टोदृष्ट माभर सर्वान् कामान् प्रयच्छ मे" ॥१२॥ (मा०ब्रा० २, ४, १२)-इत्यनयर्चा ' आदित्य मुपस्थाय ' ' अर्थान् ' अभिलक्ष्य 'प्रपद्येत' यात्रां कुर्वीत, तेन सः 'स्वस्त्यर्थवान्' सन् 'आगच्छति' गृहानिति ॥३१॥

भा०:—गौ, भेड़ आदि छोटे २ पशुओं के कल्याण चाहने वाले "अभिभगोऽसि" इस तृतीय मन्त्र से कई एक तिल तण्डुल होम करे, जिस समय चन्द्रमण्डल में परिवेष उपस्थित हो, उसी समय यह कर्म्म किया जावे ॥ ३० ॥ "कोश इव" इस मन्त्र से सूर्य्योपस्थान कर प्रयोजन को लक्ष्य कर, यात्रा करने से प्रयोजन सिद्ध कर निर्विघ्न घर वापस आवेगा ॥ ३१ ॥

पञ्चम्यादित्य मुपस्थाय गृहान् प्रपद्येत स्वस्ति गृहानागच्छति स्वस्तिगृहानागच्छति । ३२ ॥ ५ ॥

'पञ्चम्या' "आकाशस्यैष आकाशे यदेतद् भाति मण्डलम् । एवं त्वा वेद यो वेद वेदेशानेशान् प्रयच्छ मे" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १३)—इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपस्थाय' 'गृहान्' अभिलक्ष्य 'प्रपद्येत' यात्रां कुर्वीत, तेन सः प्रवासात् प्रतिचलितः 'स्वस्ति' यथा स्यात्तथा 'आगच्छति' प्रत्यायाति । द्विर्वचनं खण्डसमाप्तिद्योतनार्थम् । ३२ ॥ ५ ॥

इतिसामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठकेपञ्चमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥४।५

भा०:—"आकाशस्यैष" इस पञ्चम मन्त्र से सूर्य्योपस्थान कर अपने घर को लक्ष्य कर प्रति यात्रा में करने से निर्विघ्न घर वापस आवेगा ॥ ३२ । ५ ॥ गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ अध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥५॥

—:—*—:—

भूरित्यनकाममारं नित्यं प्रयुञ्जीत न पापरोगान्नाभिचाराद्भयम् ॥ १ ॥

भूर्भुवः स्वरोम् सूर्य इव दृशे भूयास मग्निरिव तेजसा वायुरिव प्राणेन सोम इव गन्धेन बृहस्पतिरिव बुद्ध्याऽश्विनाविव रूपेणेन्द्राग्नी इव बलेन ब्रह्मभाग एवाहं भूयासं पाप्माभागा मे द्विषन्तः" ॥१४॥(म०ब्रा०२,४,१४) 'इति' अनकाममारं; इच्छामरणसाधनं मन्त्रं 'नित्यं' सतत मेव, प्रतिदिनं वा'प्रयुञ्जीत' ।तेन'न''पापरोगात्'कुष्ठादितः,'न' च'अभिचारात्, शत्रुकृतात्'भयम्' स्यात्१

भा०:—जो लोग विना कष्ट उचित समय (अपनी पूरी आयु में) मृत्यु की इच्छा करें । अर्थात् दुःख के साथ अकाल मृत्यु न हो, वे "भूः" इस मन्त्र को सतत जप करें; इस मन्त्र के प्रभाव से शत्रुकृत मारण आदि से भय नहीं रहता एवं कुष्ठादि पाप रोग से भी भय नहीं होता ॥ १ ॥

अलक्ष्मीनिर्णोदो यजनीयप्रयोगो मूर्ध्नोऽधिम इत्येकैकया॥२॥

मूर्ध्नोऽधि मे वैश्रवणाज्झिरसोऽनुप्रवेशिनः। ललाटाद् घस्वरान् घोरान् विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ १ ॥ ग्रीवाभ्यो मे स्कन्धाभ्यां मे नस्तो मे ऽनुप्रवेशिनः। मुखान्मे वद्वदान् घोरान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ २ ॥ बाहुभ्यां मे यतो यतः पार्श्वयोरुत्तुतानधि। उरस्तो वद्वदान् घोरान् विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ ३॥ वङ्क्षणाभ्यां मे लोहितादान् योनिहान् पञ्जिहानधि। ऊरुभ्यो निश्रिलषो घोरान् विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ ४ ॥ जङ्घाभ्यां मे यतो यतः पाष्र्योरुत्तु तानधि। पादयो विकारान् विवृहामि वः (स्वाहा ॥ ५ ॥ परिबाधं यजामहेऽनु जङ्घर्ठ शबलोदरम्। योनोऽयं परिबाधते दानाय च भगाय च (स्वाहा) ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १-८) 'इति' अष्टर्चस्य सूक्तस्य 'एकैकया' ऋचा एकैका आहुतिर्होतव्या। अय मेव पूर्वोक्तो यजनीयप्रयोगः'–इत्युच्यते। एतस्यहि कर्मणः प्रभावात् 'अलक्ष्मीनिर्णोदः' दारिद्र्यनाशः भवेदिति ॥ २ ॥

भा०–"मूर्ध्नोधि मे" इत्यादि मन्त्रों से एक २ आहुति प्रदान करे। यहयजनीय प्रयोग में गणनीय है। इस क्रिया के फल से दरिद्रता दूर होती है ॥२॥

या तिरश्चीति सप्तमी वामदेव्यर्चो महाव्याहृतयःप्रजापत इत्युत्तमया ॥३–६॥

इह यजनीयप्रयोगे या 'सप्तमी' आहुतिः, सा मन्त्रपाठक्रमात् "अपेहि त्वं परिबाध मा विबाध विबाधयाः। शुगपन्थानं मे कुरु येन मा धन मेष्यति" (स्वाहा) ॥७॥ (म० ब्रा० २, ५, ७)–इत्यनया प्राप्ता' परं न तथाभीष्टा; अपि तस्याः स्थाने "या तिरश्ची (?)"–इत्येषा प्रयोक्तव्या। किञ्च; ततो 'वामदेव्यर्चः (उ० आ० १, १, १२, १)'–'महाव्याहृतयः', च जप्तव्याः, ततः "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयर्ठस्याम पतयो रयीणाम्" (स्वाहा) ॥८॥ (म० ब्रा० २, ५, ८) इत्यनया अष्टम्या ऋचा अष्टमी आहुतिर्होतव्येति ॥३–६॥ अथ यशस्कामकर्म।

भा०–इस यजनीय प्रयोग में जो आठ आहुति होगी, उनमें सप्तम मन्त्र से सप्तम आहुति न दे कर "या तिरश्ची" इस मन्त्र से सप्तम आहुति होगी एवं उस के पश्चात् 'वामदेव्य' (उ० आ० १, १, १२, १) इन तीन मन्त्र से और उस के पश्चात् महाव्याहृति आदि का पाठ करे इस के पश्चात् "प्रजापते" इस आठवें मन्त्र से आठ आहुति देनी चाहिये ॥ ३–६ ॥

यशोऽहं भवामीति यशस्काम आदित्य मुपतिष्ठेत पू-

र्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णेषु प्रातरह्णस्येति सन्नामयन् ॥७॥

'यशस्कामः' पुरुषः, "यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम् । यशः सत्यस्य भवामि भवामि यशसां यशः ॥ ९ ॥ पुनर्मा यन्तु देवता या मदपचक्रमुः । महस्वन्तो महान्तो भवाम्यस्मिन् पात्रे हरिते सोमपृष्ठे ॥१०॥ रूपं रूपं मे दिशः प्रातरन्हस्य तेजसः । अत्रमुयस्य प्राशिष मस्तु मयि । मयि त्वयीदमस्तु त्वयि मयीदम् ॥११॥ यदिदं पश्यामि चक्षुषा त्वया दत्तं प्रभासया तेन मा भुङ्क्ष्व तेन भुक्षिषीय तेन मा विश ॥ १२ ॥ अहर्नो अत्यपीपरद्रात्रिर्नो अतिपारयत् । रात्रिर्नो अत्यपीपरदहर्नो अतिपारयत्" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ५, ९-१३)—'इति' पञ्चर्चं सूक्तं पठन्, तत्र च तृतीये मन्त्रे पठितं 'प्रातरह्णस्येति' पदं 'सन्नामयन्' यथाकालं मध्यन्दिनस्येति अपराह्णस्येति च परिवर्त्तयन्, पूर्वाह्णपराह्णेषु' त्रिष्वेव कालेषु 'आदित्य मुपतिष्ठेत' ॥ ७॥ अथ स्वस्त्ययनकामकर्म—

भा०—जिन्हें यश की कामना हो. वे "यशोऽहं" इन पांच मन्त्रों से प्रातः मध्याह्न, और सायं तीन समय सूर्योपस्थान करें 'प्रातरह्नस्य' यह पाठ यथा काल परिवर्त्तन करें । अर्थात् मध्याह्न कालमें उस के स्थान में "माध्यन्दिनस्य" और सायं समय 'अपराह्नस्य' ऐसा कहें ॥ ७ ॥

सन्धिवेलयोरुपस्थानꣳस्वस्त्ययन मादित्यनाव मिति ॥८ ॥

'सन्धिवेलयोः' उभयोरेव " आदित्यनाव मारोक्षं पूर्णामपरिपारिनीम् । अच्छिद्रां पारयिष्णीꣳ शतारित्राꣳस्वस्तये ॥ (ओन्नम आदित्याय नम आदित्याय नम आदित्याय) ॥१४। (म०ब्रा० २, ५.१४)—'इति' मन्त्रं पठन् 'उपस्थानं' कर्त्तव्यम् तथाच 'स्वस्त्ययनं' सिध्येत् ॥८॥

भा०:—प्रातः और सायं दोनों सन्धि वेला में "अदित्यनावं"—मन्त्र से उपस्थान करे, इस से स्वस्त्ययन (कल्याण) होगा ॥ ८ ॥

उद्यन्तं त्वादित्यानूदियांस मिति पूर्वाह्णे प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानुप्रतितिष्ठास मित्यपराह्णे ॥ ९, १० ॥ आचितशतकामोऽर्द्धमासव्रतः ॥ ११ ॥

तत्र, पूर्वाह्णे' उद्यन्तन्त्वादित्यानूदियासम् ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १५) 'इति' यजुश्च प्रयोक्तव्यम् । 'अपराह्णे' च "प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानु प्रतितिष्ठासमु ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २५,१६)"—'इति' च यजुः प्रयोक्तव्यमेव ॥९, १०॥ अथ आचितशतकामकर्म । 'आचितशतकामः' पुरुषः, 'अर्द्धमासव्रतः' स्यात ॥ ११ ॥

भा०:—इस उपस्थान काल में विशेषतः प्रातः सन्धि काल में "उद्यन्तं" मन्त्र भी एवं सायं सन्धि काल में "प्रतिष्ठन्तं" मन्त्र भी व्यवहृत होंगे।९, १०। जो कोई १०० आचित (२५ मन, वा एक गाड़ी बोझ) की कामना करे, वह अर्द्धमास-व्रत का अनुष्ठान करे ॥ ११ ॥

तामिस्रादौ व्रीहिकांसौदनं ब्राह्मणान् भोजयित्वा तस्य कणानपरासु सन्धिवेलासु प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुपसमाधायादित्य मभिमुखो जुहुयाद्भलाय स्वाहा भल्लाय स्वाहेति ॥ १२ ॥ एतयैवावृतापरौ तामिस्रौ ॥ १३ ॥

'तामिस्रादौ' कृष्णप्रतिपदि सन्धिवेलायां 'व्रीहिकांसौदनं' पक्त्वा, तेन च 'ब्राह्मणान् भोजयित्वा' 'अपरासु' द्वितीयादिषु 'सन्धिवेलासु' 'तस्य' व्रीहिकांसस्य 'कणान्' "भलाय स्वाहा ॥१७॥ भल्लाय स्वाहा ॥१८॥ (म०ब्रा०२,४, १७,१८) इति मन्त्रद्वयेन जुहुयात् । कुत्र प्रदेशे ? 'प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे 'अग्निमुपसमाधाय, आदित्य मभिमुखः' सन् ॥ १२ ॥ 'एतया एव आवृता' पूर्वोक्तया एव रीत्या 'अपरौ' द्वौ 'तामिस्रौ' कृष्णपक्षौ व्यवहर्त्तव्यौ । तदेवं त्रिभिः कृष्णपक्षैः एषोऽर्द्धमासव्रतः सम्पाद्य इति ॥ १३ ॥

भा०:—कृष्ण पक्ष की परिवा तिथि को सन्धि वेला समय, कांस परिमित तण्डुल पाक करके, उसे कई एक ब्राह्मणों को भोजन करावे। इस के अनन्तर अमावास्या पर्यन्त प्रति सन्धिवेला में गांव के बाहर पश्चिम ओर चौराहे पर अग्नि जला कर उस में 'भलाय' और 'भल्लाय' इन दोनों मन्त्रों से, सूर्य के सम्मुख हो कर इस तण्डुल के कण आदि से होम करे ॥१२॥ इसी पूर्वोक्त रीति से और भी दो कृष्ण पक्ष में अनुष्ठान् करे। इस से तीन कृष्णपक्ष में यह अर्द्धमास व्रत सम्पन्न होगा ॥ १२, १३ ॥

तामिस्रान्तरेषु ब्रह्मचारी स्यादासमापनादासमापनात् ॥१४॥

'तामिस्रान्तरेषु' कृष्णपक्षमध्येष्वहोरात्रेषु व्रती पुरुषः 'आसमापनात्' व्रतसमाप्ति यावत् 'ब्रह्मचारी स्यात् ॥ १४ ॥ ६ ॥

इति सामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठकेषष्ठखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥४।६॥

भा०:—जिस तीन कृष्णपक्ष में यह "अर्द्धमास व्रत" अनुष्ठान किया जावे, उस में व्रत की समाप्ति पर्यन्त व्रती को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये ॥ १४।६ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थअध्याय के छठे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ।४।६॥



अवसानं जोषयेत ॥ १ ॥ समं लोमश मविभ्रंसि प्राच्य उदीच्यो वा यत्रापः प्रवर्त्तेरन्नक्षीरिण्योऽकण्टका अकटुका यत्रौषधयः स्युः ॥ २ ॥

'अवसानं' विरामलक्षणं अन्यवास्तुभिरवेष्टितं वक्ष्यमाणलक्षणं भूखण्डं 'जोषयेत' सेवेत वासयेति ॥ १ ॥ तच्च अवसानं 'समं' समतलं स्यात् । तच्च 'लोमशं' घासविशिष्टं स्यात् । तच्च 'अविभ्रंसि' विभ्रंशोऽधः पतनं न यत्र सम्भाव्यते तादृशं स्यात् । 'यत्र' 'प्राच्यः उदीच्यः वा' 'आपः' नद्यादिकाः 'प्रवर्त्तेरन्' विद्येरन् । 'यत्र' च समीपे एव 'अक्षीरिण्यः 'अकण्टकाः' 'ओषधयः' 'स्युः'॥२॥

भा०ः—अन्यान्य मकान से यथा सम्भव दूर पर, अपने रहने का मकान बनाने के लिये उपयोगी प्रशस्त (अच्छी) भूमि लेवे ॥ १ ॥ उक्त वास भूमि समतल होवे, घासों से छिपी रहे, तालाब आदि से हठात् गिर जाने का भय न हो, ऐसे स्थान के निकट पूर्व, या उत्तर दिशा में वृहत् जलाशय हो, एवं जिस स्थान के समीप में क्षीरी, कण्टकी, और कटु औषधि वृक्ष न हों, ऐसा स्थान वास के लिये पसन्द करे ॥ १, २ ॥

गौरपाᳬसु ब्राह्मणस्य लोहितपाᳬशु क्षत्रियस्य कृष्णपाᳬसु वैश्यस्य । ३।४।५। स्थिराघात मेकवर्ण मशुष्क मनुषर ममरुपरिहित मक्लिनम् ॥ ६ ॥

पांसवो रेणवः । एवं पांसुपरीक्षां प्रकृत्य तत्र तत्र ब्राह्मणादयो वास्तुनिर्माणं कारयेयुरिति भावः । ३–५ । 'स्थिराघातं' स्वल्पाघातेनैव यन्नावटीभवेत् तत् । 'एकवर्णं' क्वचिद्गौर मेवं बहुवर्णत्वं न दृश्यते यत्र, तादृशम् । 'अशुष्कं' यत्रोत्पद्यमाना ओषधयो न शुष्काः स्युः, तथाविधम् । 'अनुषरं' यत्रोप्तं बीजं प्ररोहेदेव, तादृशम् । 'अमरुपरिहितम्' मरुभूमिभिः अवेष्टितम् । 'अक्लिन्नम्' क्लिन्नं सजलम्, तद्विपरीतम् । एवम् अवसानं जोषयेते–त्येव ॥ ६ ॥

भा०ः—जिस स्थानकी धूलि का रंग गौर, ब्राह्मण लोग अपने लिये ऐसीही वास भूमि स्वीकार करें; क्षत्रिय लोगों के लिये लाल रंगकी धूली वाली वास भूमि उपयुक्त एवं वैश्यगण काली मट्टी वाली वास भूमि बनावें । ॥३–५॥ जिस स्थान में थोड़े चोट या आघात से भूमि धस न पड़े, जिस स्थान की धूलि अनेक रंग की न दीख पड़े, जिस स्थान में किसी फूल के पेड़ रोपने से वह सूख जावे, जिस स्थान में शस्य आदि के उपजने की शक्ति भी हो, जिस के प्रायः चारो ओर मरु भूमि न हों, एवं जिस स्थान में जल न हो,–ऐसी भूमि वासार्थ लेवे ॥६॥

दर्भसम्मितं ब्रह्मवर्चसकामस्य बृहत्तृणैर्बलकामस्य मृदुतृणैः पशुकामस्य । ७-९ ॥

'ब्रह्मवर्चसकामस्य' ब्राह्मणस्य 'दर्भसम्मितं' कुशाबहुलं स्थानं स्यात् तथाच दैवं पित्र्यं वा कर्म कर्त्तुं कुशाहरणाय क्लेशो न भवेत् । 'बलकामस्य' क्षत्रियस्य 'बृहत्तृणैः' आकीर्णं स्थान मुचितम्, तथाचाश्वादीनां भोजनं सुलभं स्यात् । 'पशुकामस्य' वैश्यस्य मृदुतृणैः परिव्याप्तं स्थानं वासयोग्यम्, तथाच पशुचारणं सुकरं भवेदिति ॥ ७-९ ॥

भा०—जिस स्थान में समधिक कुश जन्मता हो, ऐसा स्थान ब्राह्मण के लिये वासोपयोगी है, जिस स्थान में घोड़ा आदि के खाने योग्य बड़ी घास आदि बहुत पाई जावे, ऐसी भूमि क्षत्रियों के रहने योग्य है। और जिस स्थान में कोमल घास हों, चारण (चराने के लिये) भूमि के लिये चिन्ता न करनी पड़े, ऐसी भूमि वैश्यके लिये उपयुक्त है ॥ ७-९ ॥

शादासम्मितं मण्डलद्वीपसम्मितं वा यत्र वा श्वभ्राः स्वयं खाताः सर्वतोऽभिमुखाः स्युः । १० । अनुद्वारञ्च ॥ ११ ॥

शादा इष्टका उच्यते, तत्सम्मितम्' चतुष्कोण मित्यर्थः । मण्डलं वर्त्तुल मुच्यते, मध्योन्नतं क्रमादभितो निम्नं यत्र, तद्द्वीप मुच्यते । तथाच द्वीपमिव मध्योच्चं वर्त्तुल मपि स्थानं न दोषावहम् । अपि 'वा' 'यत्र' स्थाने 'स्वयं खाताः' अकृत्रिमाः 'सर्वतोऽभिमुखाः' 'श्वभ्राः' गर्त्ताः 'स्युः' तत् अचतुरस्र म द्वीपवर्त्तुल मपि वासार्ह मिति । १० । 'अनुद्वारञ्च' गृहे मनुष्यादिप्रवेशाय वायुप्रवेशाय वा यावन्ति द्वाराणि स्युः, तेषां सर्वेषा मेव समसूत्रपातानुकूलानि द्वाराणि यत्र, तादृशं गृहं कुर्वीतेत्येव। नात्र नेत्यनुवर्त्तते अप्रसक्तस्य निषेधाप्रवृत्तेः ११

भा०—रहने के मकान का स्थान चतुष्कोण हो; गोल होनेसे भी हानि नहीं; किन्तु उसका मध्यभाग क्रम से ऊंचा हो। यदि ऐसा स्थान भी दुर्लभ हो, तो त्रिकोण, बहुकोण, असमकोण, प्रभृति स्थान भी मकान के लिये स्वीकार करे, परन्तु यदि ऐसे स्थानके चारो ओर अकृत्रिम कोई गड्ढा हो॥१०॥ घरमें चाहे मनुष्य आदि के प्रवेश के लिये जितने दरवाजे हों, उन दरवाजे आदि के समसूत्रपात से, उन के समान अन्य द्वार भी रहना चाहिये ॥ ११ ॥

तत्रावसानं प्राग्द्वारं यशस्कामो बलकामः कुर्वीतोदग्द्वारं पुत्रपशुकामो दक्षिणाद्वारꣳसर्वकामो न प्रत्यगद्वारं

कुर्वीत । १२ । गृहद्वारं यथा न संलोकि स्यात् ॥ १३ ॥

'तत्र' तादृशे स्थाने 'यशस्कामः' 'बलकामः' पुरुषः 'प्रागद्वारम्' 'अवसानं' वासगृहं 'कुर्वीत'। पुत्रकामः पशुकामश्च पुरुषः 'उदग्द्वारम्' अवसानं कुर्वीत 'सर्वकामः' पुरुषः 'दक्षिणाद्वारम्' अवसानं कुर्वीत। 'प्रत्यग्द्वारं पश्चिमद्वार मवसानं न कोऽपि कुर्वीतेति । १२ । तथा कुर्वीतेति ॥ १३ ॥

भा०—ऐसे स्थान में रहने का घर बनावे । उन में से जो विशेषतः यश और बल की इच्छा करे, वे मकान का दरवाजा पूर्वमुख रक्खें । जो विशेषतः पुत्र और पशु की इच्छा करें, वे उत्तरमुख (रुख) दरवाजा बनवावें; जिन्हें कोई विशेष कामना न हो, किन्तु सब ही प्रकार की कामना हो, वे दक्षिणमुख मकान करें, परन्तु पश्चिममुख मकान का दरवाजा कभी न करे ॥ १२ ॥ मकान के भीतर के घर के द्वार आदि इसप्रकार रहैं, जिस में घर के भीतर के मनुष्य आदि बाहरी दरवाजे से न दीख पड़ें ॥ १३ ॥

वर्जयेत् पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा । न्यग्रोध मपराद् देशादुत्तराच्चाप्युदुम्बरम् ॥ अश्वत्थादग्निभयं विद्यात् प्लक्षाद् ब्रूयात प्रमायुकान् । न्यग्रोधाच्छस्त्रसम्पीडा मक्ष्यामय मुदुम्बरात् ॥ आदित्यदेवतोऽश्वत्थः प्लक्षोयमदेवतः । न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः प्राजापत्य उदुम्बरः ॥ १४ ॥

अश्वत्थः—चलदलः, स च आदित्यदेवतः, तं पूर्वतः स्वावासस्य, वर्जयेत् ; पूर्वतः स्थितात् अश्वत्थात् अग्निभयं विद्यात् । प्लक्षः=पर्कटी, स च यमदेवतः, तं, दक्षिणतः स्वावासस्य वर्जयेत् ; दक्षिणतः स्थितात् प्रमायुकान् क्षमितायुष्कान् अल्पायुषः स्युस्तत्र वासिन इति ब्रूयात् । न्यग्रोधः=वटः, स च वृक्षः 'वारुणः' वरुणदेवतः, तम् अपराद्देशात् पश्चिमात् प्रदेशात् स्वावासस्य, वर्जयेत्; पश्चिमस्थितात् न्यग्रोधात् शस्त्रसम्पीडा भवेत् । उदुम्बरः—यज्ञवृक्षः, स च प्राजापत्यः प्रजापतिदेवतः, तम् उत्तरात् स्वावासस्य वर्जयेत्, उत्तरस्थितात् उदुम्बरात् अक्ष्यामय सक्षिरोगो भवेदेवेति ॥ १४ ॥

भा०—पीपल के पेड़ की देवता सूर्य, मकान के पूर्वदिशा में पीपल वृक्ष न रक्खे, पूर्वभाग में पीपल के पेड़ रहने से अग्नि का भय रहता है । पाकड़ (पेड़) की देवता यम, मकान के दक्षिणभाग में पाकड़ का पेड़ रहने से आयु की हानि होती है। वट वृक्ष की देवता वरुण है, घरके पश्चिमभाग में बड़का पेड़

रहने से शस्त्राघात का सन्देह रहता है। गूलरवृक्ष की देवता 'प्रजापति' हैं अतएव मकान से उत्तरभाग में गूलर रहने से, नेत्ररोग होता है ॥ १४ ॥

तानस्वस्थानस्थान् कुर्वीतैताश्चैव देवता अभियजेत ॥ १५॥

'तान्' अश्वत्थादीन् पूर्वादिष्ववस्थितान् 'अस्वस्थानस्थान्' स्वस्थानेभ्य उत्थाप्यान्यत्राभिलषितस्थानेषु संस्थितान् 'कुर्वीत'; अपि 'च' तत्तदुत्थानकाले 'एताः देवताः' तत्तद्वृक्षदेवताः 'एव' 'अभियजेत' होमादिभिरर्चयेत् ॥ १५ ॥

भा०—अनुपयुक्त स्थान में समुत्पन्न पीपल आदि के पेड़ों को उखाड़ कर उपयुक्त स्थानमें रोप कर उस २ वृक्षकी उन २ देवताको होमादिसे पूजा करे ॥१५॥

मध्येऽग्नि मुपसमाधाय कृष्णया गवा यजेताजेन वा श्वेतेन सपायसाभ्यां पायसेन वा ॥ १६—१९ ॥

'मध्ये' वास्तुभवनस्य, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय' पूर्वोक्तविधिना प्रज्वाल्य 'कृष्णया गवा' कृष्णायाः गोः मांसादिना 'यजेत'—इति प्रथमः कल्पः। 'श्वेतेन अजेनवा' यजेतेति द्वितीयः। 'सपायसाभ्याम्' गोऽजाभ्याम्, पायसेन च गोऽजयो रन्यतरेण चेति तृतीयः। 'पायसेन' पायसमात्रेणैव 'वा' इत्यधमः कल्पः॥१६-१९॥

भा०—वास्तु भूमि पर आग जलाकर काली गौ के मांस आदि से याग करे, सफेद छाग के मांस द्वारा भी यह 'याग' हो सकता है, काली गौ का मांस, या सफेद छाग के मांस के साथ यदि 'पायस' हो तो और भी उत्तम हो, न हो तो केवल पायस ही से याग करे ॥ १६—१९ ॥

वसा माज्यं मांसं पायस मिति संयूयाष्टगृहीतं गृहीत्वा जुहुयाद्वास्तोष्पत इति प्रथमा वामदेव्यर्चो महाव्याहृतयः प्रजापतयइत्युत्तमा। २०-२१,२२,२३-२४॥

'इति' इमानि वसादीनि चत्वारि 'संयूय' सम्यक् मिश्रीकृत्य मिश्रितं तत् 'अष्टगृहीतं' चतुर्गृहीत मिव गृहीत्वा 'जुहुयात्'। तत्र "वास्तोष्पते प्रतिजानीह्य-स्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवानः। यत्ते महे प्रतितन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे" ॥१॥ (म० ग्रा० २, ६, १)—'इति' मन्त्रेण 'प्रथमा' आहुतिः। ततो 'वामदेव्यर्चः' तिस्रः प्रयोक्तव्याः। ततश्च 'महाव्याहृतयः' प्रयोक्तव्याः। ततः 'प्रजापतये'—'इति' एतन्मात्रेणैव मन्त्रेण 'उत्तमा' आहुतिर्होतव्येति। २०—२४॥

भा०—वसा, घृत, मांस, और पायस, इन चार (सामग्री) को एकत्र मिला कर (जिस प्रकार चार चार लेना कहा गया है, उसी प्रकार) प्रतिबार ८ ग्रहण करता हुआ होम करे। उन में से "वास्तोष्पते" मन्त्र से पहिली आहुति

देवे; अनन्तर 'वामदेव्य' संज्ञक तीन मन्त्रों से, उसके पीछे महाव्याहृति आदि का प्रयोग करे; पीछे "प्रजापतये"—इस मन्त्र से शेष आहुति देवे ॥ २०–२४ ॥

हुत्वा दश बलीन् हरेत् प्रदक्षिणं प्रतिदिशमवान्तरदेशेष्वानुपूर्व्येणाव्यतिहरन् ॥ २५ ॥

'हुत्वा' उक्तवास्तुहोमानन्तर मेव 'प्रतिदिशं' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा कृत्वा, 'अवान्तरदेशेषु' कोणेषु व्यतिहरो यथा न भवेत् तथा च कृत्वा, 'आनुपूर्व्येण' एव 'दश' सङ्ख्याकान् 'बलीन्' 'हरेत्' ॥ २५ ॥ बलीनां स्थानानि मन्त्रांश्चोपदिशति—

भा०:—वास्तु होम करके उस के पीछे प्रदक्षिणानुसार प्रति दिशा में और प्रति कोण में क्रम से १० बलि प्रदान करे ॥ २५ ॥

इन्द्रायेति पुरस्ताद् वायव इत्यवान्तरदेशे यमायेति दक्षिणतः पितृभ्य इत्यवान्तरदेशे वरुणायेति पश्चान्महाराजायेत्यवान्तरदेशे सोमायेत्युत्तरतो महेन्द्रायेत्यवान्तरदेशे वासुकय इत्यधस्तादूर्ध्वं नमोब्रह्मण इति दिवि ॥२६–३३॥

सुस्पष्टान्येतानि ॥ २६–३३ ॥

भा०:—रहने के मकान से पूर्व दिशा में, तत्पश्चात् अग्निकोण आदि आठ दिशाओं में, तत्पश्चात् नीचे ऊपर, इन दश दिशाओं में 'इन्द्राय' प्रभृति दश मन्त्रों से बलि प्रदान करे ॥ २६–३३ ॥

प्राच्यूर्ध्वावाचीभ्योऽहरहर्नित्यप्रयोगः संवत्सरेसंवत्सरे नवयज्ञयोर्वा ॥ ३४,३५, ॥ ७ ॥

प्राच्यादिदेवताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यः 'अहरहः' प्रतिदिन मेव बलिहरणं कर्त्तव्यम्; एवञ्चैषः 'नित्यप्रयोगः'—इति कस्यचिन्मतम्। स्वमते तु संवत्सरे सम्वत्सरे यदा यदा नवयज्ञौ व्रीहियज्ञो यवयज्ञश्च भवतः तदा तदैवासा मपि तिसृणां बलिहरण मिति शम् ॥ ३४, ३५ ॥ ७ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेसप्तमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥४।७॥

भा०:—इन्द्र देवता के लिये ऊपर को पूर्व दिशा में ब्रह्म देवता के लिये, एवं नीचे को वासुकि देवता के लिये, प्रतिदिन बलिकर्म करे, या प्रति वर्ष जिस समय नया अनाज हो, और जिस समय यव आदि शस्य नूतनहों उस २ नवान्न समयमें इनतीन बलिके करने सेभी होसकता है ॥३४-३५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्यायके सप्तमखण्डका भाषानुवादपूरा हुआ ॥४।७॥

अश्वणाग्रहायणीकर्मणोरक्षताञ्छिष्ट्वा प्राङ्वोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्नि मुपसमाधाय हये राक इत्येकैकयाञ्जलिना जुहुयात् ॥ १॥

पुरस्तादुक्ते 'अश्वणाग्रहायणो' कर्मणी। तयोः अक्षतबलयश्च विहिताः। तत्रसर्वैरेवाक्षतैर्बलिहरण मकृत्वा कतिचित् 'अक्षतान्' 'शिष्ट्वा' बलिशेषभूतान् रक्षित्वा तैरेवाक्षतैः 'अञ्जलिना' "हये राके सिनीवालि सिनीवालि पृथुष्टुके। सुभद्रे पथ्ये रेवति यशा नो यश आवह (स्वाहा) ॥२॥ये यन्ति प्राञ्चः पन्थानो य उ चोत्तरत आयवुः। ये चेमे सर्वे पन्थान स्तेभिर्नो यश आवह (स्वाहा) ॥३॥ यथा यन्ति प्रपदो यथा मासा अहर्जरम्। एवं मा श्रीधातारः समवयन्तु सर्वतः (स्वाहा) ॥ ४ ॥ यथा समुद्रछं स्रवन्तीः समवयन्ति दिशो दिशः। एवं मा सखायो ब्रह्मचारिणः समवन्तु दिशो दिशः (स्वाहा) ५ (म० ब्रा० २, ६, २—५)" —'इति' सूक्तान्तर्गतानां चतसृणा मृचाम्' एकैकया' 'जुहुयात्'। स च होमः,' ग्रामात्-प्राङ्वा उदङ्वा निष्क्रम्य' 'चतुष्पथे अग्निम् उपसमाधाय' तत्रैव कर्त्तव्य इति ॥१॥

भा०:—इसके पहिले 'अश्वणाकर्म' और 'आग्रहायणी कर्म' कहे गये हैं। उक्त दोनों कर्मों में 'अक्षतबलि' भी कहा गया है। इस अक्षतबलि के समय समस्त अक्षत आदि बलि कार्य में व्यवहार न करके, उस में से थोड़ा अक्षत अवशिष्ट रक्खे। इसी को एक २ अञ्जलि कर 'हये राके' इत्यादि चार मन्त्रों से आहुति देवे। यह होम गांव से बाहर निकल कर पूर्व, या उत्तरदिशा में किसी चौराहे पर आग जला कर, करे ॥ १ ॥

प्राङुत्क्रम्य वसुवन एधीत्यूदूर्ध्व मुदीक्षमाणो देवजनेभ्यस्तिर्यङितरजनेभ्योऽर्वाङवेक्षमाणोऽनपेक्षमाणःप्रत्येत्याक्षतान् प्राश्नीयादुपेतैरमात्यैः सह ॥ २—४ ॥

'उत्क्रम्य' उत्क्रमणं व्युत्क्रमणं विपरीतगमनं प्रतिगमनारम्भण मिति यावत्, तत् कृत्वा तत्र पथ्येव यत्र कुत्रचित् 'प्राङ्' प्राङ्मुखः, 'ऊर्ध्वम्' उपरि 'उदीक्षमाणः' 'देवजनेभ्यः' देवगणानुद्दिश्य "वसुवन एधि वसुवन एधि वसुवन एधि" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ६)—'इति' मन्त्रं पठेत्। ततः 'तिर्यङ्' गृहगमनाय पश्चिमाभिमुखो दक्षिणाभिमुखो वा भवितुं तिरश्चीनः सन्, 'अर्वाङ्' अधः 'अवेक्षमाणः' 'इतरजनेभ्यः' देवातिरिक्तप्राणिगणानुद्दिश्य त मेव मन्त्रं पठेत्। ततः 'अनपेक्षमाणः' पश्चादवलोकन मकृत्वैव प्रत्येत्य' स्ववासं 'उपेतैः' तदानीं तत्रो'

परिस्थितैः 'अमात्यैः' बन्धुवर्गैः सह "अक्षतान्" होमावशिष्टान् 'प्राश्नीयात्' भुञ्जीत २—४

भा०:—उसके पश्चात् मकान में फिरने के लिये, चल कर रास्ते में किसी एक स्थान में ऊपर मुंह होकर, देवताओं के लिये 'वसुवन एधि' इस मन्त्र का पाठ करे। पुनः पश्चिम मुख, या दक्षिणाभिमुख। अर्थात् घर के सम्मुख होने ही से टेढ़ा होना पड़ेगा, उसी तिरछा होते समय नीचे देखकर, अन्यान्य प्राणियों के लिये, पुनः इस मन्त्र का पाठ करे। अनन्तर पीछे न देख कर अपने स्थान पर आकर, उस समय उस स्थान में जो सब आत्मीय लोग उपस्थित हों, उन के साथ, होम से बची सामग्री भोजन करे ॥ २—४ ॥

स्वस्त्ययनम् ।५। वशङ्गमौ शङ्खश्चेति पृथगाहुती व्रीहियवहोमौ प्रयुञ्जीत यस्यात्मनि प्रसादमिच्छेत्तस्मै नित्यप्रयोगः।६,७।

उक्तेन श्रवणाग्रहायणीशेषाक्षतबलिकर्मणा 'स्वस्त्ययनं' फलं भवेत्' तथाच स्वस्त्ययनकाम एवास्याधिकारी । ५ । अथ प्रसादकामकर्म ।— 'यस्य' जनस्य 'आत्मनि' स्वे प्रसादम् 'इच्छेत्' 'तस्मै' तदुद्देशतः "वशङ्गमौ देवयानौ युव७ँ स्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति, एवं ममासौ वशमेतु (स्वाहा)॥७॥ (म० ब्रा० २, ६, ६)—शङ्खश्च मन आयुश्च देवयानौ युव७ँ स्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति एवं ममाऽसौ वशमेतु (स्वाहा)" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ८,)—'इति' आभ्यां मन्त्राभ्यां 'व्रीहियवहोमौ' व्रीहियव द्रव्यकहोमौ 'पृथगाहुती' विभिन्नद्रव्यहवनौ 'प्रयुञ्जीत' कुर्वीत । पृथगाहुतीत्युक्त्या वशङ्गमाविति मन्त्रेण व्रीहिहोमः शङ्खश्चेति मन्त्रेण च यवहोम इति । 'नित्यप्रयोगः तत्प्रसादलाभपर्यन्तमहरह एवैषः प्रयोगः कर्त्तव्य इति ॥ ६,७ ॥

भा०:—उक्त श्रवणा और आग्रहायणी दोनों कर्मों के अवशिष्ट अक्षतबलि कर्म का फल—स्वस्त्ययन है, इसलिये जो लोग विशेष 'स्वस्त्ययन' चाहें, उन्हीं को यह करना चाहिये ॥५॥ जिस किसी व्यक्तिकी प्रसन्नता चाहे वह 'वशङ्गमौ' मन्त्र से व्रीहिहोम और 'शङ्खश्च' मन्त्र से यवहोम करे। जबतक उद्देश्य सिद्ध न हो, तबतक प्रतिदिन यही प्रयोग, अनुष्ठान करे ॥ ५—७ ॥

एकाक्षर्याया मर्द्धमासव्रते द्वे कर्मणी ।८। पौर्णमास्या७ँरात्रौ खदिरशङ्कुशतं जुहुयादायुष्काम आयसान् वधकामः ॥९,१०॥

'एकाक्षर्यायाम्' "आकूतीं देवीं मनसा प्रपद्ये यज्ञस्य मातर७ँ सुहवा मे अस्तु । यस्यास्त एक मक्षरं पर७ँ सहस्रा अयुतं च शाखास्तस्यै वाचे निहवे जुहोम्या मा वरो गच्छतु श्रीर्यशश्च (स्वाहा) ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ९)"

इत्यस्या ऋचि 'द्वे कर्मणी' अनुपदवक्ष्यमाणे विद्येते, ते च द्वे एव 'अर्द्धमासव्रते' वेदितव्ये । ८ । तत्र प्रथमं कर्म शङ्कुशतहवनं नाम, तच्च कामनाद्वयभेदात् द्विविधम्, तद् द्विविधमेवोपदिशति । स्वस्य अपरस्य वा 'आयुष्कामः' पुरुषः 'खदिरशङ्कुशतं' खादिराणां शङ्कूनां कीलकानां शतं जुहुयात्, स्वस्य अपरस्य वा अथकामश्चेत् 'आयसान्' लोहविकृतान् शङ्कून् शतं जुहुयादिति । कदेत्युच्यते,–'पौर्णमास्यां रात्रौ' इति । ९ । १० । अथ स्थण्डिलहोमः ।

भा०:––'आकूतिं देवीं' इस मन्त्र को एकाक्षरी कहते हैं। इस एकाक्षरी मन्त्र विषयक जो दो कर्म कहे जाने वाले हैं, उन्हीं दो कर्मों को 'अर्द्धमासव्रत' जानो॥८॥ यदि अपनी या दूसरे की आयु बढ़ने की कामना हो, तो खैर की १०० कील होम करे। और अपनी या दूसरे की आयुके हानि की इच्छा हो, तो लोहे के १०० कीलकों का होम करे; ये दोनों कार्य पूर्णिमा की रात में करे और इन में एकाक्षरी मन्त्र का व्यवहार करे। यही शङ्कुशत होम नामक पहिला कर्म है ॥ ८, १० ॥

अथापरम् ॥ ११ ॥ प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे पर्वते वारण्यैः स्थण्डिलं प्रताप्यापोह्याङ्गारान् मन्त्रं मनसानुद्रुत्य सर्पिरास्येन जुहुयात् ॥ १२ ॥

यदुक्तं 'द्वे कर्मणी'–इति, तत्र नवमदशममन्त्राभ्यां द्विविधं शङ्कुशतहवन मुक्तम्; 'अथ' क्रमप्राप्तम् 'अपरम्' द्वितीयं कर्म स्थण्डिलहवन मिद मुपदिश्यते । अपिचात्रापि द्वैविध्यमस्ति । ११ । 'ग्रामात्' स्ववासस्थानात् 'प्राङ्' पूर्वाभिमुखः, 'उदङ् वा' अथवा उत्तराभिमुखः 'निष्क्रम्य, निर्गतो भूत्वा, 'चतुष्पथे पर्वते वा' उपस्थितः सन्, 'आरण्यैः गोमयैः' 'स्थण्डिल' लोहपात्र 'प्रताप्य' प्रतप्तं कृत्वा, 'अङ्गारान्' गोमयकृतान् स्थण्डिलस्पृष्टान् 'अपोह्य' दूरीकृत्य, 'मन्त्रं' प्रकृत मेकाक्षरीनामकं 'मनसा' 'अनुद्रुत्य' द्रुतं पठित्वा तत्रैव प्रतप्ते स्थण्डिले 'आस्येन' स्वमुखेन 'सर्पिः' घृतं जुहुयात् ॥ १२ ॥

भा०:–पहिले ही (८ मं० सूत्र में) कहा गया है कि 'एकाक्षरी' मन्त्र द्वारा दो कर्म सिद्ध होते हैं, उनमें से इसके पूर्व दो प्रकार' शङ्कुशत होम कर्म कहा गया है। अब 'स्थण्डिल होम' नामक द्वितीय कर्म कहा जाता है। यह दो प्रकार का है ॥११॥ गांवकी बस्ती से पूर्व, या उत्तर जाकर किसी एक चौराहे, या पहाड़ पर जङ्गली कण्डे से एक स्थण्डिल (वेदी) अच्छी प्रकार

तया कर, उस अङ्कार आदि को हटाकर, इस एकाक्षरी मन्त्र को मन ही मन शीघ्र पाठ कर, अपने मुंह में घी लेकर उस से होम करे ॥ १२ ॥

ज्वलन्त्यां द्वादशग्रामाः धूमे त्र्यवराद्ध्या अमोघं कर्मेत्याचक्षते ॥ १३–१५ ॥

तादृशे होमे हुते 'ज्वलन्त्यां' शिखायां यजमानस्य 'द्वादशग्रामाः' लभ्याः' भवेयुः, प्रज्वलनाभावेन 'धूमे' सति त्र्यवराद्ध्याः' अवरार्द्ध्यशब्दोऽन्यूनवचनः अतो न्यूनतोऽपि त्रयो ग्रामाः भवेयुः, ज्वालाधूमयोः अल्पत्वबहुत्वाभ्यां लब्धव्यग्रामसङ्ख्यानामल्पत्वबहुत्वं। एवञ्चैतत् सर्वथाप्यनिष्फल मिति 'अमोघं कर्म' -'इति' नाम 'आचक्षते' वृद्धाः। तदेतत् 'स्थण्डिलहोम'-नाम एकाक्षर्यां द्वितीयं कर्म।१३-१५ स्थण्डिलहोमस्यैव प्रकारान्तरेण फलान्तरजन- कत्व मुच्यते।

भा०:-उस आहुति के देने ही, यदि शीघ्र ज्वाला उठे तो, अनुष्ठाता को १२ ग्राम लाभ होंगे और यदि कुछ भी ज्वाला न हो, वरण धूम दीख पड़े, तौभी तीन गांव मिलेंगे। (सर्वथा निष्फल न होगा) इसी कारण बूढ़े लोग इसको 'अमोघ कर्म' कहते हैं। यह भी 'अर्द्धमासव्रत कहलाता है' ॥१३।१४।१५॥

वृत्त्यविच्छित्तिकामो हरितगोमयान् सायं प्रातर्जुहुयात् १६

यजमानः यदि 'वृत्त्यविच्छित्तिकामः' वृत्तिर्जीवनोपायः तस्य विच्छेदो न स्यात् इत्येवङ्कामः स्यात्, तर्हि तत्रैव आरण्यगोमयैः प्रतप्ते स्थण्डिले सर्पिर्होमनिमित्तनियमतः 'हरितगोमयान्' सद्योविसृष्टगोमयान् तेनैव आस्येनैव 'सायं' प्रातः' जुहुयात्' इति समाप्त मेकाक्षरीकृत्यम्। १६। अथ पण्यहोमः।

भा०:-यजमान अगर चाहे कि 'हमारी जीविका का नाश न हो', तो जङ्गली गोबरसे तप्त किधी हुयी वेदीपर, घी होम न करके, सायं और प्रातःकाल तात्कालिक गोवर को मुंह में रख, उससे होम करे ॥ १६ ॥

त्रिरात्रोपोषितःपण्यहोमं जुहुयादिदमहमिमं विश्वकर्माणमिति वाससस्तन्तून् गोवालानत्र मितरेभ्यः पण्येभ्यः ॥१७–२०॥

काम्येषु कर्मसु त्रिरात्राभोजनं विहितम् (प्र०४ खं०५ सू०९) पण्यहोमोऽपि काम्यं कर्म, अत्रापि तत् प्राप्त मिति विशेषं विधत्ते,-'त्रिरात्रोपोषितः' उपवासन्तु अल्पभोजनं न त्वभोजन मित्युक्तं पुरस्तात (प्र०२खं०५सू०१३-२६,प्र१ खं०६-सू०१-८) 'पण्यहोमं' पण्यं विक्रय्यद्रव्यं, तस्मै होमः पण्यहोमस्तम्। "इदमह मिमं विश्वकर्माणꣳ श्रीवत्स मभिजुहोमि (स्वाहा") ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २,-५, १०) 'इति मन्त्रेण 'जुहुयात्'। किं जुहुयादिति होमद्रव्यं विधत्ते,-'वाससः'

वासः पण्यं चेत् तस्य 'तन्तून्' दशासूत्राणि जुहुयात्। गौः पण्यं चेत्, तस्य 'गोः' 'बालान्' पुच्छलोमानि जुहुयात्। 'इतरेभ्यः' अजाविकादिभ्यः पण्येभ्योऽपि 'एवम्' एव एकदेशं लोमादिक मुद्धृत्य जुहुयादित्येव।१९-२०। अथ यशस्कामसहायकामयोः यजनीयप्रयोगौ ॥

पूर्णहोमो यजनीयप्रयोग इन्द्रामवदादिति च यशस्कामः पूर्वाᳩसहायकाम उत्तराम् ॥ २१, २२, ॥ ८ ॥

'पूर्णहोमः' "पूर्णहोमं यशसे जुहोमि, योऽस्मै जुहोति वर मस्मै ददाति, वरं वृणे यशसा भामि लोके (स्वाहा)" ॥११॥ (म० ब्रा० २. ६. ११) '-इति होमः "इन्द्रामवदात् तनो वः परस्तात्। अहं वो ज्योतिर्मा मभ्येत सर्वे (स्वाहा)" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २. ६. १२)"-'इति' मन्त्रेण 'च' होमः 'यजनीयप्रयोगः' (प्र० ४ खं० ५ सू० १२) बोध्यः। तत्र च 'यशस्कामः' चेत् 'पूर्वाम्' ऋचम् प्रयुञ्जीत 'सहायकामः' चेत् 'उत्तराम्' ऋचम् प्रयुञ्जीतेति। २१, २२ ॥ ८ ॥

इतिसामवेदीयगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेऽष्टमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम्॥४।८॥

भा०:-यदि ऐसी इच्छा हो कि हम जो व्यवहार करें, उस की उन्नति हो उस २ द्रव्य में का, एक २ अंश लेकर जैसे—कपड़े का व्यवसाय करने को प्रवृत्त हो, तो कपड़े के किनारे से सूत निकाल लें, गौ का व्यवसाय हो तो गौ की दुम में से कुछ वाल ले इत्यादि "इदमहमिमं" मन्त्र से होम करे ॥१९,२०॥

भा०:-"पूर्ण होमं यशसे जुहोमि" इस मन्त्र से होम करे और "इन्द्रामवदात्" इस मन्त्र से होम करे, ये दोनों होम 'यजनीय प्रयोग है, उन में से यश की इच्छा होने पर, प्रथम मन्त्र का प्रयोग करे और 'सहायता' की कामना हो तो शेष मन्त्रका व्यवहार करे ॥ २१ । २२ ॥ ८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्याय के अष्टम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ॥४.८॥



पुरुषाधिपत्यकामोऽष्टरात्र मभुक्त्वौदुम्बरान्स्रुवचमसेध्मानुपकल्पयित्वा प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्नि मुपसमाधायाज्य मादित्य मभिमुखो जुहुयादᳩं आ एकच्छन्दस्यᳩग्रीवा एपेति च ॥ १, २ ॥

पुरुषाणां सैनिकानां साधारणानां वानेकेषाम् आधिपत्यं यदि कामयेत, तर्हि तेन अष्टरात्र मभोजनं कर्त्तव्यम्, तत्रैव चाष्टरात्रे, 'औदुम्बरान्' स्रुवादीन्

प्रकल्प्य तदष्टरात्रान्ते तान् स्रुवादीन् गृहीत्वा 'प्राङ् उदङ् वा ग्रामात् निष्क्रम्य' यं कञ्चि दपि चतुष्पथं प्राप्य तत्रैव 'अग्निम् उपसमाधाय' 'आदित्यं' द्युस्यम् 'अभिमुखः' "सन् अन्नं वा एकच्छन्दस्य मन्नञ्छ्लोकं भूतेभ्यच्छदयति (स्वाहा)" ॥१३॥ (म० ब्रा० २,६, १३) इति मन्त्रेण 'आज्यं जुहुयात्'। ततः "श्रीर्वा एषा यत्सतत्वानो, विरोचनो मयि सत्स्व मवदधातु (स्वाहा)" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १४) 'इति' मन्त्रेण 'च' पुनरपि आज्यमेव जुहुयादिति ॥ १,२ ॥

भा०:–यदि किसी की ऐसी इच्छा हो कि हमें 'पुरुषाधिपत्य' हो (सेनापति, प्रभृति बड़ा ओहदा, या बहुत लोग हमारा मान्य करें) तो, वह व्यक्ति आठ रात भोजन न करे, इसी बीच में गूलर की लकड़ी का स्रुवा चमस और ईध्म संग्रह कर, सब को अपने साथ लेकर गांव के पूर्व उत्तर, बाहर जाकर किसी चौराहे पर अग्निस्थापन कर "अन्नं वा" मन्त्रसे घीकी आहुति देवे एवं उसी के पश्चात् लगातार "श्रीर्वाएष" इस मन्त्र से दूसरी आहुति देवे॥१,२॥

अन्नस्य घृत मेवेति ग्रामे तृतीयां गोष्ठे पशुकामो विदूयमाने चीवरम् ॥ ३–५ ॥

ततः 'ग्रामे' प्रत्यागत्य "अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः सम्पत्कामो जुहोमि (स्वाहा)" ॥१५॥ (म० ब्रा० २, ६, १५) 'इति' मन्त्रेण 'तृतीयाम्' आहुतिं जुहुयात् आज्यस्यैव । स च पुरुषाधिपत्य कामः पुरुषः यदि 'पशुकामः' अपि तर्हि ग्रामे होतव्यां ता माहुतिं 'गोष्ठे' एव जुहुयात्। तत्रापि तद् गोष्ठं 'विदूयमानम्' आर्द्रं चेत् तत्र 'विदूयमाने' गोष्ठे 'चीवरं' लौहचूर्णं जुहुयात् नाज्य मिति ॥ ३–५ ॥

भा०–अनन्तर ग्राममें वापस आकर "अन्नस्य घृत मेव" इस मन्त्रसे तृतीय आहुति देवे । उस पुरुषाधिपत्य चाहने वाले व्यक्ति को, यदि यह भी इच्छा हो कि मुझे बहुत पशु हों, तो उस तृतीय आहुति को गोशाला में देवे । और यदि वह गोशाला गीली हो, तो उस स्थान में घी की तीसरी आहुति न करके, लोह चूर्ण होम करे (घी के बदले में) ॥ ३,४,५ ॥

प्रतिभयेऽध्वनि वस्त्रदशानां ग्रन्थीन् बध्नीतोपेत्य वसनवतः स्वाहाकारान्ताभिः सहायानाञ्च स्वस्त्ययनम् ॥६,७॥

'अध्वनि' मार्गे 'प्रतिभये' भयहेतौ उपस्थिते 'वसनवतः' सहचारिणो पान्थजनान् 'उपेत्य' तत्समीपं गत्वा 'स्वाहाकारान्ताभिः' ताभिरेव "अन्नं वा" (मं०ब्रा०२०६ १३-१५)इत्यादिभिस्तिसृभिः ऋग्भिः 'वस्त्रदशानां ग्रन्थीन्' 'बध्नीत'। एतेन कर्मणा

'सहायानां' सहचारिणामपि पथिकानां 'स्वस्त्ययनं' भवेत्, किम्पुनः भयप्राप्तस्यैकस्य तस्येति ॥ ६, ७ ॥ अथ आचितसहस्रकामकर्म-

भा०-यदि रास्ते में दैवयोग से एकाएक किसी प्रकार का भय आपड़े, तो झटिति सहचारी मुसाफिर के पास हो कर पूर्वोक्त "अन्नं वा" इन तीन मन्त्रों से स्वाहाकारान्त जप करते हुए कपड़े के किनारे के सूत आदि बांधे। इस से उक्त भय भीत व्यक्ति का भय तो दूर हो ही गा, किन्तु उस के साथी पथिक गण को भी मङ्गल होगा ॥ ६, ७ ॥

आचितसहस्रकामोऽक्षतसक्त्वाहुतिसहस्रं जुहुयात् ॥८॥

ताभिस्तिसृभिः ऋग्भिः स्वाहाकारान्ताभिरेव, एकैकाहुतिर्होतव्येति च ।८

भा०-जो कोई सहस्र आचित (२५ मन अर्थात एक गाड़ी का बोझ) की कामना करे वह तीनों मन्त्रों से अक्षत-सत्तू की १००० आहुति देवे ॥ ८ ॥

पशुकामो वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं जुहुयात् ॥९॥

पशून् गवादीन् कामयते यः पुरुषः, सः 'वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं जुहुयात्' स्वाहाकारान्ताभिस्ताभिस्तिसृभिरेवर्ग्भिरिति ।९। अथक्षुद्रपशुकामकर्म

भा०-यदि किसी को ऐसी इच्छा हो कि मुझे गौ आदि बड़े २ पशु हों,तो वह दो बछड़े के सूखे गोबर से उक्त तीन मन्त्र द्वारा १००० आहुतिदेवे ॥९॥

अविमिथुनयोः क्षुद्रपशुकामः ॥ १० ॥

अविमिथुनयोः शुष्कैः पुरीषैरिति, ताभिस्तिसृभिः स्वाहाकारान्ताभिरिति च । १० । अथ वृत्त्यविच्छित्तिकामकर्म-

भा०-जिस किसी को ऐसी इच्छा हो कि मुझे भेड़ आदि छोटे २ पशु हों तो वह दो भेड़ के सुखे गोबर से उक्त तीन मन्त्रों से १००० आहुति देवे । १० ।

वृत्त्यविच्छित्तिकामः कम्बूकान् सायंप्रातर्जुहुयात् क्षुधे स्वाहा क्षुत्पिपासाभ्याᳬस्वाहेति ॥ ११ ॥

'कम्बूकान्' तुषान् ; फलीकरणकणानिति टीकान्तरम् । अन्यद् व्याख्यातमिवैव । ११ । अथ विषदोषनाशकामकर्म-

भा०-यदि किसी को यह इच्छा हो कि मेरी जीविका निरन्तर बनी रहे, वह प्रतिदिन सायं प्रातःकाल "क्षुधेस्वाहा" मन्त्र से तुष की आहुति देवे ।११।

मा भैषीर्न मरिष्यसीति विषवता दष्ट मद्भिरभ्युक्षन्जपेत्॥१२॥

'विषवता' सर्पेण, वृश्चिकादिना वा 'दष्टं' स्थानम् 'अद्भिः अभ्युक्षन्' "मा भैषीर्न मरिष्यसि जरदष्टि र्भविष्यसि । रसं विषस्य नाविद भुग्रं फेन मिवास्यम्" १८ (म० ब्रा० २,६,१८) इति मन्त्रं जपेत्।१२ अथ स्नातकस्वस्त्ययनकर्म—

भा०—विषधर सांप आदि के डसने पर, उस काटेहुए स्थान को धोकर "माभैषीर्न" इस मन्त्रका जप करे। इससे सब प्रकारके विषदोष दूर होंगे॥१२॥

तुरगोपायेति स्नातकः संवेशनवेलायां वैणवं दण्ड मुपनिदधीत स्वस्त्ययनार्थम् ॥ १३ ॥

'स्नातकः' कृतसमावर्त्तनो द्वितीयाश्रमाय उद्युक्तः 'संवेशनवेलायां' शयनसमये 'स्वस्त्ययनार्थम्' "तुरगोपाय मा नाथ गोपाय मा। अशस्तिभ्यो अरातिभ्यः स्वस्त्ययन मसि ॥ १९ ॥ (म० ब्रा० २. ६. १९)"—'इति' मन्त्रेण 'वैणवं दण्डं' वंशयष्टिम् 'उप' समीपे स्वस्यैव 'निदधीत' स्थापयीत।१३। अथ क्रिमिनाशकामकर्म

भा०—स्नातक गण (पूर्वोक्त ३ प्रकार के) अपने कल्याणार्थ, शयनकाल में "तुरगोपाय" इस मन्त्रसे बांसकी एक छड़ी या लाठी अपने पास रक्खे॥१३॥

हतस्ते अत्रिणा क्रिमिरिति क्रिमिमन्तं देश मद्भिरभ्युक्षन् जपेत् ॥ १४ ॥

'क्रिमिमन्तं देशम्' व्रणादिक मधनुदरादिकञ्च 'अद्भिः अभ्युक्षन्'*"हतस्ते अत्रिणा क्रिमि र्हतस्ते जमदग्निना । गोतमेन तिनीकृतो उत्रैव त्वा क्रिमे ब्रह्मवद्यमवद्य ॥ १ ॥ भरद्वाजस्य मन्त्रेण, सन्तिनोमि क्रिमे त्वा। क्रिमिᳫंह वक्त्रतोदिनं, क्रिमिमान्त्रानुचारिणम् । क्रिमिं द्विशीर्ष मर्जुनं, द्विशीर्षᳫंह चतुर्हनुम् ॥ २ ॥ हतः क्रिमीणां क्षुद्रको हता माता हतः पिता । अथैषां भिन्नकः कुम्भो य एषां विषधानकः ॥३॥ *** क्रिमि मिन्द्रस्य बाहुभ्या मवाञ्चं पातयामसि। हताः क्रिमयः साशातिकाः सनीलमक्षिकाः ॥ ४॥ ७ ॥ (म०ब्रा० २, ७, १–४)"—'इति' चतुर्ऋचं सूक्तं, 'जपेत्' । एतेनैव क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १४ ॥

भा०—जिस किसी (घाव, ज़खम आदि) स्थानमें कीड़े पड़गये हों उस स्थानको जल से धोकर "हतस्ते" इत्यादि चार मन्त्रों का जप करे; इसी से क्या पेट का, क्या किसी घाव के कीड़े क्यों न हों, सब ही कीड़े नष्ट हो जावेंगे ॥ १४ ॥

---

* अत्रि ऋषि ही ने सब से पहिले कृमिनाशन औषधि आविष्कार किया था, पीछे यमदग्नि, एवं उस के बाद गौतम ऋषि ने । ** भारद्वाज ऋषि के मन्त्रणा प्रभाव से आविष्कृत औषधि की सहायता से तीन प्रकार के क्रमियों का नाश करता हूं ॥ *** इन्द्रयव (औषधि) से ऐत्रिवत नाम औषधि से ।

पशूनाञ्चेच्चिकीर्षेदपराह्णे सीतालोष्ट माहृत्य वैहायसीं निदध्यात्तस्य पूर्वाह्णे पांशुभिः परिकिरन् जपेत् ॥१५॥९॥

तदेव क्रिमिनाशनं 'पशूनां' गृहपालितानां गवादीनां 'चिकीर्षेत् चेत्', तर्हि 'अपराह्णे' काले 'सीतालोष्टं' लाङ्गलोत्थं लोष्टम् 'आहृत्य' 'वैहायसीं' दिशां 'निदध्यात्' अनावृते ऊर्ध्वे स्थापयेदिति यावत्। ततो रात्रिप्रभाते 'पूर्वाह्णे' एव काले 'तस्य' लोष्टस्य 'पांशुभिः' रजोभिः पशोः क्रिमिमन्तं प्रदेशम् 'परिकिरन्' त मेव सूक्तं, 'जपेत्'। एतेनैव पशूनां क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १५ ॥९॥
इतिसामवेदीयगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेनवमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ।४।९।

भा०:—यदि पशु आदि के कीड़ों को नाश करने की इच्छा हो, तो किसी दिन दो पहर के पीछे, हल जोतने से जो ढेला निकला हो, वह ढेला लेकर खुले मैदान में ऊपर को भूला रक्खे, उस के दूसरे दिन उस ढेले को फोड़ कर उसकी धूलि, जहां कीड़े पड़े हों, उन पर छींट २ कर उक्त ४ मन्त्र जप करे। इसी से गौ आदि पशु के सब प्रकार के कीड़े नष्ट हो जायेंगे ॥ १५ ॥ ९ ॥
गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके नवम खण्डका अनुवाद समाप्तहुआ ॥ ४, ९ ॥

(मधुपर्क विधि)

उत्तरतो गां बद्ध्वाऽऽपतिष्ठेरन्नर्हणा पुत्रवाससेति ॥ १ ॥

इदमह मिमां पद्यां विराज मन्नाद्यायाधितिष्ठामीति प्रतितिष्ठमानो जपेद्यत्रैन मर्हयिष्यन्तः स्युर्यदा वार्हयेयुः ॥ २ ॥

आचार्यादीनां षण्णां सन्यतमस्य अर्हणीयस्य 'उत्तरतः' 'गां बद्ध्वा' "अर्हणा पुत्रवाससा धेनु रभवद्यमे। सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तरांसमाम् ॥१॥ (म० ब्रा० २, ८, १)"—'इति' मन्त्रं पठन्, तमर्हणीयम् 'उपतिष्ठेरन् ॥१॥ 'यत्र' स्थाने 'एनम्' अर्हणीयम् 'अर्हयिष्यन्तः' शिष्यादयः 'स्युः' 'यदा वा' यस्मिंश्च काले ते 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः, तत्रैव स्थाने, तदेव काले, सः अर्हणीयः आचार्यादीना सन्यतमः 'प्रतितिष्ठमानः' उपवेशयमानः "इदमह मिमां पद्यां विराज मन्नाद्यायाधितिष्ठामि" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० २, ८, २)"—'इति' मन्त्रं 'जपेत्' ।२।
विष्टरादीनां षण्णां त्रिस्त्रिर्वेदनीयता माह, ।

भा०:—आचार्य्य प्रभृति अर्हणीय व्यक्ति के उत्तर भाग में गौ बान्ध कर रक्खें और "अर्हणा पुत्र वाससा" मन्त्र से उन अर्हणीय व्यक्ति के आने पर अनुमोदन करे ॥१॥ जिस स्थान में इन "अर्हणीय" व्यक्ति की पूजा करने के लिये

शिष्य आदि की इच्छा हो, एवं जिस समय अर्चना करनी सम्भव हो, उसी स्थान में उसी समय, अर्हणीय व्यक्ति खड़ा होकर "इदमहमिमां" मन्त्र पढ़े ॥२॥

विष्टरपाद्यार्घ्याचमनीयमधुपर्कानेकैकशस्त्रिस्त्रिर्वेदयेरन् ॥३॥

विष्टरादीन् पञ्च 'एकैकशः' प्रत्येकं 'त्रिः त्रिः' उच्चार्य 'वेदयेरन्' निवेदयेरन्, अर्हयितार इति शेषः ॥ ३ ॥ विष्टरग्रहणविधिः ।

भा०:—विष्टर (बिछावन) पाद्य (पैर धोने का जल) अर्घ्य (हाथ धोने का जल) आचमनीय (कुल्ला करने का जल) और मधुपर्क (खाने की वस्तु) ये पांच, इन में से एक २ करके तीन २ बार निवेदन करे ॥ ३ ॥

या ओषधीरित्युदञ्चं विष्टर मास्तीर्याध्युपविशेत् ॥४॥ द्वौ चेत् पृथगृग्भ्याम् ॥ ५ ॥

'अर्हणीयो जनः विष्टरं प्राप्य "या ओषधीः सोमराज्ञी र्बह्वीः शतविचक्षणाः । ता मह्य मस्मिन्नासनेऽच्छिद्राः शर्म्म यच्छत ॥ ३ ॥" "या ओषधीः सोमराज्ञी र्विष्ठिताः पृथिवीमनु । ता मह्य मस्मिन् पादयो रच्छिद्राः शर्म्म यच्छत ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ३, ४)"—'इति' द्वयं सूक्तं पठन्, तं विष्टरम् 'उदञ्चम्' 'उत्तराग्रम्' कृत्वा आसने 'आस्तीर्य' पातयित्वा, 'अधि' तदुपरि 'उपविशेत्' (आसने इति तु मन्त्रलिङ्गाद् ज्ञायते) ॥ ४ ॥ 'द्वौ' विष्टरौ प्राप्तौ चेत्, द्वावेव तौ 'पृथगृग्भ्यां' पूर्वसूत्रोक्ते या ओषधीरिति सूक्ते श्रुताभ्यां विभिन्नाभ्यां व्यवहार्यौ ॥ ५ ॥

भा०:—अर्हणीय व्यक्ति विष्टर पाकर "या ओषधीः" इन दो मन्त्रों का पाठकर उत्तराग्र आसन पर बैठे ॥ ४ ॥ यदि पूजा करने वाला दो विष्टर देवे तो, पूर्वोक्त दो मन्त्रों में से एक२ को पढ़कर इन दो विष्टरों को देवे ॥५॥

पादयोरन्यम् ॥ ६ ॥ यतो देवीरित्यपः प्रेक्षेत ॥ ७ ॥ सव्यं पाद मवनेनिज इति सव्यं पादं प्रक्षालयेत् ॥ ८ ॥

तत्र एकं विष्टरम् आसनोपरि आस्तीर्याध्युपविशेदित्युक्तम्, 'अन्यम्' द्वितीयं तु 'पादयोः' अधस्तात् आस्तीर्याध्युपविशेदित्येव । ६ । पाद्यग्रहणविधिः ॥ अर्हयित्रा पाद्याय दत्ताः 'अपः' "यतो देवीः प्रतिपश्याम्यापस्ततो मा राद्धि रागच्छतु ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ५)"—'इति' मन्त्रं पठन् 'प्रेक्षेत' अर्हणीयो जन इति (पाद्यादिलक्षणांत्वस्या एव टीकायाः परिशिष्टे) । ७ ।

"सव्यं पाद मवनेनिजे ऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियं दधे" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ६) 'इति' पठन् अर्हणीयः सः 'सव्यं' वामं 'पादं' प्रक्षालयेत् । ८ ।

भा०—एक विष्टर आसन पर डाले, दूसरा दोनों पैर के नीचे रक्खे॥ ६ ॥ पूजा करने वाले से, जल पैर धोने के लिये दिये जाने पर, उस जल को "यतो देवी" इस मन्त्र से मान्य व्यक्ति निरीक्षण करे ॥ ७ ॥ अनन्तर वह मान्य व्यक्ति थोड़ा जल देकर "सव्यं पाद मवनेनिजे" इस मन्त्र का पाठ कर अपना बांया पैर धोवे ॥ ८ ॥

दक्षिणं पाद मवनेनिज इति दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत्॥९॥ पूर्वं मन्य मपर मन्य मित्युभौ शेषेण ॥ १० ॥

ततः "दक्षिणं पाद मवनेनिजे ऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियमावेशयामि" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ७)—'इति' मन्त्रं पठन् स अर्हणीयः 'दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत् । ९ । 'शेषेण' अवशिष्टेन पाद्योदकेन 'उभौ' पादौ सव्यदक्षिणौ एकत्रीकृत्य प्रक्षालयेत्, तत्र च "पूर्वं मन्य मपर मन्य मुभौ पादावनेनिजे। राष्ट्रस्य दृध्यां अभयस्यावरुद्ध्यै "॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ८)—इति मन्त्रः प्रयोक्तव्यः। १०। अर्घ्यग्रहणविधिः ।

भा०:—उस के पश्चात् "दक्षिणपाद मवनेनिजे" इस मन्त्र का पाठ कर अपना दहिना पैर धोवे ॥९॥ बाकी जल से दोनों पैर एकत्र धोवे इसी समय "पूर्वं मन्य" इस मन्त्र का पाठ करे ॥ १० ॥

अन्नस्य राष्ट्रिरसीत्यर्घ्यं प्रतिगृह्णीयात् ॥ ११ ॥ यशोऽसीत्याचमनीय माचामेत् ॥ १२ ॥ यशसो यशोऽसीति मधुपर्कं प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

"अन्नस्य राष्ट्रिरसि राष्ट्रिस्ते भूयासम्" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ९)—'इति' मन्त्रं पठन्, स अर्हणीयः, अर्हयित्रा दत्तम् 'अर्घ्यम्' प्रतिगृह्णीयात् । ११ । आचमनीयग्रहणविधिः । "यशोऽसि यशो मयि धेहि" ॥१०॥ (म० ब्रा० २, ८, १०)—'इति' मन्त्रं पठन्, स अर्हणीयः अर्हयित्रा दत्तम् ' आचमनीयम् ' आचमनार्थ मुदकं गृहीत्वा 'आचामेत्' आचमनविधिना आचमनं कुर्यादिति । मधुपर्कग्रहणविधिः । ततोऽर्हयित्रा दत्तं 'मधुपर्कं' "यशसो यशोऽसि" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ११)—'इति' मन्त्रं पठन् अर्हयिता प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

भा:—"अन्नस्य राष्ट्रिरसि" इस मन्त्र का पाठ कर वह मान्य व्यक्ति अर्ह-

यिता का दिया अर्घ्य ग्रहण करे ॥११॥ अनन्तर अर्हयिता (पूजक) द्वारा आच-मनीय जल देने पर, उस जल से "यसोऽसि" इस मन्त्र से, पूर्वोक्त आचमन विधि अनुसार, मान्य व्यक्ति आचमन करे ॥ १२ ॥ उस के पश्चात् अर्हयिता से 'मधुपर्क' दिये जाने पर मान्यव्यक्ति " यशसो " यह मन्त्र पढ़ कर उसे ग्रहण करे ॥ १३ ॥

यशसो भक्षोऽसि महसोभक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि श्रियं मयि धेहीति त्रिः पिबेत्तूष्णीं चतुर्थम् । १४, १५ ॥

गृहीतञ्च तं मधुपर्कं "यशसो भक्षोऽसि महसो भक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि श्रियं मयि धेहि ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ८, १२.)"—'इति' मन्त्रेण 'त्रिः' त्रिवारं 'पिबेत्' 'तूष्णीम्' अमन्त्रक मेव 'चतुर्थं' पान मिति ॥ १४, १५ ॥

भा०—लिये हुये उस मधुपर्क को "यशसो" इस मन्त्र का तीनवार पाठ करे एवं उस के अनन्तर चतुर्थ वार विना मन्त्र पढ़े पान करे ॥ १४, १५ ॥

भूय एवाभिपाय शेषं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १६ ॥

मधुपर्काधिक्यञ्चेत् 'भूयः' पुनरपि पञ्चमवार मपि अमन्त्रक मेव 'अभि-पाय' 'शेषं' पानावशिष्टं 'ब्राह्मणाय' श्रद्धावते यस्मै कस्मै चित् 'दद्यात्' । १६। बद्धगोमुक्तिप्रकारः

भा०—यदि मधुपर्क अधिक प्राप्त हो जावे, (जो बार बार पीने पर भी न निघटे) तो पञ्चम वार भी पीवे, इस वार भी मन्त्र पढ़ने की आवश्य-कता नहीं ॥ १६ ॥

आचान्तोदकाय गौरिति नापितस्त्रिर्ब्रूयात् ॥ १७ ॥

ततश्च 'आचान्तोदकाय' स्वस्थचित्ताय अर्हणीयाय 'नापितः' गवादेर्विश-सिता 'गौः'—इति पदं 'त्रिः' त्रिवारं 'ब्रूयात्' । वारत्रयगोपदोच्चारणमात्रेङ्गितेन अद्ध्वा गौरिदानी मालब्धव्या न वा ?' इति अर्हणीय मुद्दिश्य विशसिता नापितः पृच्छेदिति । १७। ततस्तं नापितं किं प्रतिब्रूयादित्याह ।

भा०—पीछे जब वह मान्य व्यक्ति मुंह आदि धो कर स्वस्थ चित्त होवें, तब शस्त्र हाथ में ले नापित आकर उन मान्य व्यक्ति को तीनवार जतलावें, "गौ ! " अर्थात् इसी समय क्या गौ काटनी पड़ेगी ? (यही इङ्गित से जि-ज्ञासा करे) ? ॥ १७ ॥

मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विषन्तं मेऽभिधेहीति तं जह्यमुष्य चोभयोरुत्सृज गा मत्तु तृणानि पिबतूदकमिति ब्रूयात्१८

"मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विषन्तं मे ऽभिधेहि ॥१३॥ (म० ब्रा० २, ८, १३)" —'इति' मन्त्रं "तं जह्यमुष्य, चोभयो * रुत्सृज, गा मत्तु तृणानि, पिबतूदकम् ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० १, ८, १५)"—'इति' मन्त्रं च तं नापितं ब्रूयात्—इमौ मन्त्रौ पठन्नर्हणीयो गोमोचनमयादेशं कुर्यादिति ॥ १८ ॥

भा०—अनन्तर नापित के उत्तर में मान्य व्यक्ति "मुञ्चगां" मन्त्र एवं "तं जह्यमुष्य" मन्त्र, इन दो मन्त्रो को पढ़ कर गौ छोड़ने की आज्ञा देवे ॥१८॥

माता रुद्राणा मित्यनुमन्त्रयेत।१९। अन्यत्र यज्ञात्॥२०॥

तादृशादेशेन मुक्तायां गवि ता मेव गा मवलोकयन्नर्हणीय एव "माता रुद्राणांदुहिता वसूनाᳬ स्वसादित्यानाममृतस्यनाभिः । प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गा मनागा मदितिं वधिष्ट"॥ १५ ॥ ८ ॥ २ (२,८, १५)–'इति' अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रणं कुर्वीतेति । १९ । गवालम्भनानालम्भनयोर्व्यवस्थामाह—'यज्ञात्' यज्ञः (श्रौतसूत्राद्यनुसारतोऽनुष्ठेयो ज्योतिष्टोमादिः) तस्मात् 'अन्यत्र' गृह्यसूत्रोक्तविवाहादौ पूर्वोक्तो गोमोचन–विधिः विद्यादिति ॥ २० ॥

भा०—मान्य व्यक्ति की उसप्रकार की आज्ञा सुन, वधार्थ बांधी गौ को खूटेसे नापित छोड़ दे, मान्य व्यक्ति, "माता रुद्राणां" इस मन्त्र से उस गौ को अनुमन्त्रण करे ॥१९॥ श्रौतसूत्रानुसार जो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ अनुष्ठित होते, उस से भिन्न स्थान में, अर्थात् गृह्य सूत्रोक्त विवाह आदि संस्कार में उक्त गौ मोचन व्यवस्था समझनी चाहिये ॥ २० ॥

कुरुतेत्यधियज्ञम् । २१ । षडर्घ्यार्हा भवन्ति। २२ । आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति।२३।

'अधियज्ञम्' यज्ञम् अधिकृत्य आदेशवचनं तु 'कुरुत' बद्धायाः तस्याः गाः आलभनम् 'इति' एव । २१ । अर्हणीयपरिगणनम्—अर्घ्यार्हाः अर्घ्यप्राप्तियोग्याः 'षट्' एव भवन्ति। २२ । के ते ? इत्याह,—'आचार्यः' कल्पादिसहितसमग्रवेदाध्यापकः, 'ऋत्विक्' होत्रादीना मन्यतमः, 'स्नातकः' कृतसमावर्त्तनाङ्गस्नानः, 'राजा' अभिषिक्तो राजा, 'विवाह्यः' विवाहं कर्त्तु मागतः, 'प्रियोऽतिथिः' विद्यादिगुणवानभ्यागतः :—इति षट् । २३ । अर्हणकालनिर्णयं करोत्याचार्यः ।

भा०—यज्ञ में—खूंटे में इसप्रकार बंधेहुए गौको मोचनार्थ पूछने पर "करो"

अर्थात् उस "गौ को वध करो" यही आदेश करना चाहिये ॥२१॥ छः व्यक्ति-मान्य वा अर्हणीय होते हैं ॥२२॥ आचार्य, ऋत्विग, स्नातक, राजा, वर और गुणवान् अतिथि, ये छः व्यक्तिमान्य अर्हणीय हैं ॥ २३ ॥

परिसंवत्सरानर्हयेयुः । २४ । पुनर्यज्ञविवाहयोश्च पुनर्यज्ञविवाहयोश्च ॥ २५ ॥

'परिसंवत्सरान्' वीप्सायां परि; संवत्सरान् प्रतीति यावत । तथाच प्रतितृतीयादिवर्षान्ते तानाचार्यादीनर्हणीयान् 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः शिष्यादय इति । २४ । संवत्सरत्रयमध्येऽप्याह । यज्ञे विवाहे च समागतान् तान् संवत्सरत्रयमध्ये 'पुनः' 'च' अपि अर्हयेयुरित्येव । द्विर्वचन मध्यायसमाप्तिसूचकमिति शम् । २५ ॥ १० ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके दशमस्य खण्डस्य व्याख्यानं सामश्रमिकृतं समाप्तम् ॥ ४ । १० ॥

॥ चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

भा०—अन्यून प्रति—तीसरे वर्ष के अन्त में आचार्य आदि की पूजा करे ॥ ॥ २४ ॥ यज्ञ और विवाह के अवसर पर मान्य लोग (उक्त छः) तीन वर्षके बीच में भी (जब ज़रूरत हो) यदि आवें तो उन का यथावत् सत्कार करे॥२५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के दशम खण्ड का भाषानुवाद समाप्त हुआ। चतुर्थ प्रपाठक भी समाप्त हुआ और गोभिलगृह्यसूत्र भी समाप्त हुआ।

श्रीमान् माननीय बाबू शिवराम सिंह जी के कनिष्ट पुत्र क्षत्रियकुमार उदयनारायण सिंह (मधुरापुर डा० विद्दूपुर ज़ि० मुज़फ्फ़रपुर) कृत गोभिलगृह्यसूत्र का भाषानुवाद पूरा हुआ।



टीकापरिशिष्टम् ॥



इह गृह्यसूत्रे यानि कानिचित् दुर्बोधपदादीनि विद्यन्ते, तेषा मर्थादिबोधनायेदम् ।

गृह्याकर्माणि ॥ १ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"पत्न्यः पुत्राश्च कन्याश्च जनिष्याश्चापरे सुताः । गृह्या इति समाख्याता यजमानस्य दायकाः ॥ ३५ ॥ तेषां संस्कारयोगेन शान्तिकर्मक्रियासु च । आचार्यविहितः कल्पस्तस्माद् गृह्या इति स्थितिः" ॥३६॥ इति गृह्यासङ्ग्रहः ।१।

एवञ्च गोभिलाचार्यप्रणीता इयं स्मृतिः 'गृह्या'—इत्युच्यते, तस्यां यानि कर्माणि वक्ष्यमाणानि, तान्येव गृह्याकर्माणि । इत्येकोऽर्थः । अपरार्थस्तु मूलेन साकमेव मुद्रितः । केचित्तु 'गृह्या'—इति कर्माणीत्यस्य विशेषणं, पृथक् पदं, सुपांसुलुगित्यात्वेच रूप मिति मन्यन्ते, तथाच 'गृह्येऽग्नौ अनुष्ठेयानि कर्माणि' इति तृतीयोऽर्थः सम्पद्यते ।

अन्वाहार्यवन्ति ॥५॥ प्र० १ खं० १ ।

"यत् श्राद्धं कर्मणा मादौ या चान्ते दक्षिणा भवेत् । अमावास्यां द्वितीयं यत् अन्वाहार्यं तदुच्यते ॥" क० प्र० ३ । अन्वाहार्यं विद्यते येषां कर्मणां तानीमानि अन्वाहार्यवन्ती—त्यर्थः । तत्रापि विशेषोऽस्ति, तथाचोक्तं कर्मप्रदीपे— "नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न श्राद्धे श्राद्ध मिष्यते । न सोष्यन्ती—जातकर्म—प्रोषितागत-कर्मसु ॥"—इत्यादि ।

अभिरूपभोजनम् ॥ ६ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"यत्र विद्या च वित्तं च सत्यं धर्मः शमो दमः । अभिरूपः स विज्ञेयः स्वाश्रमे यो व्यवस्थितः ॥" गृ० सं० २ । १२

अन्त्यां समिधम् ॥ ७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"आचार्येणाभ्यनुज्ञात आचार्याग्नौ विधिर्यथा । प्रणीतेऽग्नौ समिद्दद्याद्-न्त्या सा ब्रह्मचारिणाम् ॥" गृ० २ । १८ "नाङ्गुष्ठादधिका ग्राह्या समित् स्थूलतया क्वचित् । न वियुक्तत्वचा चैव न सकीटा न पाटिता । प्रादेशान्नाधिका नोना न तथा स्याद्विशाखिका । न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु च विजानता क० प्र० १ ।

अभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"उत्तानेनैव हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतम् । न्यञ्चताभ्युक्षणं प्रोक्तं तिरश्चावोक्षणं मतम् ॥" गृ० १ । १०३ भा०

लक्षणावृत् ॥ १० ॥ प्र० १ खं० १ ।

अत्राहरणाद्यभ्युक्षणान्तं लक्षण मुच्यते, तस्य आवृत् रीति रिति । गृह्यासंग्रहे तु—"लक्षणं तत् प्रवक्ष्यामि प्रमाणं दैवतञ्च यत् ॥४७॥ ×××× तस्मात् फलेन पुष्पेण पर्णेनाथ कुशेन वा । प्रोल्लिखेल्लक्षणं विप्रः सिद्धिकामस्तु कर्मसु ॥ ४८ ॥ सव्यं भूमौ प्रतिष्ठाप्य प्रोल्लिखेद् दक्षिणेन तु । तावन्नोत्थापयेत् पाणिं यावदग्निं निधापयेत् ॥ ४९ ॥ प्रागग्रता पार्थिवी ज्ञेया आग्नेयी चाप्युदग्गता । प्राजापत्या तथा चैन्द्री सौमी च प्राक्कृता स्मृता ॥ ५० ॥ उत्करं गृह्य रेखाभ्योऽरत्निमात्रे निधापयेत् । द्वारमेकन्तु द्रव्याणां प्रागुदीच्यां दिशि स्मृतम् ॥५१॥ पार्थिवी चैव सौमी च लेखे द्वे द्वादशाङ्गुले । एकविंशतिराग्नेयी प्रादेशिन्ये उभे स्मृते ॥ ५२ ॥ षडङ्गुलान्तराः कार्या आग्नेयी संहितास्तु ताः । पार्थिवायास्तु रेखायास्तिस्रस्ता उत्तरोत्तराः ॥ ५३ ॥ शुक्लवर्णा पार्थिवी स्यादाग्नेयी लोहिता भवेत् । प्राजापत्या भवेत् कृष्ण नीलामैन्द्रीं विनिर्दिशेत् ॥ ५४ ॥ पीतवर्णेन सौमी स्याद्रेखाणां वर्णलक्षणम् । एष लेखविधिः प्रोक्तो गृह्याकर्मसु सर्वसु ॥ ५५ ॥ सूक्ष्मास्ता ऋजवः कार्या लेखास्ताः सुसमाहिताः ॥" ५६ ॥ १ ।

अग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"कपालैर्भिन्नपात्रैर्वा न त्वामैर्गोमयेन वा । अग्निप्रणयनं कार्यं यजमानभयावहम् ॥ ६४ ॥ अल्पः प्रणीतो विच्छिन्नोऽसमिद्धश्चापरिश्रुतः । त्वरया पुनरानीतो यजमानभयावहः ॥ ६५ ॥ तस्माच्छुभेन पात्रेण अविच्छिन्नाकृशं बहु । अग्निप्रणयनं कुर्यात् यजमान-सुखावहम् ॥ ६६ ॥ शुभं पात्रन्तु कांस्यं स्यात् तेनाग्निं प्रणयेद् बुधः । तस्याभावे शरावेण नवेनाभिमुखञ्च तम् ॥"६७॥ गृ०सं० १ ।

अग्निसमाधानम् ॥ १४ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"आधानस्य तु चत्वार उक्ताः कालाः पृथक् पृथक् । (१) अन्त्या समिद्, (२) विवाहश्च, (३) विभागः, (४) परमेष्ठिनः ॥" गृ० सं० १ । ७६ गोभिलीयानान्तु त्रयएव कालाः । विभागकालस्तु गौतमीयानाम् ।

मथित्वा ॥ १७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

अरणिद्वयमिति शेषः । अरणिद्वयलक्षणं त्वेवम्,—"अश्वत्थो यः शमीगर्भः

प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः । तस्य या प्राङ्मुखी शाखा वोदीची वोर्ध्वगापि वा । अरणि-स्तन्मयी प्रोक्ता, तन्मय्येवोत्तरारणिः” ॥ इत्यादि क० प्र० १ “देवयोनिः स विज्ञेयस्तत्र मथ्यो हुताशनः ।” गृ० सं० १ । ८०

उदिते, अनुदिते ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“रेखामात्रं तु दृश्येत रश्मिभिश्च समन्वितम् । उदयं तं विजानीयात् होमं कुर्याद् विचक्षणः ॥” गृ० सं० १ । ७५ “रात्रेः षोडशमे भागे ग्रहनक्षत्रभूषिते । अनुदयं विजानीयाद्धोमं तत्र प्रकल्पयेत् ॥” गृ० सं० १ । ७३ समयाध्युषितकाले ऽपि होमो मन्वादिभिरुपदिष्टः, परं न तत्कौथुमानाम्, गोभिलानुक्तेः । तत्का-लनक्षणं त्वेवम्,—“ततः प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले । रविबिम्बं न दृश्येत समयाध्युषितं स्मृतम् ॥” गृ० सं १ । ७४

यज्ञोपवीतम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० २ ।

‘त्रिवृदूर्ध्वं वृतं कार्यं तन्तुत्रय मधोवृतम् । त्रिवृतज्ञोपवीतं स्यात् तस्यैका ग्रन्थिरिष्यते ॥’ क० प्र० १ “यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतान्तवम् * * * * * । द्विगुणं त्रिगुणं वापि एकग्रन्थिकृतं विदुः ॥” गृ० सं० ११४८—५१ ॥

जुहुयात्, कृतस्य, अकृतस्य ॥ ६ ॥ प्र० १ खं ३ ।

“होमपात्र मनादेशे द्रवद्रव्ये स्त्रुवः स्मृतः । पाणिरेवेतरस्मिंस्तु स्रुचा चात्र न हूयते ॥” क० प्र० १ “यवव्रीह्यकृत ज्ञेयं तण्डुलादि कृताकृतम् । ओदनं तु कृत विद्यात् न तस्य करणं पुनः ॥” गृ० सं० १।९३ ॥

चरुस्थाल्या, स्रुवेण ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० २ ।

“तिर्यगूर्ध्वं समिन्मात्रा दृढा नातिबृहन्मुखी । मृन्मय्यौदुम्बरी वापि चरुस्थाली प्रशस्यते ॥” क० प्र० २ “खादिरो वाथ पार्णो वा द्विवितस्तिः स्रुवः स्मृतः । स्रुक् बाहुमात्रा विज्ञेया वृत्तस्तु प्रग्रहस्तयोः ॥ स्रुवाग्रे घ्राणवत् खातं द्व्यङ्गुष्ठपरिमण्डलम् । जुह्वाः शरावखत् खातं स्रुवश्चार्द्ध षडङ्गुलम् ॥”क०प्र०१

अपराजितायां ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० २ ।

प्रक्रमणे तयोद्वाहे होमेष्विष्टकृते तथा । यस्यां दिशि विधिं प्राहुस्तामा-हुरपराजिताम् ॥”गृ० सं० २।७८ ॥

उपांशु ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० ३ ।

“शनैरुच्चारयेन्मन्त्र मीषदोष्ठौ प्रचालयन् । किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्यादु पांशुः स जपः स्मृतः ॥” स०

अतिथिभिः ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ४ ।

एकरात्रं हि निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः । अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥" मनुः ३।१०२ ॥

फलीकरणानाम्, आचामस्य ॥ ३१ ॥ प्र० १ खं० ४ ।

"कडचुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणकक्कुशाः ॥" गृ० भा० "ओदनाग्रद्रवं प्राहुराचामं हि मनीषिणः ॥" गृ० भा० ॥

सन्ध्यां उपवसन् ॥ ३ ॥ प्र० १ खं ५ ।

"अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः । सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥" उपवासदिनकर्त्तव्यताकथ्यते स्वयमेवोक्ते "उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह । उपवासः स विज्ञेयो न शरीरविशोषणम् ॥" इति च स्मृत्यन्तरम् ।

पूर्णः ॥ १०, ११ ॥ प्र० १ खं० ५ ।

"राकामध्यगतश्चन्द्रः पूर्ण इत्यभिधीयते" ।

स्थण्डिलं,इध्मान् ,मेक्षणम्, औपवसथिकम् ॥१३-१६ प्र०१खं५ ।

"वेदिः परिष्कृता भूमिः समे स्थण्डिलचत्वरे ।" इत्यमरः । "प्रादेशद्वयमिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्त्तितम् । " क० प्र० २ ॥

"इध्मः सन्नहनादानं चरुश्रपण मेव च । तूष्णी मेतानि कुर्वीत समस्तञ्चेध्म माददेत् ॥" गृ० सं० १ । १०२ "इध्मजातीय मिध्मार्द्धप्रमाणं मेक्षणं भवेत्। वृत्तञ्चाङ्गुष्ठपृथ्वग्र मवदानक्रियाक्षमम् ॥ एषैव दर्वी यस्तत्र विशेषस्त महं ब्रुवे। दर्वी द्व्यङ्गुलपृथ्वग्रा तुरीयोनन्तु मेक्षणम्"–इति क० प्र० २

औपवसथिकं नाश्नाति–इत्यादि ॥ १-९ ॥ प्र० १ । खं० ६ ।

उपवासदिननियमितखाद्यमौपवसथिकमित्यर्थः । तच्चोक्तं,–"लवणं मधु मांसञ्च क्षारांशो येन भूयते । उपवासे न भुञ्जीत नोऽरात्रौ कथञ्चन ॥" क० प्र० ३ अतएवाह स्मृतिः,–"गृहस्थो ब्रह्मचारी च यस्त्वनश्नंस्तपश्चरेत् । प्राणाग्निहोत्र लोपेन अवकीर्णी भवेत्तु सः ॥"–इति, "अनड्वान् ब्रह्मचारी च आहिताग्निश्च ते त्रयः । अश्नन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नताम् ॥"–इति च ।

दर्भवटूम् ॥ २१ ॥ प्र० १ खं० ६ ।

"ऊर्द्ध्वकेशोभवेद् ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः । दक्षिणावर्त्तको ब्रह्मा वामावर्त्तस्तु विष्टरः ॥ कतिभिश्च कुशैर्ब्रह्मा ? कतिभि र्विष्टरः स्मृतः ? पञ्चा-

शुद्धिः कुशैर्न्नेत्रा तदर्द्धेन च विष्टरः ॥" गृ० १ । ८८, ८९ "द्विराकृत्याथ मध्ये वै अर्द्धं वृत्यान्त देशतः । यभिषः प्रदक्षिणावर्त्तः स [illegible] ॥"—इति पु० "यज्ञवास्तुनि मुष्टयाश्च स्तम्बे दर्भवटी तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेष्वपि ॥"—इति च क० प्र०

उलूखलमुसले, शूर्पम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० ७

"मुसलोलूखले वार्क्षे स्वायते सुदृढे तथा । इच्छाप्रमाणे भवतः शूर्पं वैणव मेव च ॥"—इति क० प्र० २

हविर्निर्वपति ॥ २ । ३ ॥ प्र० १ खं० ७

"चूडाकर्मणि सीमन्ते यत्र पाकः सदा गृहे । विवाहे चैव लाजानां नोक्तो निर्वपणे विधिः ॥" गृ० स० २ । ३९

अभिघार्योद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० ७

"पवित्रान्तर्हितं कृत्वा चरुं प्राणोऽभिघारयेत् । उद्वास्य चैवं विधिना एवं तन्त्रं न लुप्यते । चतुर्मुष्टिश्चरुः कार्यश्चतुर्णामुत्तरोऽपि वा ॥" गृ० स० २ । ६९

परिधीन् ॥१६॥ प्र० १ खं० ७

"बाहुमात्राः परिधय ऋजवः सत्वचोऽव्रणाः । त्रयो भवन्त्यशीर्णाग्रा एकेषान्तु चतुर्दिशम् । प्रागग्रावभितः पश्चादुदगग्र मथापरम् । न्यसेत् परिधिमन्यश्च उदगग्रः स पूर्वतः ॥" क० प्र० २

प्रणीता ॥ १७ । १८ ॥ प्र० १ खं० ७

"विहितप्रतिषिद्धासु प्रणीतां नोपकल्पयेत् ॥" गृ० स० १ । ९६

आज्यं, सर्पिस्तैलं दधि पयो यवागूं वा ॥ १९।२० प्र०१ खं०७

"अग्निना चैव मन्त्रेण पवित्रेण च चक्षुषा । चतुर्भिरेव यत् पूतं तदाज्यमितरद् घृतम् ॥१०६॥ घृतं वा यदि वा तैलं, पयो वा यदि यावकम् । आज्यस्थाने नियुक्तानां माज्यशब्दो विधीयते ॥ १०७ ॥ आज्यानां सर्पिरादीनां संस्कारे विधिचोदिते । अनधिश्रयणं दध्नः शेषाणां श्रयणं स्मृतम् ॥ १०८ ॥ यथा सीमन्तिका नारी पूर्वगर्भेण संस्कृता । एव माज्यस्य संस्कारः संस्कारे विधिनोदिते ॥" १०९ ॥ इति गृ० स० १ ।

पवित्रे ॥ २१-२३ ॥ प्र० १ खं० ७

"अनन्तर्गर्भिणं साग्रं कौशं द्विदल मेव च । प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित् ॥" क० प्र० १

सम्पूय, उत्पुनाति ॥ २४ ॥ प्र० १ खं० ७

"पवित्र मन्तरे कृत्वा स्थाल्या माज्यं समावपेत्। एतत् सम्पूयनं नाम पश्चादुत्पवनं स्मृतम् ॥" गृ० सं० १। १०६

आज्यम् ॥ २६ ॥ प्र० १ खं० ७

आज्यसहित माज्यपात्र माज्यस्थाली मिति यावत् । "आज्यस्थाली च कर्त्तव्या तैजसद्रव्यसम्भवा। महीमयी वा कर्त्तव्या सर्वास्वाज्याहुतीषु च ॥ आज्यस्थाल्याः प्रमाणं तु यथाकमं तु कारयेत्। सुदृढा मभ्रणां भद्रा माज्यस्थालीं प्रचक्षते ॥" क० प्र० २

उपघातम् ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ८

"पाणिना मेक्षणेनाथ स्रुवेणैव तु यद्धविः। हूयते चानुपस्तीर्य उपघातः स उच्यते।" इति गृ० स० १। १११

महाव्याहृतिभिः ॥ २ प्र० १ खं० ८

"भूराद्यास्तिस्र एवैता महाव्याहृतयोऽव्ययाः" । इति क० प्र० व्रीहयः शालयो मुद्गा गोधूमाः सर्षपास्तिलाः। यवाश्चौषधयः सप्त विपदो घ्नन्ति धारिताः ॥"—इति क० प्र० भा० ।



सुरोत्तमेन ॥ १ ॥ प्र० २ खं० १

'सुरा'--इति निघण्टौ उदकनामसु (१ अ० १२ खं०) पाठभेदेन पञ्चविंशतितमं पद मस्ति, तदेवात्र ग्राह्य मित्याधुनिकानाम् । परं तत्र तथा निगमादर्शनात् उदकार्थस्य सुराशब्दस्याभाव एवानेकेषा मतएवात्र;—

"स्वर्णाभिरनिन्द्याभिरद्भिरक्षतमिश्रितैः। स्नानं चतुर्भिः कलशैः स्त्रीभिः स्त्रीं यत्र प्लावनम् ॥१५॥ गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेयास्त्रिविधाः सुराः। पाणिकर्मणि गौडी स्यात् सत्या माध्वधमा सुराः ॥" १६ ॥ इति गृ० स० २।

प्राजनेन, ध्रुवणा मपां, लाजाम् ॥ १३—१६ ॥ प्र० २ खं० १

"प्रवसिक्तन्तु विधिना पाणिग्राहन्तु प्राजनी। रक्षणार्थं मनुगच्छेत् सप्ताहं त्र्यह मेव वा ॥" गृ० स० २। ३५ "महानदीषु या आपः कौप्यास्याश्च ह्रदेषु च। गन्धवर्णरसैर्युक्ता ध्रुवास्ता इति निश्चयः ॥ " गृ० स० २। २५ "अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भृष्टा धाना भवन्ति ते। भृष्टास्तु व्रीहयो लाजा घटाः साविहक उच्यते ॥" क० प्र० ३

प्रपदेन ॥ ६ ॥ प्र० २ खं० २

"पादाग्रं प्रपदम्"—इत्यमरः २ । ६ । ७१ ।

प्रदक्षिणमग्निं परिणयति ॥ ४–१० ॥ प्र० २ खं० २

"लाजानाज्यं स्रुवं कुम्भं प्राजनाश्मान मेव च । प्रदक्षिणानि कुर्वीत दम्पती तु विना ग्रही ॥" गृ० स० २ । २९ 'ग्रही'—इति उदकग्राहप्राजनग्राहश्च विनेत्यर्थः ।

अनुमन्त्रयते ॥ ११ ॥ प्र० २ खं० ३

"स्पृशन्ननामिकाग्रेण क्वचिदालोकयन्नपि । अनुमन्त्रणीयं सर्वत्र सर्वदैवानुमन्त्रयेत ॥" इति क० प्र० ।

अर्घ्यम् ॥ १४ ॥ प्र० २ खं० ३

"षडर्घ्यार्हा भवन्ति"—इत्यादि वक्ष्यत्याचार्यः स्वय मेव (४ । १० । २२)

हविष्यम् ॥ १७ ॥ १ प्र० २ खं० ३

"अयुक्त मम्ललवणैरपर्युषित मेव च । हविष्य मेतदन्नाद्य मसुरैरप्यसंयुतम् ॥" गृ० स० २ । ७६

नदीः ॥ २ ॥ प्र० २ खं ४

"मासद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः । तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः ॥ धनुः सहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते । न ता नदी शब्दवहा गर्तास्ते परिकीर्त्तिताः ॥" क० प्र० १

स्रुवसम्पातम्, ह्रासयित्वा ॥ २–६ ॥ प्र० २ खं० ५

"हुत्वाज्यं परिशेषेण यद् द्रव्य मुपकल्पितम् । स्रुवेणैव तु तत् स्पृष्टं सम्पातं चैव तं विदुः ॥" गृ० स० १ । ११४ "उद्वर्त्तनं नखच्छेदो रोमच्छेदन मेव च । स्रंसनं मेखलायाश्च ह्रासनानि विदुर्बुधाः ॥" गृ० स० २ । ३८

न्यग्रोधशुङ्गां, व्रतवती, ब्रह्मबन्धूः ॥६–१२॥ प्र० २ खं ६

" लताग्रपल्लवो बुध्नः शुङ्गेति परिकीर्त्यते ।
पतिव्रता व्रतवती ब्रह्मबन्धूस्तथाश्रुतः ॥" क० प्र० ३

शलाटुग्रन्थम् ॥४॥ प्र० २ खं० ७

"शलाटु नील मित्युक्तं ग्रन्थः स्तवक उच्यते ।"—इति क० प्र० ३

"आमे फले शलाटुः स्यात्"—इत्यमरः २ । ४ । १५

दर्भपिञ्जूलीभिः, ॥५॥ प्र० २ खं० ७

"एतत्प्रमाणा मेवैके कौशी मेवार्द्रमञ्जरीम्। शुष्कां वा शीर्णं कुसुमां पि-ञ्जूलीं परिचक्षते।"—क० प्र० १ 'एतत्प्रमाणां' प्रादेशप्रमाणा मिति यावत्।

वीरतरेण, शलल्या ॥६, ८॥ प्र० २ खं० ७

"त्रिभिःश्वेतैश्च शलली, प्रोक्तो वीरतरः शरः।" गृ० स० १। ८५

"श्वाविच्छलाका शलली तथा वीरतरः स्मृतः।" क० प्र० ३

कृसरः ॥९॥ प्र० २ खं० ७

"तिलतण्डुलसम्पक्वः कृसरः सोऽभिधीयते।" क० प्र० ३

कपुष्णिकां, कपुच्छलम् ॥१८, १९॥ प्र० २ खं० ९

"कपुष्णिकाभितः केशा मूर्द्ध्नि पश्चात् कपुच्छलम्।" इति क० प्र० ३

यथागोत्रकुलकल्पम् ॥ २५ ॥ प्र० २ खं० ९

"दक्षिणाकपर्द्दाः शिष्टा आत्रेयास्त्रिकपर्द्दिनः।
आङ्गिरसः पञ्चचूडा मुण्डा भृगोः शिखिनोऽन्ये ॥" गृ० सं० २। ४०

उपनयेत् ॥१॥ प्र० २ खं० १०

"गृह्योक्तकर्मणा येन समीपं नीयते गुरोः।
बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयनं विदुः॥"—इति स्मृ०

ऐणेयरौरवाजानि ॥९॥ मुञ्जकाशताम्बल्यः ॥१०॥ प्र०२ खं०१०

"अनृचो माणवको ज्ञेयः, एणः कृष्णमृगः स्मृतः।
रुरुर्गौरमृगः प्रोक्तः, ताम्बलः शण उच्यते ॥" क० प्र० ३

स्नानम् ॥२०॥ प्र० ३ खं० १

जलक्रीडादिपूर्वकं मज्जनमेव स्नानमिहेष्यते। "न गात्रोत्सादनं कुर्यादना पदि कथञ्चन। जलक्रिया मलङ्कारं व्रती दण्ड इवाप्लवेत् ॥" क० प्र० ३

वरः ॥ ४५ ॥ प्र० ३ खं० २

"गौर्विशिष्टतमा विप्रैर्वेदेष्वपि निगद्यते। न ततोऽन्यद् वरं यस्माद् तस्माद् गौर्वर उच्यते ॥" इति क० प्र० ३

अक्षतधानाः ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ३

"अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ताः भृष्टा धाना भवन्ति ते।" क० प्र० ३

पक्षिणीम् ॥ ११ ॥ प्र० ३ खं० ३

"द्वावह्नावेकरात्रिश्च पक्षिणीत्यभिधीयते।" इति शु०

निर्घाते ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ३

"यदान्तरिक्षे बलवान् मारुतो मरुताहतः। पतत्यधः स निर्घातो जायते वायुसम्भवः॥" इति ज्यो०

शिष्टाचारः ॥ २९ ॥ प्र० ३ खं० ३

"धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः। ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥" स्मृ०

अद्भुते ॥ ३० ॥ प्र० ३ खं० ३

"प्रकृतिविरुद्ध मद्भुत मापदः प्राक् प्रबोधाय देवाः सृजन्ति" इत्याथर्वणम्

अनग्निका ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ४

"नग्निकां तु वदेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् । ऋतुमती त्वनग्निका, तां प्रयच्छेत्वनग्निकाम् । १७ अप्राप्ता रजसो गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी । अव्यञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना च नग्निका । १८ व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् । पयोधरैस्तु गन्धर्वो, रजसाग्निः प्रकीर्त्तितः । १९ तस्माद्व्यञ्जनोपेता अरजा अपयोधरा । अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते ॥" २० इति गृ० सं० २।

मनुरपि—"देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः।"—९, ९५

विलयनम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ६

"दध्यद्वृमथितं सर्वं तद्धि विलयनं स्मृतम्।" इति गृ० भा० सप्तमखण्डे—

प्रक्रमे ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ७

"संसक्तपदविन्यासस्त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः। स्मार्त्ते कर्मणि सर्वत्र श्रौते त्वध्वर्युचोदितः॥" इति गृ० भा०

कपालम् ॥ ७ ॥ प्र० ३ खं० ७

"कपालं मृण्मयं पात्रं चक्राघटित मुच्यते। आसुरं चक्रघटितं दैवे पैत्रे च वर्जयेत्॥" इति गृ० सं० २। १८ भा०

न्यञ्चौ पाणी ॥ १७ ॥ प्र० ३ खं० ७

"दक्षिणं वामतो बाह्य मात्माभिमुख मेव च। करं करस्य कुर्वीत करणे न्यञ्चकर्मणः॥" क० प्र० २

स्थालीपाकवृतान्यत् ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ७

"स्थालीपाकावृतान्यत्तु यत्र संज्ञा निपात्यते। तत्राज्यभागौ हुत्वैव स्रुच मास्तीर्यावद्यति॥" गृ० सं० १। ११५

पृषातके पायसश्चरुः ॥ १ ॥ प्र० ३ खं० ८

"पयो यदाज्यसंयुक्तं तत् पृषातक मुच्यते। दध्येके। तदुपासाद्य कर्त्तव्यः पायसश्चरुः ॥ क० प्र० ३

गोनामभिः ॥ ३ ॥ प्र० ३ खं० ८।

"काम्या प्रिया च हव्या च इडा रन्ता सरस्वती। मही विश्रुता चाघ्न्या च गोनामानि विदुर्बुधाः ॥" इति गृ० स० २। ६०

नवयज्ञे ॥ ८ ॥ प्र० ३ खं० ८।

"शरद्वसन्तयोः केचिन्नवयज्ञं प्रचक्षते। धान्यपाकवशादन्ये श्यामाको वनिनः स्मृतः ॥ आश्वयुज्यां तथा कृष्ण्यां वास्तुकर्मणि याज्ञिकाः। यज्ञार्थतत्त्ववेत्तारो होम मेवं प्रचक्षते ॥" क० प्र० ३

फलवतीम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ९।

"सफला बदरीशाखा फलवत्यभिधीयते।" क० प्र० ३

जातशिलासु ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं ९।

"घना विकसिताशङ्काः स्मृता जातशिलास्तु ताः।" क० प्र० ३

स्वस्तरम् ॥ १२ ॥ प्र० ३ खं० ९।

"स्वस्तरे सर्वं मासाद्य यथा यदुपयुज्यते। दैवपूर्वं ततः श्राद्धं सत्वरः शुचिरारभेत् ॥" क० प्र० २ "पारिभाषिक एव स्यात् कालो गोवाजियज्ञयोः। अन्यस्यानुपदेशात्तु स्वस्तरारोहणस्य च गृ० स०

अपूपाम्, त्रैयम्बकप्रमाणान् ॥८, १०॥ प्र० ३ खं० १०।

"त्रैयम्बकं करतल मपूपा मण्डकाः स्मृताः।" क० प्र० ३

उल्मुकेन ॥ १८ ॥ प्र० ३ खं० १०।

"अङ्गारोऽलात मुल्मुकम्"—इत्यमरः २, ९, ३०।

स्रोतांसि ॥ २५ ॥ प्र० ३ खं १०।

"सप्त तावन्मूर्द्धन्यानि तथा स्तनचतुष्टयम्। नाभिः श्रोणिरपानञ्च गोः स्रोतांसि चतुर्दश ॥" क० प्र० ३



सर्वाङ्गेभ्यः ॥ १ ॥ प्र० ४ खं० १।

"हृज्जिह्वाक्रोडसक्थीनि यकृद्वृक्कौ गुदं स्तनाः। श्रोणिः स्कन्धसटा पार्श्वे पश्वङ्गानि प्रचक्षते ॥

एकादशानां मण्डलानां मवदानानि सङ्ख्यया । पार्श्वस्य [redacted] द्विस्वा-
दाङ्गुलचतुर्दश ॥" क० प्र० ३

वृषीम् ॥ १५ ॥ प्र० ४ खं० २ ।

"वृषीं कुर्यादुदङ्मुखीम्" ०गृ सं १ । ३८ काष्ठासनमित्यर्थः । "अङ्कुशश्चैवो-पवेशश्च द्वादशाङ्गुल इष्यते" गृ० स० १ । ८४ । वृष्यपरपर्याय उपवेशः इति नारायणोपाध्यायः ।

स्थगरम् ॥ १७–२० ॥ प्र० ४ खं० २ ।

"स्थगरं सुरभि ज्ञेयं चन्दनादि विलेपनम् । " क० प्र० २ ।

पूर्वस्यां कर्ष्वाम् ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

"पुरतो यात्मनः कर्षूः सा पूर्वा परिकीर्त्यते । मध्यमा दक्षिणेनास्यास्त-द्दक्षिणत उत्तमा ॥ क० प्र० २ ।

एवमेवेतरयोः ॥ ९ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

"पितुरुत्तरकर्ष्वन्ते मध्यमे मध्यमस्य तु । दक्षिणे तत्पितुश्चैव पिण्डान् पर्वणि निर्वपेत् ॥" क० प्र० २ ।

पिण्डम् ॥ १० ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

पिण्डप्रमाणं त्वाह "पिण्डान् दत्वा बिल्वप्रमाणकान् ।" क० प्र० १

वृद्धिपूर्त्तेषु ॥ ३४ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

"वृद्धिः पुरुषसंस्कारः"—इत्येव भट्टभाष्यम् । "वापीकूपतडागादि देवताय-तनानि च , अन्नप्रदान मारामाः पूर्त्त मित्यभिधीयते ॥" जातूकर्णः ।

गोलकानां ॥ २५ प्र० ४ खं० ४ ।

"पालाशा गोलकाश्चैव" क० प्र० ३ ।

परिसमूहेत् ॥ ५ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"कृत्वाग्न्यभिमुखौ पाणी स्वस्थानस्थौ सुसंयतौ । प्रदक्षिणं तथासीनः कु-र्यात् परिसमूहनम् ॥" क० प्र० २ ।

वैरूपाक्षः ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"विरूपाक्षोऽसि—इति मन्त्रः । म० ब्रा० २, ४, ५

प्रपदः ॥ ७ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"तपश्च तेजश्च"—इति मन्त्र । म० ब्रा० २, ४, ५

अविदासिनि ॥ २६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"मध्ये स्थण्डिल मन्ते च वारिणा परिसंवृतम् । अविदासिनं ह्रदं विद्यात्तादृशं कर्मणो विदुः ॥" इति गृ० स० २-१२

उपतिष्ठेत ॥ २८ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"सदसंसक्तपार्ष्णिर्वा एकपादर्द्धपादपि । कुर्यात् कृताञ्जलिर्वापि ऊर्द्ध्वबाहुरथापि वा ॥" भ० भा० ।

परिविष्यमाणे ॥ २९ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः । मालाभाः व्योम्नि दृश्यन्ते परिवेषस्तु स स्मृतः ॥-इति भरत-धृत-साहसाङ्क ।

आचितशतकामः ॥ ११ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

"सुवर्णबिस्तौ हेम्नोऽक्षे कुरुबिस्तस्तु तत्पले । तुला स्त्रियां पलशतं भारः स्याद् विंशतिस्तुलाः । आचितो दश भाराः स्युः शाकटो भार आचितः ॥" इति अमरकोशे २, ९, ८७ ॥

व्रीहिकांसौदनं, कणान् ॥ १२ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

"द्रोणः स्यात् कांसमानकः" व्रीहीणां कांसं व्रीहिकांसम्, तस्य ओदनं भक्तं व्रीहिकांसौदनम्, तम् । "कणुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणकक्कुशाः ।"गृ० भा० ॥

अनुषरम्, अमरुपरिहितम्, अकिलिनम् ॥८॥ प्र०४खं०७ ।

"उर्वरा सर्वसस्याढ्या स्यादूषः क्षारमृत्तिका । ऊषवानूषरो द्वावप्यन्यलिङ्गौ स्थलं स्थली ॥" अ० को० २,१,५, "किलिनं सजलं प्रोक्तं दूरखातदको मरुः ।"क० प्र० ३

दर्भसम्मितम् ॥९॥ प्र० ४ खं० ७ ।

दर्भैः सम्मित माच्छन्नम् । अतएव गृह्यान्तरे,-"यस्मिन् कुशवीरणप्रभूतम्"

शादासम्मितं, मण्डलद्वीपसम्मितम्, सर्वतः ॥१०॥प्र०४ खं०७ ।

"शादा चेष्टका स्मृता" (क० प्र० ३) । तया सम्मितं तुल्यं चतुरस्र मिति यावत् । मण्डलं वर्त्तुलम् । "द्वीप मुक्त माख्यातम्" (क० प्र० ३) । तत्सम्मितं तत्तुल्य मिति । "दिशाश्च विदिशाश्चैव यत्र नोक्ता विचारणा । सर्वतस्तत्र शब्दोऽयं विनियोगे निपात्यते ॥" गृ० स० १।९६ ॥

इन्द्राय, पितृभ्यः ॥ २६-३३ ॥ प्र०४ खं० ७ ।

"अमुष्मै नम इत्येवं बलिदानं विधीयते । बलिदानप्रदानार्थं नमस्कारः कृतो यतः ॥"-इति, "स्वधाकारेण निनयेत् पित्र्यं बलि मतः सदा ।" -इति च विशेषोपदेशात् "इन्द्राय नमः"-इत्यादि "पितृभ्यः स्वधा"-इति च बोध्यम् ।

एकाक्षर्याम् ॥ ८ ॥ प्र० ४ ख० ८ ।

"आकूतिं देवीं मनसा प्रपद्ये (म० ब्रा० २,६,९)"-इत्येतस्मिन् मन्त्रे "एक मक्षरम्" -इति दर्शनादय मेव मन्त्र एकाक्षरीति व्यपदिश्यतेऽत्र ।

खदिरशङ्कुशतम् ॥९॥ प्र० ४ ख० ८ ।

"मस्तकः शङ्कवः कार्यास्तीक्ष्णाग्रा वीतकण्टकाः । समिल्लक्षणसंयुक्ताः सूचीमुख्यास्तथायताः॥" क० प्र० २ "शंकुश्चैवोपवेषश्च द्वादशाङ्गुल इष्यते"। गृ० सं १। ८४

पूर्णहोमः ॥ २१ ॥प्र० ४ खं० ८ ।

पूर्णहोमं यशसे जुहोमि (म०ब्रा०२,६,११)"-इति पूर्णशब्दान्वितमन्त्रेण होमः ।

चीवरम् प्र० ४ खं० ९ ।

"लौहचूर्णन्तु चीवरम्" क० प्र० ३

कम्बूकान् ॥ ११ ॥ प्र० ४ खं० ९ ।

"फलीकरणकङ्कुशान्"-इति भट्टभाष्यम् । कणान्-इत्येव तन्निष्कर्षार्थइति मत्सुहृदः । तुषानित्येवास्मद्गुरुवचनम् । तदत्रार्थनिर्णये भूमिदेवाः प्रमाणम् ।

संवेशनवेलायाम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ खं० ९ ।

"स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि ।" अ० को० १, ७, ३६

विष्टरम् ॥ ४ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

"ब्रह्मविष्टरयोश्चापि सन्देहे समुपस्थिते। ऊर्द्ध्वकेशो भवेद् ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः॥८८॥ कतिभिस्तु भवेद् ब्रह्मा?कतिभिर्विष्टरः स्मृतः? पञ्चाशद्भिः कुशैर्ब्रह्मा तदर्द्धेन तु विष्टरः ॥" इति गृ० स० १ । ८९॥ "यज्ञवास्तुनि मुष्ट्याञ्च स्तम्बे दर्भवटौ तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेष्वपि ।" क० प्र० १

अपः=पाद्यम् ॥ ७ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

"पादार्थमुदकं पाद्यं केवलं जल मेव तत् । तत्तैजसेन पात्रेण शङ्खेनापि निवेदयेत् ॥ " गृह्यान्तरम् ।

अर्घ्यम् ॥ ११ ॥ प्र० खं० १० ।

"दध्यक्षतसुमनस आपश्चेति चतुष्टयम् । अर्घ्य एष प्रदातव्यो गृह्येये अर्घ्यार्हाः स्मृताः ॥ " गृ० २ । ६२ अष्टाङ्गमर्घ्यलक्षणञ्चैवम्,-"दध्यक्षतसुमनसो घृतं सिद्धार्थका यवाः । पानीयञ्चैव दर्भाश्च अष्टाङ्गो ह्यर्घ्य उच्यते ॥ " गृ०स० २।६३ "कांस्येनैवार्हणीयस्य निनयेदर्घ्यं मञ्जलौ । " क० प्र० ३

मधुपर्कम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ खं० १० ॥

"सर्पिषा मधुना दध्ना अर्चयेदर्हयन् सदा। ऋषिप्रोक्तेन विधिना मधुपर्केण याज्ञिकः ॥६४॥ कंसे त्रितय मासिच्य कंसेन परिसंवृतम्। परिश्रितेषु देयः स्या-

न्मधुपर्कं इति प्रथम् ॥” ॥५॥ इति गृ०स०२। “मात्तलं सुसमोयुक्त मुदकं दधिसंयुतम्। अघ्यं दधिमधुभ्याञ्च मधुपर्को विधीयते। कांस्यापिधानं कांस्यस्थं मधुपर्कं समर्पयेत्। क० प्र०३ “दधनि पयसि वाथवा कृताके मधुदद्यान्मधुपर्कमेतदाहुः। दधिमधुसलिलेषु सक्तवः पृथगेते विहितास्त्रयस्तु मन्थाः” इतिगृ०स०२।६८

शेषम् ॥ १६ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

पीतावशिष्टम्। नास्योच्छिष्टता; तथाहि—“मधुपर्के तथा सोमे अप्सु प्राणाहुतीषु च। अनुच्छिष्टो भवेद् विप्रो यथा वेदविदो विदुः॥६६॥ प्राणाहुतिषु सोमेषु मधुपर्के तथैव च। आस्यहोमेषु सर्वेषु नोच्छिष्टो भवति द्विजः॥६७॥—इति गृ०स०२।

आचार्यः, ऋत्विक् ॥ २३ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

“उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यञ्च त माचार्यं प्रचक्षते ॥” म० स० २। १४० “अग्न्याधयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान्। यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥” म० स० २। १४३

—०:०—०—०—०:०—

अग्निनामानि (गृ० सं० १ प्र०)

“लौकिकः पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्त्तितः। अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते ॥२॥ पुंसवने चान्द्रमसः शुङ्गाकर्म्मणि शोभनः। सीमन्ते मङ्गलो नाम प्रागल्भो जातकर्म्मणि ॥ ३ ॥ नाम्नि स्यात् पार्थिवो ह्यग्निः प्राशने च शुचिस्तथा। सभ्यनामाऽथ चूडे तु व्रतादेशे समुद्भवः ॥ ४ ॥ गोदाने सूर्य्यनामा तु केशान्ते ह्यग्निरुच्यते। वैश्वानरो विसर्गे तु विवाहे योजकः स्मृतः ॥ ५ ॥ चतुर्थ्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथापरे। आवसथ्ये भवो ज्ञेयो वैश्वदेवे तु पावकः ॥ ६ ॥ ब्रह्मा वै गार्हपत्ये स्यादीश्वरो दक्षिणे तथा। विष्णुराहवनीये तु अग्निहोत्रे त्रयोग्नयः ॥ ७ ॥ लक्षहोमे तु वह्निः स्यात् कोटिहोमे हुताशनः। प्रायश्चित्ते विधिश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः ॥ ८ ॥ देवानां हव्यवाहस्तु पितृणां कव्यवाहनः। पूर्णाहुत्यां मृडो नाम शान्तिके वरदस्तथा ॥ ९ ॥ पौष्टिके बलदश्चैव क्रोधोऽग्निश्चाभिचारके। वश्यार्थे कामदो नाम वनदाहे तु दूतकः ॥ १० ॥ कोष्ठे तु जठरो नाम क्रव्यादो मृतभक्षणे। समुद्रे वाडवो ज्ञेयः क्षये संवर्त्तको भवेत् ॥ ११ ॥ एतेऽग्नयः समाख्याताः आवयेद् ब्राह्मणः सदा। सप्तत्रिंशतिविख्याता ज्ञातव्याश्च द्विजेन तु ॥ १२ ”

इति टीकापरिशिष्टम् समाप्तम् ॥

इतिश्रीसामगाचार्यसत्यव्रतसामश्रमिभट्टाचार्यविरचितया ‘व्याख्यान’—नाम—टीकया तत्परिशिष्टेन च समन्वितं क्षत्रिय कुमारोदयनारायणसिंह कृत भाषानुवादेन च मण्डितं।

गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

गोभिलगृह्यसूत्रस्य शुद्धिपत्रम् ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१८	कुशाद्यपकर- रणानि	कुशाद्युपक- रणानि
३	२६	परिसमुह्यो	परिसमूह्यो
८	५	ऊर्द्धं	ऊर्ध्वं
१३	१	सू० १०—२२	सू० १०—२३
१४	१८	उपने	उठने
१५	१	सू० २३—३२	सू०२४—३२
१५	१३	तत्वम्	तत्त्वम्
२०	२५	निययवाकस्य	नियतवाक्यस्य
२२	१८	अनुनिधानम्	अनुविधानम्
२७	२०	अग्रान्द्य	अग्राह्य
२८	२९	रुद्रायरमः	रुद्रायनमः
३३	२५	सवतः	सर्वतः
३८	१५	मजुर्वा	यजुर्वा
४१	१	पविम्रान्त- हिता	पवित्रान्त- हितान्
४१	१	तगडुलान्	तण्डुलान्
४४	७	केने	केन
४७	१४	स्विष्ठकृते	स्विष्टकृते
४८	६	अभिठवारण	अभिघारण
५४	२६	नेमित्तिकेषु	नैमित्तिकेषु
५८	५	अगाद्य	अगाध
५८	१२	अगाधि	अगाध
६९	१०	तृह्णीयात्	गृह्णीयात्
६५	९	नहों	न हो
७१	१	ब्रह्मचय	ब्रह्मचर्य
७७	१५	तपि	पति
७७	३०	ऋकि	ऋक्
७८	३	गृह्	गृह्य
७९	५	विछरे	विचरे
८०	३१	कर्य्यात्	कुर्य्यात्
८८	२६	कारणे	करण
९५	२०	काठन	काटने
९८	१५	(दोपार	(दोपहर
९८	१८	एणेय	ऐणेय
१०५	११	द्रुद्र	ह्रद
११३	१८	अथाहि	अथापि
११५	८	'वर्षन्त'	'वर्षन्तं'
१२०	८	आचाय	आचार्य
१२७	२८	सहितृ	सवितृ
१२८	१२	ऽवाचीनाः	ऽर्वाचीनाः
१२८	३०	स्फटयति	स्फुटयति
१२९	६	विद्युत	विद्युत्
१३०	१८	पाठन	पाठ न
१३५	२६	सर्य	सूर्य
१४२	२३	सावघानो	सावधानो
१४५	१९	गोपु	गोषु
१४६	१७	तन्तीं	तन्त्रीं
१५१	२६	माम	मास
१५९	२८	अग्ने	अग्नेः
१६२	२१	अपुपाष्टक	अपूपाष्टक
१६४	२७	गौ की	गौ को
१६६	१	तदव	तदैव
१७२	२४	चरु	चरू
१७४	१६	यजमानम्य	यजमानस्य
१८५	१०	तत्रव	तत्रैव
१८६	२३	चहे	चूहे
१८९	१३	जपदिति	जपेदिति
१९२	२२	मन्तेष	मन्त्रेषु
१९८	१६	मनुषर	मनूषर
२०३	२५	एाध	एधि
२०६	१	एकक्षरी	एकाक्षरी
२०९	२०	मुक्ष	मुक्षें

आर्य्यभटीय सटीक सानुवाद। मूल्य १)

महामति पं० आर्य्यभट कुसुमपुर निवासी ने वेद के अनुकूल आर्याछन्दों में यह अपूर्व ज्योतिष का ग्रन्थ शाके ४२१ में, बनाया था। इसी पुस्तक में पृथिवी का भ्रमण साफ २ लिखा है। इस की भूमिका में समुद्रमथन, रासलीला, आदि पुराणोक्त उपाख्यानों का विचार किया गया है। यह ग्रन्थ आज तक हिन्दुस्तान में नहीं छपा था हम ने इस को जर्मन देश से मंगवाकर मूल तथा पं० परमेश्वर कृत टीका और भाषानुवाद सहित छपवाया है॥ मूल्य १) है।

सूर्यसिद्धान्त भाषाटीका और बृहद्भूमिका सहित मू० १॥)

यह ग्रन्थ—सिद्धान्त ज्योतिष के उपलब्ध ग्रन्थों में सब से प्राचीन सर्वमान्य है। भारतवर्ष में ज्योतिष के अनुसार पञ्चांग आदि बनने तथा गणित आदि सिद्धान्त ज्योतिष के विषय सम्बन्धी विवाद होने पर—इसी ग्रन्थ का प्रामाण्य माना जाता है। आज तक इस अमूल्य ज्योतिष के ऊपर ऐसा अपूर्व विचार नहीं किया गया था। इस की भूमिका के १५० पृष्ठों में प्रायः संस्कृत ज्योतिष, अंगरेजी आदि ज्योतिष, वेद, ब्राह्मणादि पुस्तकों से भारतवर्षीय ज्योतिषशास्त्र का गौरव सिद्ध किया गया है। केवल इस एक ही पुस्तक के पढ़ने से विना गुरु प्रायः ज्योतिष के विषयों का ज्ञाता हो सकता है॥

गौतमीय न्यायशास्त्र सभाष्य सानुवाद—मूल्य ३॥)

वेद, उपवेद और वेद के छः अङ्गों के रक्षार्थ—हमारे ऋषियों ने—छः उपाङ्ग स्वरूप—छः दर्शन शास्त्र रचे हैं। इन दर्शनों में (अपने २ तरीके पर) वेदोक्त सत्य सनातन धर्म को युक्ति तथा प्रमाणों से बड़े २ नास्तिकों के आक्षेपों का उत्तर देकर—हमारे वेदोक्त धर्म की रक्षा की गयी है। इन छः दर्शनों में से सब से अधिक हमारे गौतम ऋषि ने चार्वाक, बौध, आर्हत, जैन आदि मतों का अकाट्य उत्तर दिया है। इस दर्शन में एक बड़ी विलक्षणता यह है कि इस का ठीक २ समझ लेने पर, शास्त्रार्थ वा बहस की रीति खूब मालूम हो जाती है और चाहे कैसा भी प्रबल नास्तिक क्यों न हो इस शास्त्र के जानने वाले के सामने नहीं टहर सकता। इस न्याय विद्या को "तर्क," मन्तिक या Logic कहते हैं। गौतम मुनि कृत ५३० सूत्रों पर वात्स्यायन मुनिकृत संस्कृत भाष्य का—अत्युत्तम सरलभाषानुवाद, स्थान २ पर उपयुक्त टिप्पणी दी गयी है। और यह प्रति १३ शुद्ध प्रतियों से मिला कर अत्यन्त शुद्ध छापी गयी है। इस में एक और विशेषता है कि इस की भूमिका में आस्तिक और नास्तिक दर्शनों पर युक्ति और प्रमाणों द्वारा विचार लिखा गया है और—छः दर्शनों का परस्पर विरोधाभास—के भ्रम को दूर किया गया है।

पता—उदयनारायणसिंह—शास्त्रप्रकाश कार्य्यालय

मधुरापुर, विद्दूपुर, मुज़फ्फरपुर।

मानवगृह्यसूत्रम्

कृष्णयजुर्वेदस्य मैत्रायणीशाखाया

गृह्यकर्मप्रतिपादकम्

भाषावृत्तियुतम्

ब्राह्मणसर्वस्वमासिकपत्रसम्पादकेन

भीमसेनशर्मणा लोकोपकाराय

निर्मितया नागरीभाषया

समलङ्कृतम्

सत्यव्रतशर्मद्विवेदस्य प्रबन्धेन तदीयवेदप्रकाश

नाम्नियन्त्रे मुद्रापयित्वा प्राकाश्यंनीतम् ॥

अस्य मुद्रणाद्यधिकारो वृत्तिकृता सर्वथा स्वाधीन एव रक्षितः

संवत् १९६१ सन् १९०५

अथमानवगृह्यसूत्रप्रस्तावः ।

(यह मानवगृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेद की ८६ शाखाओं में से मैत्रायणी शाखा का सूत्र है) इस के भाषानुवाद में जिन २ मन्त्रों की प्रतीकें दी हैं वे मन्त्र मैत्रायणी शाखा में मिलेंगे । और जो पूरे २ लिखे हैं वे सब अन्य वेद शाखाओं के मन्त्र हैं । क्योंकि सभी गृह्य श्रौत कल्पसूत्रकारों की यह शैली ही है कि वे अपनी शाखा के मन्त्रों की प्रतीकें रखते तथा अन्य शाखाओं के जिन मन्त्रों को लेना चाहते हैं उन को सत्रों के साथ पूरे २ ज्यों के त्यों लिख देते हैं । वेद के छः अङ्गों में एक कल्प भी प्रधान वेदाङ्ग है । छः अङ्गों में वेद के तीन अङ्ग प्रधान हैं । व्याकरण निरुक्त और कल्प ये ही तीनों कठिन भी हैं । इन तीन में भी व्याकरण मुख्य है इसी लिये (मुखं व्याकरणं स्मृतम्) कहा है । इन्हीं तीन अङ्गों के पढ़ने जानने से वेदार्थ करने समझने की योग्यता हो सकती है। इस कल्प नामक अङ्ग को ऋषियों ने वेद के (हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते) हाथ कहा है । यह वेद का कल्प अङ्ग गृह्य और श्रौत दो भागों में विभक्त है । जैसे हाथों के बिना मनुष्य अपने सुखार्थ कुछ काम नहीं कर सकता वैसे ही कल्प के बिना खाली वेद को देखने जानने वाला अपने हितार्थ वेदोक्त कर्म कुछ नहीं कर सकता। और कर्म द्वारा ही मनुष्य का इष्ट सिद्ध हो सकता है इस लिये वेद के कल्पाङ्ग का पढ़ना देखना जानना हम को अपना इष्ट साधनार्थ अत्यावश्यक है । गृह्य श्रौत दोनों प्रकार के प्रत्येक शाखा के साथ भिन्न २ हज़ारों कल्प सूत्र पूर्व काल में थे जो कालवश अधिकांश लुप्त हो गये । इस वेद के कल्पाङ्ग के साथ ही जैमिनि आचार्य के बनाये पूर्वमीमांसा शास्त्र का बड़ा सम्बन्ध है । कल्पाङ्ग की रीति भांति को जो नहीं जानता वह पूर्व मीमांसा शास्त्र को भी नहीं समझ सकता । इन गृह्य श्रौत दोनों प्रकार के कल्प सूत्रों में गृह्य की अपेक्षा श्रौत कठिन है क्यों कि श्रौत को भाषा टीका होने पर भी समझना कठिन है । सम्प्रति कोई रोक टोक न होने से जो लोग कल्प वेदाङ्ग शास्त्र का कुछ भी मर्म नहीं जानते वे भी लोभ वश हो २ कर इन में किसी २ गृह्य सूत्रादि का भाषानुवाद कर २ यत्र तत्र प्रकाशित करने को तत्पर हो गये हैं इस से और भी अधिक २ अज्ञान तथा अनर्थ फैलने की सम्भावना है । ईश्वर ही रक्षा करेगा । इसी मैत्रायणी शाखा का मानव कल्प श्रौतसूत्र भी मिलता है जो कलकत्ता में पहिले ही छप चुका है । जिस का पता कहीं २

हमने इस गृह्यसूत्र के भाषाटीका में भी दिया है। ये दोनों मानव कल्प गृह्य श्रौतसूत्र एक ही आचार्य के बनाये हैं परन्तु यह मानव गृह्यसूत्र जहां तक हमे ज्ञात है अब तक भारतवर्ष में नहीं छपा था। यदि कहीं छपा भी हो तो भाषाटीका न होने से इस को सर्वसाधारण मनुष्य लेकर देख नहीं सकते थे। यह ग्रन्थ रूस का छपा (जगन्मोहन वर्मा–ग्राम देईपार। डाक छपिया जि० बस्ती से) हमें मिला है। इस लिये हमने इस को भाषाटीका करके छपादिया है।

हमारे पाठक लोग मानव धर्म शास्त्र [जो मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है जिस का द्वितीय नाम भृगुप्रोक्त संहिता भी है] को जानते ही हैं। वेदादि शास्त्रों की मर्यादा जानने वाले ब्राह्मणादि को यह भी विदित है कि पूर्व मीमांसाकार जैमिनि आचार्य ने जिस वेदोक्त सनातन धर्म का लक्षण (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः) सूत्र से किया है उस धर्म का ठीक २ पता संस्कृत के विद्वानों को इन्हीं कल्प सूत्रों के पढ़ने देखने विचारने से लगता है। अर्थात् श्रुतियों में कहे धर्म को ठीक २ करने की रीति भांति समझाने के लिये प्रथम श्रौत तथा गृह्य नाम कल्पसूत्र हमारे पूर्वज ऋषियों ने बनाये थे। श्रुति में कहे धर्म को खोलने वाले होने से ही उन का नाम श्रौत सूत्र रक्खा गया है। उस श्रुति में कहे धर्म में जो शंका उत्पन्न होती थीं वा होती हैं और होंगी उन का समाधान करने के लिये जैमिनि आचार्य ने पूर्वमीमांसा शास्त्र बनाया है। जैसे घट पटादि पदार्थों के बनने की शक्ति पहिले से ही पृथिवी के भीतर अनादि विद्यमान है वा यों कहो कि घट पटादि सभी पदार्थ अपने २ सूक्ष्म रूप से अपने २ उपादान कारण पृथिव्यादि में पहिले से ही विद्यमान हैं तभी तो पृथिव्यादि से वैसी २ दशा में प्रकट हो २ कर अपने २ कारण में लीन हो जाते हैं। इसी अभिप्राय को लेकर सांख्यशास्त्र का यह सिद्धान्त चला है कि (नासत आत्मलाभः। न सत आत्महानम्) असत् वस्तु के स्वरूप का लाभ और सत् वस्तु के स्वरूप की हानि कदापि नहीं होती। वैसे ही सब श्रौत सूत्रादि ग्रन्थोंका मूल वेद है पृथिवी से घट पटादि के तुल्य सब ग्रन्थ कोई साक्षात् कोई परम्परागत वेद से निकले हैं। इस से श्रौत गृह्य मीमांसा न्याय सांख्यादि सब का मूल वेद है। तथा श्रौत गृह्यनामक कल्पसूत्रों का भी समझना अब कालक्रम से मनुष्यों के अल्पज्ञ होते जाने

से ऋषियों को कठिन प्रतीत हुआ तब अठारह स्मृतियां मानवधर्म शास्त्रादि बनाये कि जिन से उसी प्रेरणारूप वेदोक्त धर्म के मर्म को ठीक २ समझाया जावे। चाहे यों कहो मानो कि सनातन वैदिक धर्म का अधिक २ मर्म खोलने के लिये ही स्मृतियां और उन पर इतिहासपुराणादि पुस्तक बनते गये हैं। मनुस्मृति आदि में (वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यकर्म यथाविधि) इत्यादि श्लोकों में कहे गृह्यकर्म ये ही हैं कि जो मानवगृह्यसूत्रादि में कहे गये हैं। और यथाविधि कहने से जैसा विधान उन कर्मों का गृह्यसूत्रों में कहा गया है उसी विधि से करे। इस कथन से मनु आदि महर्षियों ने गृह्य श्रौत सूत्रों का स्पष्ट संकेत किया है। इस से सिद्ध होता है कि इन गृह्यनामक कल्पसूत्रों का आशय ले २ कर मनु आदि धर्मशास्त्र बने हैं। अर्थात् किसी स्मृति के बनने में किसी वेदशाखा के किसी गृह्यसूत्र का आशय लिया गया है। तदनुसार अनेक बातों के साफ २ मिलने से जान पड़ता है कि(मनुस्मृति के बनने में विशेष कर इस मानवगृह्यसूत्र का आशय लिया है। इसके लिये कई उदाहरण हम नीचे दिखाते हैं)

मनुस्मृति में धर्म के व्याख्यान का आरम्भ द्वितीयाध्याय से चला है वहां प्रथम ब्रह्मचर्य धर्म कहा है यहां इस गृह्यसूत्र के आरम्भ में भी प्रथम ब्रह्मचारी के नियम चले हैं। ब्रह्मचारी सब बाल मुड़ावे वा केवल शिखा रक्खे वा सब बाल रखावे (मनु० अ० २ श्लोक २१९। मुण्डोवास्याज्जटिलोवास्या दथवा स्याच्छिखाजटः। मानवगृह्ये पु० १ खं० २ सू० ६ मुण्डः शिखाजटः सर्वजटो वा) प्रातः सायंकाल सूर्य के उदय अस्त पर सोता रहे तो प्रायश्चित्त (मनु० अ० २। श्लो० २२०। मानवगृह्ये पु० १। खं० ३। सू० १) श्रावण की पौर्णमासी पर उपाकर्म करे (मनु० अ० ४। ९५। मानवगृह्य पु० १ खं० ४ सू० १ से) गुरु की अनुमति आज्ञा लेकर समावर्त्तन करे (मनु० अ० ३। श्लो० ४। मानवगृह्य पु० १ खं० २ सू० १८) रजस्वला के साथ सोने आदि का निषेध (मनु० अ० ४ श्लो० ४०। मानवगृह्य पु० १। खं० २ सू० १९) ग्राम से बाहर निकल कर एकान्त जङ्गल में सन्ध्या करना (मनु० अ० २। श्लो० १०४। मानवगृह्य पु० १ खं० २ सू० २) ब्रह्मचारी को मधुमांस का तथा स्त्री के स्पर्शादि का निषेध (मनु० अ० २। श्लो० १७७। मानवगृह्य पु० १। खं० १ सू० ११। १२) इत्यादि सैकड़ों अंश जैसे २ इस मानवगृह्यसूत्र में लिखे हैं वैसे

ही ज्यों के त्यों मनुस्मृति में भी मिलते हैं। इस से यह सिद्ध है कि इसी मानवगृह्यसूत्र का विशेष सहारा ले कर मनुस्मृति नामक धर्मशास्त्र बना है। इस पर कोई यह शंका कर सकता है कि मनुस्मृति का सहारा लेकर मानवगृह्यसूत्र पीछे बना होऐसा भी तो दोनों के अंश मिलने से अभिप्राय निकल सकता है तब यही क्यों मान लिया जाय मनु आदि स्मृति पीछे से बनी हैं। तब इस का समाधान यह है कि मानवगृह्यसूत्रकार मन्त्र और ब्राह्मणात्मक वेद को छोड़ कर अन्य किसी ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं रखते। इससे यह निश्चय है कि जो वस्तु जिस के पश्चात् वा जिस के विद्यमान होते हुए बनता है वह अपने से पहिले की स्वांश में अवश्य ही अपेक्षा रखता है। परन्तु मनुस्मृति आदि में अनेक स्थलों पर (यथाविधि) पद आता है उससे स्पष्ट सिद्ध है कि वह गृह्यसूत्र में लिखे विधान को बीच २ बतलाता है। इस कारण पूर्वोक्त विचार सर्वथा ठीक ही जानना चाहिये सन्देह ठीक २ न समझने से होते हैं ॥

हमने इस मानवगृह्यसूत्र को जैसा पुस्तक मिला वैसा ही शोध कर छपाया है। अशुद्धि विशेष न दीख पड़ने से शुद्धि पत्र इस के साथ नहीं लगाया गया है। यदि कम उठने के कारण कहीं २ छपने का दोष रहजाने से किन्हीं महाशयों को कोई २ अशुद्धि ज्ञात पड़े तो स्वयं शोध लेवें। और इस ग्रन्थ का सूची पत्र साथ में लगा होने से इस ग्रन्थ में कहे सब विषयों का ठीक २ पता लगजायगा। इस ग्रन्थ के अन्त में जिन के यहां पुत्र नहीं होते वा हो कर नहीं रहते उन के पुत्र उत्पन्न होने के लिये बहुत अच्छा पुत्रेष्टि याग कहा है। परन्तु उस को कोई धर्मात्मा श्रद्धालु शुद्धाचारी विद्वान् करावे यदि स्त्री को वन्ध्यादोष न हो तो पुत्रोत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना है। इस ग्रन्थ में मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण भाषानुवाद में कहीं कोई बड़ा दोष किन्हीं महाशय को प्रतीत हो तो वे कृपादृष्टि से हमें अवश्य सूचित करें

ह० भीमसेनशर्मणः

सम्पादक आ० स० स्थ–इटावा–

अथ मानवगृह्यसूत्राणां विषय सूचीपत्रम् ॥

अथ मानवगृह्यसूत्रम्

उपनयनप्रभृति व्रतचारी स्यात् ॥ १ ॥ मार्गवासाः संहतकेशो भैक्षाचार्यवृत्तिः सशल्कदण्डः सप्तमुञ्जां मेखलां धारयेदाचार्यस्याप्रतिकूलः सर्वकारी ॥ २ ॥ यदेनमुपेयात्तदस्मै दद्याद् बहूनां येन संयुक्तः ॥३॥ नास्यशय्यामाविशेत् ४ न संवस्त्रयेत् ॥ ५ ॥ न रथमारोहेत् ॥ ६ ॥ नानृतं वदेत् ॥७॥ न मुषितां स्त्रियं प्रेक्षेत ॥८॥ न विहारार्थो जल्पेत् ॥९॥

भावार्थः—यज्ञोपवीतसंस्कार होने से लेकर आगे कहे नियमों का पालन करने वाला ब्रह्मचारी हो ॥१॥ मृगचर्म का वस्त्र दुपट्टे के स्थान में ओढ़ने वाला हो सब बाल रक्खे वा सब कटावे अथवा केवल चोटी रक्खे भिक्षा मांगकर वा आचार्य से भोजनरूप जीविका करे वक्कलसहित ढांक वा बेल का दण्ड धारण करे सात मूजों (कोथों) की मेखला कटिभाग में धारण करे। आचार्य—गुरु के समक्ष झूठ वा छल कपटादि कुछ न करे आज्ञाकारी रहे और गुरुसेवार्थ गुरु को स्नानादि कराना आदि सब काम करे ॥२॥ जो कुछ धनादि वस्तु ब्रह्मचारी को मिले वह सब गुरु को समर्पण करे यदि कई गुरु हों तो जिस के समीप विशेष रहना हो उस को धनादि देवे ॥ ३ ॥ गुरु की शय्या वा आसन पर पीछे भी न बैठे न लेटे ॥४॥ सूत आदि के अच्छे २ वस्त्र गुरु के तुल्य न धारण करे वा स्त्री आदि के वस्त्रों से अपने वस्त्रों वा शरीर का स्पर्श न होने देवे ॥ ५ ॥ रथ घोड़ा हाथी आदि पर न चढ़े ॥ ६ ॥ मिथ्या भाषण कठोर भाषण और किसी की निन्दा वा चुगली न करे व्यर्थ न बोले ॥ ७ ॥ किसी नङ्गी स्त्री को न देखे न स्पर्श करे स्त्री का स्मरण भी न करे ॥ ८ ॥ काम भोग सम्बन्धी स्त्रियों का कथन वा धन सुवर्णादि का कथन न करे न सुने अर्थात् कामैषणा तथा वित्तैषणा से सर्वथा अपने को बचाता रहे ॥ ९ ॥

नरुच्यर्थंकिंचनधारयीत ॥ १० ॥ सर्वाणिसांस्पर्शिकानि स्त्रीभ्योवर्जयेत् ॥ ११ ॥ नमधुमांसेप्राश्नीयात्क्षारलवणे च ॥ १२ ॥ न स्नायादुदकंवाऽभ्यवेयान् ॥ १३ ॥ यदिस्नायाद्दण्डइवाप्सुप्लवेत ॥ १४ ॥ प्रागस्तमयान्निष्क्रम्यसमिधाऽऽहरेत् । हरिण्यौब्रह्मवर्चसकामइतिश्रुतिः॥ १५ ॥ इमंस्तोममर्हतइत्यग्निंपरिसमुह्यपर्युक्ष्यपरिस्तीर्य–एधोऽस्येधिषीमहीतिसमिधमादधाति, समिदसिसमेधिषीमहीतिद्वितीयाम्१६ अपो अद्यान्वचारिषमित्युपतिष्ठते ॥ १७ ॥ यदग्ने तपसा तपो ब्रह्मचर्यमुपेमसि । प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ इति मुखं विमृष्टे ॥ १८ ॥

भावार्थः–चित्त को प्रसन्न करने के लिये वा अपनी शोभा बढ़ाने के लिये इतर चन्दन पुष्पमालादि कुछ धारण न करे ॥ १० ॥ स्त्री का वर्णन काव्य सुनना स्त्री के स्तनादि अङ्गों का देखना छूना खुजलाना उबटन करना आदि तथा गाना बजाना नाचनादि सब काम सर्वथा छोड़ देवे ॥ ११ ॥ शहद मांस खार और लवण न खावे परन्तु यवाखार और सैंधे लवण का निषेध नहीं है ॥ १२ ॥ नित्य कामना से स्नान न करे जलाशय में घुसकर स्नान न करे। किन्तु जलाशय के समीप आचमनादि के लिये जाया करे ॥ १३ ॥ यदि स्नान भी करे तो शरीर को मल २ कर न धोवे तथा उबटन न करे किन्तु लकड़ी के तुल्य जल पर उतराता रहै ॥ १४ ॥ सूर्यास्त होने से पहिले अपने आश्रम से बाहर निकल के दूर से स्वयं सूखी हुई समिधा लावे तो श्रुति में लिखा है कि ब्रह्मतेज बढ़ता है ॥ १५ ॥ (इमंस्तोममर्हत०) इस मन्त्र से अग्नि के समीप हाथ से वा कंचीसे संमार्जन कर अग्नि के सब ओर प्रदक्षिण जल सेचन करके सब ओर कुश बिछा के (एधोऽस्येधि०) मन्त्र से एक समिधा अग्नि में चढ़ावे और (समिदसि०) मन्त्र से दूसरी समिधा चढ़ावे ॥ १६ ॥ (अपोअद्यान्व०) मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करे ॥ १७ ॥ (यदग्नेतपसा०) मन्त्र पढ़ के दहिने हाथ में जल लेके मुख का स्पर्श करे ॥ १८ ॥

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाइति श्रोत्रे अभिमृशति ॥ १९ ॥ भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राइति चक्षुषी ॥२०॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवां-सस्तनूभिर्व्यशेमदेवहितमित्यङ्गानि ॥२१॥ इह धृतिरिहस्व-धृतिरिति हृदयदेशमारभ्य जपति ॥ २२ ॥ रुचं नो धेहीति पृथिवीमारभते ॥ २३ ॥ त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्या-युषमगस्त्यस्य त्र्यायुषम् । यद्देवानां त्र्यायुषं तन्मे अस्तु त्र्यायुषम् । इति भस्मनाङ्गानि संस्पृश्यापोहिष्ठीयाभिर्मा-र्जयते ॥ २४ ॥ इति प्रथमः खण्डः समाप्तः ॥

अथ सन्ध्यामुपास्ते ॥ १॥ प्रागस्तमयान्निष्क्रम्योत्तर-तो ग्रामस्य पुरस्ताद्वा शुचौ देशे निषद्योपस्पृश्यापामञ्ज-लिं पूरयित्वा प्रदक्षिणमावृत्य–आयाहि विरजे देव्यक्षरे

(भद्रंकर्णेभिः०) मन्त्र से दोनों कानों का स्पर्श करे प्रथम दहिने फिर बायें का ॥ १९ ॥ (भद्रंपश्येमा०) मन्त्र से दोनों आखों का एक साथ ॥ २० ॥ (स्थिरैरङ्गै०) मन्त्र से शिर आदि सब अङ्गों का स्पर्श करे ॥ २१ ॥ (इह-धृति०) मन्त्र का हृदय को स्पर्श करता हुआ जप करे ॥२२ ॥ (रुचंनोधेहि०) मन्त्र को पृथिवी का स्पर्श करता हुआ जपे ॥ २३ ॥ (त्र्यायुषंजमदग्नेः०) मन्त्र को पढ़ता हुआ शिर आदि सब अङ्गों में चढ़ाई हुई समिधों की भस्म लगावे फिर (आपोहिष्ठा०) आदि तीन मन्त्रों से तीन वार मार्जन करे ॥ २४ ॥ प्रातःकाल सन्ध्योपासन के पश्चात् समिदाधान करे । सन्ध्या करने को सायंकाल निकले तभी समिधा लाया करे सन्ध्या आश्रम से बाहर और समिदाधान आश्रम में किया करे ॥

भावार्थः—अथ सन्ध्योपासन कर्म का विचार लिखते हैं । सायंकाल बैठकर सन्ध्या करे ॥ १ ॥ सूर्यास्त होने से पहिले गुरु के आश्रम वा ग्राम से निकलकर उत्तर वा पूर्व दिशा में जाकर शुद्ध स्थान में बैठ कर हाथ पांव धो

ब्रह्मसंमिते । गायत्रि ! छन्दसां मातरिदं ब्रह्म जुषस्व मे ॥ इत्यावाहयति ॥२॥ ओजोऽसीति जपित्वा,कस्ते युनक्तीति योजयित्वा, ओंभूर्भुवः स्वस्तत्सवितुरित्यष्टौकृत्वः प्रयुङ्क्त इत्याम्नाताः कामाः । आदेवोयातीति त्रिष्टुभं राजन्यस्य। युञ्जतइति जगतीं वैश्यस्य ॥ ३ ॥ उदुत्यं जातवेदसमिति द्वे निगद्य कस्ते विमुञ्चतीति विमुच्योदकाञ्जलिमुत्सृजति ॥४॥ एवं प्रातस्तिष्ठन्॥५॥ एतेनधर्मेण द्वादशचतुर्विंशतिषट्त्रिंशतमष्टाचत्वारिंशतंवावर्षाणि यो ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यो वा ब्रह्मचर्यं चरति मुण्डः शिखाजटः सर्वजटो वा मलजुर-

के अञ्जुली में जलभर कर प्रदक्षिणावृत्ति करके (आया हि विरजे०) मन्त्र पढ़ के गायत्री का आवाहन करे ॥ २ ॥ फिर (ओजोऽसि०) मन्त्र पढ़ के गायत्री देवी की स्तुति करके (कस्तेयुनक्ति०) मन्त्र पढ़ के अपने साथ गायत्री देवी को युक्त कर (ओं भूर्भुवः०) मन्त्र को प्रणव सहित ब्राह्मण ब्रह्मचारी आठवार नित्य २ पढ़ा करे तो ब्रह्मचारी की सब कामना पूर्ण हो जाती हैं (आदेवोयाति०) इस त्रिष्टुप् छन्द वाले मन्त्र का उपदेश उपनयन समय क्षत्रिय ब्रह्मचारी को होना चाहिये तथा (युञ्जते०) इस जगती मन्त्र का उपदेश वैश्य ब्रह्मचारी को करना चाहिये और वे दोनों इन्हीं अपने २ मन्त्रों का आठ २ वार नित्य २ प्रणवव्याहृति सहित जप किया करें। यह व्यवस्था श्रुत्यनुकूल ही जानो॥३॥(उदुत्यंजातवेद०)इत्यादि दो मन्त्रोंको उच्चस्वरसे पढ़के (कस्ते विमुञ्चति०) मन्त्र द्वारा गायत्री का विमोचन करके पहिले भरी जलाञ्जलि को भूमि पर छोड़ देवे। अर्थात् अंजुली में जल भर के आठवार प्रणवादि सहित गायत्री का जप धीरे २ करने वाद यह कृत्य ब्राह्मण करे और अपने२ मन्त्रों से ऐसा ही क्षत्रियादि करें ॥ ४ ॥ इसी उक्त प्रकार से प्रातःकाल खड़े होके सन्ध्या करे ॥५॥ इस उक्त प्रकार ठीक२ नित्य२ नियम धर्मका पालन करता हुआ १२ । २४ । ३६ । वा ४८ वर्ष तक मुण्ड जटिल वा शिखा मात्र रखने वाला ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ब्रह्मचर्य व्रत धारण करता है और मलिन शरीर

बलःकृशः स्नात्वा स सर्वं विन्दते यत्किंचिन्मनसेच्छतीति॥६॥ एतेन धर्मेण साध्वधीते ॥ ७ ॥ छन्दस्यर्थान् बुद्ध्वा स्नास्यन् गां कारयेत् ॥८॥ आचार्यमर्हयेच्छ्रोत्रियः ॥९॥ अन्यो वेदपाठी न तस्य स्नानम् ॥१०॥ आपोहिष्ठेति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाःशुचय इति द्वाभ्यां स्नात्वाऽहते वाससी परिधत्ते॥११॥ वस्त्र्यसि वसुमन्तं मा कुरु सौवर्चसाय मा तेजसे ब्रह्मवर्चसाय परिदधामीति परिदधाति ॥१२॥ यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः । एवं मे प्राण मा बिभ एवं मे प्राण मा रिषः ॥ इत्याङ्क्ते ॥१३॥ हिरण्यमाबध्नीते ॥१४॥ छत्रं धारयते दण्डं मालां गन्धम् ॥१५॥ प्रतिष्ठे स्थो दैवते द्यावापृथिवी मा मा संताप्तमित्युपानहौ ॥१६॥ द्विवस्त्रोऽत

निर्बल पतला कृश हुआ समावर्त्तन स्नान करता है वह जो २ मन से चाहता है उस सब को प्राप्त कर लेता है ॥ ६ ॥ इस उक्त नियम से जो कुछ पढ़ता है वह पढ़ना ठीक सुफल होता है ॥ ७ ॥ व्याकरण मीमांसादि पढ़ने द्वारा वेदार्थ जान कर समावर्त्तन करता हुआ मधुपर्कादि से पूज्य बने ॥ ८ ॥ श्रोत्रिय हुआ वेद वेदाङ्ग पढ़के ब्रह्मचारी आचार्य का पूजन करे ॥ ९ ॥ ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं एक नैष्ठिक द्वितीय वेद समाप्ति पर समावर्त्तन करने वाला इन में नैष्ठिक वेदपाठी समावर्त्तन स्नान न करे ॥ १० ॥ (आपोहिष्ठा०) इत्यादि तीन मन्त्रों से तथा (हिरण्यवर्णा०) इत्यादि दो मन्त्रों से सुगन्धिमिश्रित जलद्वारा स्नान करके जो किसी थान में से फाड़े न हों ऐसे किनारेदार नये दो वस्त्रों को एक धोती एक ऊपर धारण करे ॥ ११ ॥ अर्थात् (वस्त्र्यसि०) मन्त्र पढ़ के वस्त्र धारण करे ॥ १२ ॥ फिर (यथा द्यौश्च०) मन्त्र से प्रथम दहिनी फिर बायीं आंख में अञ्जन लगावे॥१३॥ फिर विना ही मन्त्र पढ़े कानों में सुवर्ण के कुण्डल और सुवर्ण के कड़ा आदि आभूषण धारण करे ॥ १४ ॥ फिर छाता बांस की छड़ी पुष्पमाला चन्दन केशरादि सुगन्ध इन सब को धारण करे ॥ १५ ॥ फिर (प्रतिष्ठेस्थो०) मन्त्र से प्रथम दहिने पग में फिर वाम पग में नयेजूते पहिने ॥१६॥ इस से आगे सदा

ऊर्ध्वं भवति तस्माच्छोमनं वासो भर्त्तव्यमिति श्रुतिः ॥१७॥ आमन्त्र्य गुरून् गुरुवधूश्च स्वान् गृहान् व्रजेत ॥ १८ ॥ प्रतिषिद्धमपरया द्वारा निष्क्रमणं मलवद्वाससा सह संवस्त्रणं रजःसुवासिन्या सह शय्या गुरोर्दुरुक्तवचनमस्थाने शयनं स्मयनं सरणं स्थानं यानं गानं तस्य चेक्षणम् ॥ १९ ॥ पौर्णमास्याममावास्यायां वाऽऽग्नेयेन पशुना यजेत ॥ २० ॥ तस्य हविर्भक्षयित्वा यथासुखमतऊर्ध्वं मधुमांसे प्राश्नीयात् क्षारलवणे च ॥ २१ ॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

यमेवं विद्वांसमभ्युदियाद्वाभ्यस्तमियाद्वा प्रतिबुध्य जपेत्-

दो वस्त्र धारण करने वाला स्नातक हो क्योंकि श्रुति में लिखा है कि स्नातक गृहस्थ शुद्ध शोभित निर्मल वस्त्र धारण करे । अर्थात् समावर्त्तन से प्रथम से रखे हुए सब बाल शिखा छोड़के पहिले मुड़ावे पीछे पूर्वोक्त स्नानादि करे ॥१७॥ यदि पिता से भिन्न गुरु के पास वेदाध्ययनार्थ गया हो तो गुरु और गुरुपत्नी से आज्ञा लेकर अपने पितृघर को आवे ॥ १८ ॥ अब स्नातक गृहस्थ के लिये कुछ नियम कहते हैं । घर के मुख्य द्वार को छोड़ के किसी खिड़की आदि से न निकला करे । मलिन कपड़े वालों का स्पर्श न करे । रजस्वला पत्नी के साथ न सोवे । माता पितादि गुरु लोगों के विषय में समक्ष वा परोक्ष में कटुवाक्य न कहे न सुने । शयन स्थान से अन्यत्र न सोवे बिना प्रयोजन न हंसे व्यर्थ न डोले निष्प्रयोजन कहीं न ठहरे गाना बजाना नाचना न करे और न अन्यों के गानादि को सुनने देखने को जावे ॥ १९ ॥ समावर्त्तन संस्कार के पश्चात् जो पौर्णमासी वा अमावास्या पड़े उसी दिन अग्नि देवता वाला पशुयाग करे ॥ २० ॥ उस में यज्ञ शेष हविष् भक्षण करके आगे शहद् मांस खार और लवण चाहे तो खावे । मांस भक्षण का यहां विधान नहीं किन्तु इससे पूर्व कदापि न खावे यह दिखाना है । मांसभक्षण राग प्राप्त होने से उसका विधान हो नहीं सकता प्राप्ति में निषेध और अप्राप्ति में विधि होता है ॥२१॥ यह दूसरा खण्ड समाप्त होगया ॥

भावार्थ—जिसने उक्त प्रकार ब्रह्मचर्यव्रतके साथ गुरु मुख से वेदाध्ययन करके

पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनरायुः पुनर्भगः। पुनर्द्रविणमैतुमाम्। पुनर्ब्राह्मणमैतुमाम्। अथो यथेमे धिष्ण्यासो अग्नयो यथास्थानं कल्पयन्तामिहैव। इत्यभ्युदितः॥१॥ पुनर्म आत्मा पुनरायुरैतु पुनः प्राणः पुनराकूतिरैतु। वैश्वानरो वावृधानो वरेणान्तस्तिष्ठतो मे मनो अमृतस्य केतुः ॥ इत्यभ्यस्तमितः ॥२॥ उभावेववाऽभ्युदितो जपेदुभावेव वाऽभ्यस्तमितः ॥३॥ यद्यचरणीयान्वा चरेदनाक्रोश्यान्वा क्रोशेदभोज्यस्य वाऽन्नमश्नीयादक्षि वा स्पन्देत्कर्णौ वा क्रोशेदग्निं वा चित्यमारोहेत्-श्मशानं वा गच्छेद्यूपं वोपस्पृशेद्‌ रेतसो वा स्कन्देदेताभ्यामेव मन्त्राभ्यामाहुती जुहुयादपि वाज्यलिप्ते समिधावादध्यादपिवा मन्त्रावेव जपेत् ॥ ४ ॥ एवमधर्ममाचर्याऽस्थूलम् ॥ ५ ॥ स्थूले चैषणया विहरेदवस्त्रो लोमस्व-

---

समावर्त्तन किया हो वह स्नातक गृहस्थ प्रातःकाल सोता रहे वा अन्य काम में लगा रहे और सूर्योदय होजावे वा सायंकाल में सूर्य अस्त होजावे और सन्ध्योपासन न कर पावे तो जागकर वा सचेत होकर प्रातःसन्ध्या के व्यतिक्रम में (पुनर्मामैत्वि०) इत्यादि दो मन्त्रों का जप करे ॥ १॥ तथा सायंकाल की सन्ध्या छूटने पर (पुनर्मआत्मा०) इत्यादि जपे ॥ २ ॥ अथवा दोनों प्रकार के उक्त मन्त्रों का दोनों के प्रायश्चित्त में जप करे ॥ ३ ॥ यदि खिड़की से निकलनादि विरुद्ध आचरण करे यदि स्त्री पुत्रादि को धमकावे कोशे यदि सूदखोर व्याज लेने वाले आदि का अन्न खावे यदि आंख फड़के वा कान में शब्द हो यदि यज्ञके अग्नि पर खड़ाहो यदि मुर्दाके साथ श्मशान भूमिमें जावे वा यज्ञके यूपस्तम्भ का स्पर्श करे वा स्वप्न में वीर्य स्खलित हो तो इन्हीं पूर्वोक्त दो मन्त्रों से प्रायश्चित्तार्थ दो आहुती होम करे अथवा घी में डुबोके दो समिधा अग्निमें चढ़ावे वा(पुनर्मामैतु०)इत्यादि दोमन्त्रों का जपही इन अपराधोंमें भी प्रायश्चित्त करे ॥४॥ इसी प्रकार उपपातकादि छोटा वा थोड़ा अधर्म करके भी उक्त मन्त्रों से आहुति दे समिधा चढ़ावे वा जप करे ॥५॥ और यदि चार म-

गाच्छादोऽग्निमारोहेत्संग्रामे वा घातयेदपिवाऽग्निमिन्धानं तपसाऽऽत्मानमुपयोजयीत॥ ६ ॥ इति तृतीयः खण्डः ॥

वर्षासु श्रवणेन स्वाध्यायानुपाकुरुते ॥ १ ॥ स जुहोति। अप्वानामासि तस्यास्ते जोष्टीं गमेयम्। अहमिद्धि पितुःपरि मेधामृतस्य जग्रभ। अहं सूर्यइवाजनि स्वाहा ॥अप्वो नामासि तस्यते जोष्टं गमेयम्। अहमिद्धि पितुःपरि मेधामृतस्य जग्रभ। अहं सूर्यइवाजनि स्वाहा ॥ सरस्वती नामासि सरस्वान्नामासि युक्तिर्नामासि योगो नामासि मतिर्नामासि मनोनामासि तस्यास्ते जोष्ट्रीं गमेयम्। तस्य ते जोष्टं गमेयमिति सर्वत्राऽनुषजति ॥ २ ॥ युजे स्वाहा

हापातकों में से कोई पाप किया हो तो उस पाप के चिह्न सहित भूमण्डल पर तीर्थादि में भ्रमण करे। जैसे ब्रह्महत्या की हो तो विना शिर के रुण्ड पुरुष का चिह्न हो (गुरुतल्पे भगः कार्यः) गुरुपत्नी गमन में भग का चिह्न रहे। अथवा सूतवस्त्र से रहित रोमों सहित चर्म ओढ़ के सम्यक् प्रज्वलित अग्नि में गिरके जल जावे (प्रास्येदात्मानमग्नौवा समिद्धे त्रिरवाक् शिराः। इति मनुः।) अथवा युद्ध में किसी के शस्त्र से मर जावे (मनुः—लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्यात्०) अथवा अग्नि में समिदाधानादि नियम से करता हुआ प्राणायामादि तप करने में लग जावे ॥ ६ ॥ यह तीसरा खण्ड पूरा हुआ ॥

वर्षा ऋतु में श्रवण नक्षत्र के दिन स्वाध्यायोपाकरण नामक कर्म करे। १। वह वेदाध्ययन वा ब्रह्मयज्ञ का आरम्भ करने वाला (अप्वानामासि०) इत्यादि आठ आहुति होम आघार और आज्यभागाहुतियों के पश्चात् करे। तथा (सरस्वतीनामा०) इत्यादि छः खण्डों में जो २ स्त्रीलिङ्ग हैं उनके साथ (तस्यास्ते०) इत्यादि जोड़े। और (सरस्वान्नामा०) आदि पुंनपुंसक लिंगों में (तस्यतेजो०) इत्यादि जोड़ना तथा मन्त्र के अन्त में स्वाहा लगाना चाहिये ॥ २ ॥ तदनन्तर विद्यार्थियों वा अन्य स्वाध्यायी वेदपाठियों

प्रयुजे स्वाहोऽयुजे स्वाहेत्येतैरन्तेवासिनां योगमिच्छन्निति ॥३॥ प्राक्स्विष्टकृतोऽथजपति ॥ ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतुवक्तारम्। वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरायुर्मयि धेहि वेदस्य वाणीः स्थ। ओंभूर्भुवः स्वस्तत्सवितुरिति ॥ ४ ॥ दर्भपाणिस्त्रिः सावित्रीमधीते। त्रींश्चादितोऽनुवाकान्।को वो युनक्तीति च। उपाकुर्महेऽध्यायानुपतिष्ठन्तु छन्दांसीति च ॥ ५ ॥ तस्यानध्यायाः समूहन्वातो वलीकक्षारप्रभृति वर्षं न विद्योतमाने न स्तनयतीति श्रुतिराकालिकं देवतुमुलं विद्युदुन्वोल्काऽन्यक्षराः शब्दाः। आचारेणान्ये ॥ ६ ॥ अर्द्धपञ्चमासानधीत्योत्सृजति पञ्चार्द्धषष्ठा-

---

को चाहता हुआ स्नातक (युजेस्वाहा) इत्यादि तीन मन्त्रों से होम करे।३। इस के अनन्तर स्विष्टकृत् आहुति से पहिले (ऋतंवदिष्यामि०) इत्यादि मन्त्र का जप करे फिर स्विष्टकृत होम करे ॥ ४ ॥ फिर दहिने हाथ में कुश लेकर तीन बार गायत्री सावित्री मन्त्र पढ़े फिर (इषेत्वा०) इत्यादि तीन अनुवाक पढ़े। तदनन्तर (कोवोयु०) इत्यादि पढ़े ॥ ५ ॥ उपाकर्म के बाद तीन वा पांच दिन, आंधी आने पर वलीक नाम छज्जा से वर्षने पर अर्थात् इतनी वर्षा कम से कम हो जिस से छज्जा के कोर वा ओलाती टपकने लगे तब भी अनध्याय करे पर इस से कम वर्षने पर नहीं। तथा बिजुली चमकने और बादल गर्जने पर भी जब तक चमके वा गर्जे तब तक वेद न पढ़े। ज्योतिः शास्त्र में लिखे अनुसार ग्रहों का जब युद्ध हो तब एक दिन रात वेद न पढ़े। बिजुली इन्द्र धनुष् और बड़े२ उल्का तारे टूटने पर तथा शृगालादि के कुसमय रोने पर भी और सामवेद की ध्वनि होने पर अन्यवेद न पढ़े। इनसे भिन्न अनध्याय मनु आदि धर्म शास्त्र में कहे अनुसार जानो॥६॥ साढे चार वा सा-

न्वा॥७॥अथ जपति ऋतमवादिषं सत्यमवादिषंतन्मावीत्तद्व-क्तारमावीदावीन्मामावीद्वक्तारम्। वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता-मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरायुर्मयि धेहि। वेदस्य वाणोः स्थ। ओंभूर्भुवः स्वस्तत्सवितुरिति॥८॥ दर्भपाणिस्त्रिः सावित्री-मधीते।त्रींश्चादितोऽनुवाकान्। को वो विमुञ्चतीति विमुच्यो त्सृजामहेऽध्यायान्प्रतिश्रवसन्तु छन्दांसीति च॥९॥ प्रतिपदं पक्षिणीं रात्रीं नाधीयीत। नातऊर्ध्वमभ्रेषु॥१०॥ आकालिको विद्युत्स्तनयित्नुवर्षेषु॥११॥ गोनामेषु मन्त्रब्राह्मणकल्पपि तृमेधमहाव्रताष्टापदीवैषुवतानि दिवाऽधीयीत वैषुवत मार्द्रपाणिः॥ १२॥ रुद्रान्न नक्तं न भुक्त्वा न ग्रामे॥१३॥ शुक्रियस्य प्रवर्ग्यकल्पे नियमो व्याख्यातः। त्रयोविंशन्तु सं

हैं पांच महिने तक नियम से वेदाध्ययन करके वेदाध्यायोत्सर्ग कर्म करे॥ ७॥ फिर उस में (ऋतमवादिषं०) इत्यादि का जप करे॥ ८॥ फिर दहिने हाथ में कुश लेकर तीन वार गायत्री सावित्री को जपे और (इषे त्वा०) इत्यादि तीन अनुवाक पढ़े फिर (कोवोविमुञ्चति०) इत्यादि पढ़े॥ ९॥

प्रतिपदा को एक दिन दो रात वेद न पढे। इस के पश्चात् भी बादल होने पर भी न पढ़े॥ १०॥ विजुली चमकने बादल गर्जने और वर्षा होने पर आगे भी एक दिन रात वेद का अनध्याय करे॥ ११॥ गौओं के नाम वाले मन्त्र ब्राह्मण और कल्पसूत्रों को दिन में पढ़े। पितृमेध कर्म सम्बन्धी मन्त्र ब्राह्मण और कल्प सूत्र तथा महाव्रत सम्बन्धी कल्प सूत्र अष्टापदी ब्राह्मण और विषुवान् नामक यज्ञ के प्रतिपादक वैषुवत मन्त्र ब्राह्मणों को दिन में पढ़े पर जल में हाथ भिगोकर वैषुवत को पढ़े॥ १२॥ रुद्र देवता के प्रति-पादक मन्त्र ब्राह्मण और कल्पों को रात में भोजन के पश्चात् और ग्राम में न पढ़े॥ १३॥ शुक्रिय नामक पच्चीश अनुवाकों को भी रात में भोजन के प-श्चात् और ग्राम के भीतर न पढ़े। और इन शुक्रिय मन्त्र ब्राह्मण कल्पों के

मील्य ॥ १४ ॥ गवां तु न सकाशे गोनामानि गर्भिणीनामसकाशेऽष्टापदीं । रेतोमूत्रमिति च ॥ १५ ॥ शुनासीर्यस्य च सौर्यं चक्षुष्कामस्य । चक्षुर्नोधेहिचक्षुषइति । सूर्योऽपोऽवगाहतइति च । आदित्यसौर्ययाम्यानि षडृक्चानि दिवाऽधीयीत ॥ १६ ॥ उपाकृत्योत्सृज्य च त्र्यहं पञ्चरात्रमेके ॥ १७ ॥ वेदारम्भणे समाप्तौ चाकालम् ॥१८॥ ४खण्डःसमाप्तः

अथातोऽन्तरकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ दर्भमयं वा-

अध्ययन के दिशा कालादि विशेष नियम मानव कल्प सूत्र के प्रवर्ग्य प्रकरण में कहे जानो । इन शुक्रिय के २५ अनुवाकों में तेईशवें अनुवाक को आंखें मीच कर पढ़ना चाहिये ॥ १४ ॥ गौओं के नामों वाले मन्त्र ब्राह्मण कल्पोंको गौओं के समीप न पढ़े । परन्तु अष्टापदी संज्ञक ब्राह्मण को गर्भिणी गौओंसे पृथक् पढ़े । तथा (रेतो मूत्रम्०) इत्यादि अपवित्र नामों वाले मन्त्र ब्राह्मण और कल्पों को उन २ अपवित्र पदार्थों के समीप न पढ़े ॥ १५ ॥ शुना सीरीय पर्व की सूर्य देवता वाली (चक्षुर्नो० । सूर्योऽपो०) इन दो ऋचाओं को चक्षुओं का सुख चाहने वाला तथा शुनासीरीय पर्वकी आदित्य सूर्य और यम देवता वाली दो २ कर (छः) ऋचाओं को चक्षु सुख न चाहता हुआ भी दिन में पढ़े ॥ १६ ॥ वेदोपाकर्म और वेदोत्सर्ग कर्म करने पश्चात् तीन दिन अनध्याय रक्खे किन्हीं आचार्यों का मत है कि पांच दिन अनध्याय करे ॥१७॥ वेद का आरम्भ करने और वेदकी समाप्ति करने पश्चात् जिस समय आरम्भ समाप्ति किये हों उसी समय तक अनध्याय रक्खे उस के बीच में फिर द्वितीय वार आरम्भ समाप्ति न करे ॥१८॥ यह चौथा खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब यहां से आगे इस पांचवें खण्ड में अन्तरकल्प नामक कर्म का व्याख्यान करेंगे । यह कर्म उपाकर्म के बाद होता है उससे पहिले नहीं होता। इस कर्म की प्रवृत्ति स्वाध्याय नामक ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत है इस लिये इसका नाम अन्तरकल्प है ॥ १ ॥ दाभ कूट कर बनाये वस्त्र को पहन कर आचमन करके नदी आदि जलाशय के घाट पर (अपांनत्रे०) इस मैत्रायणी शा-

सः परिधायाचम्यापांनप्त्रइति तीरे जपित्वाऽपोऽवगाह्य ओंभुर्भुवःस्वस्तत्सवितुरिति ॥२॥ दर्भपाणिस्त्रिः सावित्रीमधीते त्रींश्चादितोऽनुवाकान् ॥ ३ ॥ आपो देवीः। हविष्मतीरिमाः।निग्राभ्याःस्थ । महित्रीणामवोऽस्तु। अग्नेरायुरसि। देवीरापोऽअपांनपात् ।देवीरापोमधुमतीः।अग्नयेस्वाहा।रात्रींरात्रीमित्यष्टौ ॥ ४ ॥ या ओषधयः । समन्यायन्ति । पुनन्तु मा पितरः। अग्नेर्मन्वे। सशेवृधमधिधाः । कयानश्चित्रआभुवदिति तिस्रः ॥५॥ तच्छंयोरावृणीमहइति मार्जयित्वा वासांस्युत्सृज्याचार्य्यान् पितृधर्मेण तर्पयन्ति ॥ ६ ॥ श्राद्धकल्पेन शेषो व्याख्यातः ॥ ७ ॥ इति ५ खण्डः ॥

अथातोऽग्निं प्रवर्त्तयन्ति ॥ १ ॥ उत्तरतो ग्रामस्य पु-

खा अ० २७ अनु० ८ का जप करके जल में डुबकी लगावे फिर (ओंभूर्भुवःस्वस्तत्स०) इत्यादि गायत्री को दहिने हाथ में कुश लेकर तीन वार पढ़े ॥ २॥ और वेद के आदि से (इषेत्वा०) इत्यादि तीन अनुवाक पढ़े ॥ ३ ॥ फिर (आपो देवीः) इत्यादि प्रतीकों वाले आठ अनुवाक पढ़े ॥ ४ ॥ फिर (या-ओषधयः०) इत्यादि चार अनुवाकों को और (सशेवृधम्०) इत्यादि तीन ऋचाओं को पढ़े ॥ ५ ॥ फिर (तच्छंयोरा०) इत्यादि पांच ऋचाओं से मार्जन करके कुश के वस्त्र छोड़ कर कल्पसूत्रकार तथा अपने उपनयनादि कराने वालों में जो २ आचार्य मरगये हों उन सब का अपसव्यादि पितृधर्म से सब छात्र लोग तर्पण करें ॥६॥ आचार्यों के तर्पण के पश्चात् होने वाला शेषकाम इसी ग्रन्थ में कहे श्राद्ध कल्प अर्थात् पुरुष २ खं० ९ सू०१० से १४ तक कहे अनुसार जानो ॥ ७ ॥ यह पांचवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब इस छठे खण्ड में अन्तरकल्प का अङ्ग भूत स्नातकों तथा ब्रह्मचारियों के लिये अग्नि होम कहते हैं ॥ १ ॥ ग्राम से पूर्व वा उत्तर शुद्ध स्थान में श्रौत वेदी के आकार में कुछ जगह बनावे । उस वेदी के आहवनीय स्थान पूर्वान्त में चौकोण स्थण्डिल बनाके उस पर विष्टर रूप वा मुट्ठी २ भर दाभ

रस्ताद्वा शुचौ देशे वेद्याकृतिं कृत्वाऽऽहवनीयस्थाने सप्तछन्दांसि प्रतिष्ठाप्य विष्टरान् दर्भमुष्टीन्वा दक्षिणाग्निस्थाने प्रौगाकृतिं कौसितं खात्वा पश्चादुत्करमपां पूरयित्वा। गार्हपत्यस्थानेऽग्निं प्रणीय युञ्जानः प्रथमं मन इत्यष्टौ हुत्वाऽऽकूतमग्निं प्रयुजं स्वाहेतिषड्जुहोति। विश्वोदेवस्य नेतुरिति सप्तमीम्॥२॥ यज्ञियानां समिधां त्रींस्त्रीन् समित्पूलानुपकल्प्य प्राक् स्विष्टकृतस्तिष्ठन्तो व्याहृतिपूर्वकं खण्डिलस्यादितस्त्रिभिरनुवाकैरेकैकेन स्वाहाकारान्ताभिरादधति ॥३॥ आपोहिष्ठीयाभि कौसितान्मार्जयित्वा धानाभिर्ब्राह्मणान् स्वस्तिवाचयन्ति धानाभिर्ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयन्ति ॥४॥

इति षष्ठः खण्डः समाप्तः ।

के गायत्री आदि सात छन्दों को पूर्व २ की ओर स्थापित करे। और दक्षिणाग्नि की जगह में पूर्वाभिमुख गाड़ी के आकार वाला कौसित नाम छोटा गढ़ा खोदे पश्चात् उत्कर कुण्ड श्रौतों के अनुसार बनाके इन तीनों में जल भर देवे। फिर उस वेदि से पश्चिम में गार्हपत्य के सदृश मण्डलाकार स्थण्डिल बना के उस पर अग्निको स्थापित करके आघार आज्यभागाहुतियों के अनन्तर (युञ्जानःप्रथमंमनः०) इत्यादि आठ (आकूतमग्निं०) इत्यादि छः और (विश्वोदेवस्यनेतुः०) इस को मिला के सब १५ पन्द्रह आहुति घी की देवे ॥२॥ पलाश बेल आदि यज्ञियवृक्षों की समिधाओं के तीन तीन पूला (मूठा२ भर पृथक् २ प्रति पुरुष के) बांध कर स्विष्टकृत् आहुति से पहिले सब खड़े हुए वेद में कहे अग्निस्थापन प्रकरण के आदि के तीन अनुवाकों के साथ व्याहृति लगा के उन तीनों अनुवाकों से एक२ समित्पूला अग्नि में चढ़ावे ॥३॥ (आपोहिष्ठा०) इत्यादि तीन ऋचाओं से आहवनीयादि स्थानों में दर्भ मुष्टि रूप छन्द आदि जिन२ में जल भरा था उन सब का मार्जन करके तीन आदि ब्राह्मणों को एक २ करके भुंजे हुए जौ दे दे कर स्वस्तिवाचन करावे॥ यह छठा खण्ड पूरा हुआ॥

अथोपनिषदर्हाः । ब्रह्मचारी सुचरिती मेधावी कर्मकृद्धनदः प्रियो विद्यां विद्ययान्वेष्यन् ॥१॥ तानि तीर्थानि ब्रह्मणः ॥२॥ भार्यां विन्दते ॥३॥ कृत्तिकास्वातिपूर्वैरिति वरयेत् ॥४॥ रोहिणीमृगशिरःश्रवणश्रविष्ठोत्तराणीत्युपयमे तथोद्वाहे यद्वा पुण्योक्तम् ॥५॥ पञ्चविवाहकारकाणि भवन्ति वित्तं रूपं विद्या प्रज्ञा बान्धवइति ॥६॥ एकालाभे वित्तं विसृजेद्द्वितीयालाभे रूपं तृतीयालाभे विद्यां प्रज्ञायां बान्धवइति च विवहन्ते ॥ ७ ॥ बन्धुमतीं कन्यामस्पृष्टमैथुना

अब सातवें खण्ड में विवाह विषय का आरम्भ है। इस में प्रथम वेदान्तोपनिषद् पढ़ाने योग्य अधिकारी निम्न लिखित सात होते हैं। ब्रह्मचारी १। सदाचारी २। बुद्धिमान् ३ सन्ध्यातर्पणादि कर्म श्रद्धा से करने वाला ४ धनदेने वाला ५ आचार्य को प्रिय ६ और किसी विद्या के बदले विद्याचाहनेवाला ७॥१॥ ये ब्रह्मचारी आदि वेद नामक शब्द ब्रह्म के तीर्थ हैं अर्थात् ऐसों को वेद पढ़ाने चाहिये ॥२॥ आगे लिखे प्रकार से भार्या स्त्री को प्राप्त हो ॥३॥ कृत्तिका स्वाति और पूर्वफल्गुनी आदि तीनों पूर्वा नक्षत्रों में विवाह करे ॥४॥ रोहिणी मृगशिर श्रवण धनिष्ठा और तीनों उत्तरा ये नक्षत्र उपयमनाम वाग्दान और विवाह के लिये अच्छे हैं। अथवा पाराशरी आदि ज्योतिष के अच्छे ग्रन्थों में कहे नक्षत्रों में विवाह करे ॥५॥ कन्या का पिता वर की पांच दशा देखे १-धन। २-रूप। ३-विद्या।४ बुद्धि।५-कुटुम्ब। रूप कहने से काणे अन्धे आदि का निषेध और बान्धव के साथ कुलीनता भी आजाती है ॥६॥ यदि पांचो गुण वर में न मिलते हों तो धन को छोड़ दे क्यों कि धन अनित्य है विद्या बुद्धि वाले के पास धन हो जाना सुगम है। दो गुण न मिलते हों तो रूप को भी छोड़दे क्यों कि विद्या कुरूपों का भी रूप है। तीसरा न मिले तो विद्या को भी छोड़दे क्यों कि बुद्धिमान् होगा तो पीछे भी पढ़ सकता है तथा नभीपढ़ सकेतोभी बुद्धिमान् निर्बुद्धिपण्डित से अच्छाहै तथा बुद्धि और कुटुम्ब इन दोनों में कुटुम्ब न होने पर भी बुद्धिमान् वर का विवाह करदेवे ॥ ७ ॥ जिस के साथ किसी पुरुष का संयोग न हुआ हो भाई जिस के को-

मुपयच्छेत समानवर्णामसमानप्रवरां यवीयसीं नग्निकां श्रेष्ठाम् ॥८॥ विज्ञानमस्याः कुर्यादष्टौ लोष्टानाहरेत् सीतालोष्टं वेदिलोष्टं दूर्वालोष्टं गोमयलोष्टं फलवतो वृक्षस्याधस्ताल्लोष्टं श्मशानलोष्टमध्वलोष्टमिरिणलोष्टमिति ॥९॥ देवागारे स्थापयित्वाऽथ कन्यां ग्राहयेत्। यदि श्मशानलोष्टं गृह्णीयादध्वलोष्टमिरिणलोष्टं वा नोपयमेत् ॥१०॥ संजुष्टां धर्मेणोपयच्छेत ब्राह्मेण शौल्केनवा ॥११॥ शतमिति रथं दद्याद्गोमिथुनं वा ॥ १२ ॥

इति सप्तमः खण्डः समाप्तः ॥

हे विद्वान हो जो अपने वर्ण की हो जिस के प्रवर ऋषि अपने से भिन्न हों जो ठीक युवति अच्छी हो जिस की छाती के स्तन न उगे हों न ऋतुमती हुई हो जिस का रूप लावण्य वर्ण अच्छा गोरा हो ऐसी कन्या से विवाह करे। पुरुष की युवावस्था का आरम्भ सोलहवें वर्ष से और स्त्री की युवावस्था का आरम्भ ग्यारहवें वर्ष से हो जाता है ॥ ८॥ विधवा वा वन्ध्यादि गुप्त वा अदृष्ट दोषों की परीक्षा के लिये जुताखेत, होम की वेदि, दूब, गोबर, फल जिस में लगते हों ऐसे वृक्ष के नीचे का, मरघट, मार्ग और ऊषर भूमि इन सब में से एक २ मट्टी का ढेला लेकर किसी देवता के मन्दिर में आठों ढेला रक्खे और उन में से एक ढेला कन्या से उठवावे यदि मरघट, मार्ग और ऊषर के ढेलों में से उठालेवे तो उस के साथ विवाह न करे ॥ ९। १० ॥ ब्राह्म वा आर्ष विवाह की रीति से उस के साथ विवाह करे। एक बैल एक गौ वा दो बैल दो गौ वा उन का मूल्य कन्या के पिता को देकर विवाह करना आर्ष कहाता है ॥ ११॥ शतनाम सुवर्णभूषित रथ वा दो गौ दो बैल अथवा सुवर्णादि के आभूषण भोजन के वस्तु अन्नादि वा वस्त्र देकर विवाह करे ये सब पक्षान्तर में विकल्प हैं ॥ १२ ॥ यह सातवां खण्ड पूरा हुआ ॥

पश्चादग्नेश्चत्वार्यासनान्युपकल्पयीत ॥ १ ॥ तेषूपविशन्ति पुरस्तात्प्रत्यङ्मुखो दाता पश्चात्प्राङ्मुखः प्रतिग्रहीता दातुरुत्तरतः प्रत्यङ्मुखी कन्या दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः ॥ २ ॥ तेषां मध्ये प्राक्तूलान्दर्भानास्तीर्य कांस्यमक्षतोदकेन पूरयित्वाऽविधवास्मै प्रयच्छति ॥३॥ तत्र हिरण्यम् ॥४॥ अष्टौ मङ्गलान्यावेदयति ॥ ५ ॥ मङ्गलान्युक्त्वा ददामि प्रतिगृह्णामीति त्रिर्ब्रह्मदेया पिता भ्राता वा दद्यात् ॥ ६ ॥ सहिरण्यानञ्जुलीनावपति धनायत्वेति दाता पुत्रेभ्यस्त्वेति प्रतिग्रहीता तस्मै प्रत्यावर्यति ॥ ७ ॥

अरणी से मन्थन करके निकालकर स्थापित किये अग्निसे पश्चिममें चार आसन बिछावे॥१॥उन आसनों पर निम्न रीतिसे बैठे। अग्नि से पूर्व में पश्चिमाभिमुख कन्यादाता बैठे अग्नि से पश्चिम में पूर्वाभिमुख वर वा पूज्य बैठे दाता से उत्तर में पश्चिम को मुख कर कन्या बैठे और अग्नि से दक्षिण में उत्तर को मुख कर मन्त्र पढ़ने वाला पुरोहित वा आचार्य बैठे ॥ २ ॥ उन सब के बीच पूर्व को जिन का अग्रभाग हो ऐसे कुश बिछाकर अक्षतों सहित जल से कांसे का पात्र भर के सौभाग्यवती जो विधवा न हो दाता के हाथ में देवे ॥ ३ ॥ उस पात्र में सुवर्ण डाले ॥ ४ ॥ अविधवा स्त्री आठ वस्तु मङ्गल रूप दाता को देवे ॥ ५ ॥ कन्या का पिता भाई वा माता जो संरक्षक हो वह जिसका वर से मूल्य नहीं लिया हो ऐसी ब्रह्मदेया कन्या को तीनवार अक्षत सुवर्ण डाले जल पात्र सहित (ददामि) कहकर देवे और वर तीन वार (प्रतिगृह्णामि) कहकर कन्या को स्वीकार करे ॥ ६ ॥ यदि कुछ धनादि वर से लेकर कन्या के पिता ने विवाह किया हो तो वर सुवर्णादि धन अंजली में ले और कन्या का पितादि कन्या का हाथ पकड़ के कहे कि (धनायत्वाददामि) तथा वर अपने हाथों में लिया सुवर्णादि कन्या के पिता को देता हुआ कन्या का हाथ पकड़े और कहे कि (पुत्रेभ्यस्त्वा प्रतिगृह्णामि) इस प्रकार धन और कन्या का दोनों लौट फेर कर लेवें ॥ ७ ॥

चतुर्व्यतिहृत्य ददाति ॥ ८ ॥ सावित्रेण कन्यां प्रतिगृह्य प्रजापतयइति च कइदं कस्माअदादिति सर्वत्रानुषजति कामैतत्तइत्यन्तम् ॥ ९ ॥ समाना वाआकूतानीति सह जपन्त्याऽन्तादनुवाकस्य ॥ १० ॥ खेरथस्यखेऽनसः खेयुगस्य-शतक्रतो । अपालामिन्द्रस्त्रिःपूत्व्यकृणोत्सूर्यत्वचम् ॥ इति तेनोदकांस्येन कन्यामभिषिञ्चेत् ॥११॥ इति ८ खण्डः ॥

षडर्घ्या भवन्त्यृत्विगाचार्यो विवाह्यो राजा स्नातकः प्रियश्चेति ॥ १ ॥ अप्राकरणिकान्वा परिसंवत्सरादर्हयन्ति ॥ २ ॥ प्राकरणिकाः कर्त्तारः सदस्याश्च वृताः ॥ ३ ॥ न जीवत्पि-

---

चार वार देन लेन की लौट फेर दोनों करें ॥ ८ ॥ वर सविता देवता वाले (देवस्यत्वा०) इत्यादि प्रत्येक मन्त्र से कन्या को स्वीकार करे तथा प्रत्येक मन्त्र के अन्त में (कइदं०) से लेकर (कामैतत्ते) पर्यन्त मन्त्र को सब के साथ जोड़ लेवे ॥ ९ ॥ फिर अनुवाक के अन्त पर्यन्त शेष बचे (समानावाआकूतानि) इत्यादि मन्त्रों को कन्या के देने लेने वाले सब लोग एक साथ ही जपें अर्थात् स्पष्ट बोलें ॥ १० ॥ फिर वर (खेरथस्य०) इत्यादि ऋचा पढ़के कांसे के पात्र में पूर्व से रक्खे अक्षतों सहित जल से कन्या के शिरपर अभिषेक करे ॥ ११ ॥ यह आठवां खण्ड समाप्त हुआ ॥ (मधुपर्क)

भा० अब इस नवम खण्ड में मधुपर्क सम्बन्धी विचार कहते हैं । ऋत्विज्—पुरोहित १ । उपनयन कराके वेद पढ़ाने वाला आचार्य २ । जामाता वर ३ राजा मूर्द्धाभिषिक्त ४ । स्नातक ब्रह्मचर्य समाप्त करने वाला ५ । श्वशुरादि प्रिय ६ ये छः पुरुष मधुपर्कादि के विधान से शास्त्रानुसार पूज्य होते हैं ॥ १ ॥ विवाह तथा (अग्निष्टोमादि यज्ञों के समय) तो मधुपर्क से पूजन का प्रकरण है वहां तो वर आदि का मधुपर्कविधि से पूजन होना ही इष्ट है । परन्तु विना प्रकरण के अकस्मात् ऋत्विजादि आवें तो एक वर्ष में एक ही वार मधुपर्क द्वारा पूजन करे अर्थात् एक वर्ष में द्विवारा पूजन न करे ॥२॥ यज्ञकर्म में वरण किये ऋत्विज् और सदस्य लोग भी प्राकरणिक होते हैं उस समय उन के वरण से पहिले मधुपर्क द्वारा पूजन होना उचित है ॥ ३ ॥ जिस

त्वकोऽघ्र्यं प्रतिगृह्णीयादिति श्रुतिरथवा प्रतिगृह्णीयात् ॥४॥ अथैनमर्हयन्ति ॥ ५ ॥ कांस्ये चमसे वा दधि मधुचानीय वर्षीयसाऽपिधायाचमनीयप्रथमैः प्रतिपद्यन्ते ॥ ६ ॥ विराजोदोहोऽसि विराजोदोहमशीय मयिदोहः पद्यायै विराजः कल्पतामित्येकैकमाह्रियमाणं प्रतीक्षते ॥ ७ ॥ सावित्रेण विष्टरं प्रतिगृह्य–अहंवर्ष्मसदृशानामुद्यतामिवसूर्यः । इदंतमभितिष्ठामि योमाकश्चाभिदासति ॥ इति जपति ॥८॥ राष्ट्रभृदसीत्याचार्य आसन्दीमनुमन्त्रयते ॥९॥ मात्वादोष- इत्यधस्तात्पादयोर्विष्टरमुपकर्षति ॥१०॥ विष्टर आसीनायै- कैकं त्रिःप्राह ॥११॥ नैव भोइत्याह नम आर्षेयायेति श्रुतिः स्पृशत्यघ्र्यम् ॥१२॥ पाद्येन पादौ प्रक्षाल्य सावित्रेण मधु-

का पिता जीवित हो वह मधुपर्क द्वारा पूजा में विकल्पित है अर्थात् उसकी पूजा करे वा न करे ऐसा श्रुति में लिखा है ॥ ४ ॥ इन ऋत्विजादि का पूजन निम्न लिखित रीति से करे ॥ ५ ॥ कांसे के कटोरे में वा प्रणीता के तुल्य चमस पात्र में सहत और दही ला के एक बड़े पात्र से ढांप कर आचमनीय जल आदि सहित पूज्य से निकट पूजक आवे ॥६॥ आचमनादि के लिये लाये एक २ जलादि वस्तु को पूज्य ऋत्विगादि पुरुष (विराजो दोहोऽसि०) इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ देखे ॥७॥ फिर (देवस्यत्वा०) इस सविता देवता वाले मन्त्र को पढ़ के विष्टर को हाथ में ले-के (अहं वर्ष्म०) मन्त्र को जपे ॥८॥ आचार्यादि पूज्य बैठने को लाये कुर्सी चौकी वा सिंहासनादि को देखता हुआ (राष्ट्रभृदसि०) मन्त्र पढ़े ॥९॥ (मात्वादोष) इत्यादि मन्त्र पढ़ के पूज्य आचार्यादि दोनों पगों के नीचे विष्टर को दबावे ॥१०॥ (आचमनीयम्) (विष्टरः) इनदोनों को देता हुआ पूजक एक२ बार बोले परन्तु अघ्र्य पाद्यादि देता हुआ (पाद्यं पाद्यं पाद्यम्) इत्यादि प्रकार तीन२ बार कहे ॥११॥ फिर पूज्य (नैव भोः) कहे कि मैं पूजार्ह नहीं किन्तु (नमआर्षेयाय) मैं ऋषियों को नमस्कार करता हूं क्योंकि यहां भी वेही पूज्य हैं ऐसा श्रुति में कहा है फिर अघ्र्य का स्पर्श करके ग्रहण करे ॥१२॥ पाद्य जल से

पर्कं प्रतिगृह्य प्रतिष्ठाप्यावसाय्य–नमो रुद्राय पात्रसदे न- मो रुद्राय पात्रसद इति प्रादेशेनाभ्यधि प्रतिदिशं प्रदक्षिणं सर्वतोऽभ्युद्दिशति ॥१३॥ मधुवाताऋतायतइति तिसृभिरङ्- गुल्या प्रदक्षिणं प्रत्यृचं त्रिरायौति ॥१४॥ अमृतोपस्तरणम- सीत्युपस्तरति ॥१५॥ सत्यंयशःश्रीर्मयि श्रीः श्रयतामिति म- धुपर्कं त्रिः प्राश्नाति॥१६॥अमृतापिधानमसीत्याचामति॥१७॥ सुहृदेऽवशिष्टं प्रयच्छति॥१८॥(असिपाणिर्गां प्राह ॥१९॥हतोमे पाप्मा पाप्मानंमेहत ओंकुरुत इति प्रेष्यति)॥ २०॥ चतुरो ब्राह्मण न्नानागोत्रान्भोजयेत् ॥ २१ ॥ पश्वङ्गंपायसं वा

प्रथम दहिना फिर वाम पग को धो कर (देवस्यत्वा०) इस सविता देवता वाले मन्त्र से दाता के तीन वार कहने पर मधुपर्क को दहिने हाथ में ले कर वाम हाथ में स्थापित करके दहिने हाथ की तर्जनी और अंगुष्ठ द्वारा थोड़ा२ ऊ- पर२ को ईशान से लेकर प्रत्येक दिशा में प्रदक्षिण क्रम से (नमोरुद्राय०) म- न्त्र को प्रत्येक दिशा के साथ वार२ पढ़ता हुआ मधुपर्क के छींटा देवे ॥१३॥ फिर (मधुवाताऋतायते०) इत्यादि तीन ऋचा पढ़ २ के दहिने हाथ की अ- नामिका अंगुली से मधुपर्क को मिलावे ॥१४॥ फिर (अमृतोप०) मन्त्र पढ़ के उपस्तार रूप आचमन प्रथम करे ॥१५॥ फिर (सत्यंयशः०) मन्त्र को पढ़ के ती- न वार थोड़ा२ लेकर मधुपर्क का प्राशन करे एकवार मन्त्र पढ़ के दोवार तू- ष्णीम् ॥१६॥ तदनन्तर (अमृतापि०) मन्त्र पढ़ के ऊपर से अभिचार रूप आचम- न करे ॥१७॥ पश्चात् शेष बचे मधुपर्क को अपने किसी प्रिय मित्र को पात्र स- हित दे देवे ॥१८॥ फिर खड्ग हाथ में लेकर (गौर्गौर्गौः) ऐसा दाता पूजक कहे ॥१९॥ यदि संज्ञपन चाहता हो तो पूज्य आचार्यादि (हतोमेपाप्मा०) इ- त्यादि प्रैषवाक्य यजमान से कहे ॥ २० ॥ (मधुपर्क में पशु संज्ञपन सदा से ही विकल्पित है । सत्ययुगादि में भी नियत नहीं हैं पर कलियुग में (लोक- विक्रुष्टमेवच) इत्यादि मन्वादि के वचनानुसार सर्वथा ही वर्जित है कथमपि कर्त्तव्यनहीं फिर भिन्न२ गोत्र वाले चार ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ २१ अथवा पशु का अङ्ग रूप पायस नाम खीर मधुपर्क पूजन में करा लेवे क्योंकि दूध भी

कारयेत् नामांसो मधुपर्कइति श्रुतिः ॥ २२ ॥ यद्युत्सृजेत्-मातारुद्राणांदुहितावसूनांस्वसादित्यानाममृतस्यनाभिः। प्र-नुवोचंचिकितुषेजनाय मागामनागामदितिंवधिष्ट । भूर्भुवः-स्वरोमुत्सृजतु तृणान्यत्तु ॥ २३ ॥ अथालङ्करणमलङ्करण-मसि सर्वस्माअलंमेभूयासम् ॥ २४ ॥ प्राणपानौमेतर्पय(स-मानव्यानौमेतर्पयउदानरूपेमेतर्पय)सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भू-यासं,सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति यथालिङ्ग-मङ्गानि संमृशति ॥ २५ ॥ अथ गन्धोत्सदने वाससी ॥२६॥ परिधास्ये यशोधास्ये दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्तु। शतं जीवेम शरदः पुरूचीरायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥ यशसा माद्यावा-पृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती। यशोभगश्च मारिषद्यशोमा प्रति मुच्यताम् ॥ इत्यहतं वासः परिधत्ते ॥२७॥ कुमार्याः प्रमदने

पशु का अंश होने से उस में कारण रूप से सभी विद्यमान है । श्रुति में लिखा है कि मांस के विना मधुपर्क नहीं होता सो खीर बना लेने परभी पश्वंश होने से मधुपर्क का ग्रत्यर्थ चरितार्थ है ॥ २२ ॥ तथा विकल्पित पक्षान्तर में गौ को छोड़ देना चाहे तो (मातारुद्राणां०) इत्यादि मन्त्र पढ़ के छुड़वा देवे ॥२३॥ फिर (अलंकरणम्०) मन्त्र पढ़ के मालादि आभूषण पहने (प्राणापानौ०) पढ़ के नासिका के दोनों छिद्रों का स्पर्श करे (समानव्या०) से नाभिका (उदानरूपे०) से कण्ठ का (सुचक्षा०) से दोनों आंखों का (सुवर्चा मु०) से मुख का और (सुश्रुत्कर्णाभ्यां०) से दोनों कानों का स्पर्श करे प्रथम दहिने फिर वायें कान को दहिने हाथ से (सर्वत्र) स्पर्श करे ॥ २५ ॥ फिर स्नातक पुरुष पूर्व कही स्नानविधि से पहिले ही मधुपर्क प्राशन करलेने पर विवाह के समय शरीर में चन्दन और सुगन्ध तैलादि सहित उ-वटन लगावे ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है और विवाहानन्तर स्नानवि-धि करे । २६ ॥ और (परिधास्ये०) मन्त्र से चौरेदार नयी धोती पहिने त-था (यशसामा०) मन्त्र से एक चौरे दार नया दुपट्टा ओढ़े ॥ २७ ॥ कुमारी

भगमर्यमणं पूषणं त्वष्टारमिति यजति ॥ २८ ॥ प्राक्स्विष्ट-कृतश्चतस्रो अविधवानन्दी रुपवादयन्ति ॥ २९॥ अभ्यन्तरे कौतुके देवपत्नीर्यजति ॥३०॥ इति नवमः खण्डः समाप्तः ॥

प्रागुदक्त्वं लक्षणमुद्धृत्यावोक्ष्य, स्थण्डिलं गोमयेनोपलिप्य मण्डलं चतुरस्रं वा, अग्निं निर्मथ्याभिमुखं प्रणयेत् (तत्र ब्रह्मोपवेशनम्) ॥१॥ दर्भाणां पवित्रे मन्त्रवदुत्पाद्ये-मंस्तोममर्हतइत्यग्निं परिसमुह्य पर्युक्ष्य परिस्तीर्य पश्चा-दग्नेरेकवद्बर्हिः स्तृणाति ॥ २ ॥ उदक्प्राक्तूलान्दर्भान्प्र-कृष्य दक्षिणांस्तथोत्तरानग्रेणाग्निं दक्षिणैरुत्तरानवस्तृणा-

---

जिस के साथ विवाह होता हो उस के क्रीड़ा स्थान में भग अर्यमा पूषा और त्वष्टा इन देवताओं के नाम से घी की आहुति देवे ॥ २८ ॥ स्विष्टकृत् आहु-ति से पहिले जो विधवा न हों ऐसी सौभाग्यवती चार स्त्रियां ढोल आदि मांगलिक बाजे बजावें और मंगल रूप भजन गावें ॥२९॥ कन्या का पिता वा भाई घर के भीतर नियत किये कौतुकागार कौतुक स्थान में (देवपत्नीभ्यः स्वाहा) मन्त्र से होम करे अथवा सिनीवाली से लेकर कुहूपर्यन्त देव पत्नियों के लिये आहुति देवे ॥ ३० ॥ यह नवम खण्ड समाप्त हुआ ॥

पश्चिम से पूर्व की ओर को उदक्संस्थ पांच रेखा और दक्षिण से उत्तर को एक रेखा खोच में स्फय वा स्रुव मूल द्वारा कर के वहां से कुछ मट्टी अ-नामिकांगुष्ठ द्वारा ईशान में फेंक कर थोड़ा जल सेचन करके बिछायी हुई शुद्ध मट्टी की गोलाकार वा चौकोण वेदी को गौ के गोबर से लीप कर उस में अ-रणी द्वारा मन्थन करके अथवा पु०१ ख०१७ सू०१।२ में कहे जन्माग्नि को पूर्वाभिमुख हो के स्थापित करे (उस से दक्षिण में वरण करके ब्रह्मा को बैठावे) ॥ १ ॥ मन्त्र पूर्वक दाभों के पवित्र बना के (इमंस्तोमं०) मन्त्र से अग्नि के सब ओर फाड़ू के ईशान कोण से लेके प्रदक्षिण सब ओर जल सेचन कर सब ओर कुश बिछा के अग्नि से पश्चिम में एकावृत्ति कुश बिछावे ॥२॥ वेदि से उत्तर और दक्षिण में पूर्व को अग्रभाग करके अग्नि से पूर्व में उत्तर को त-

ति ॥ ३ ॥ दक्षिणतोऽग्नेर्ब्रह्मणे संस्तृणात्यपरं यजमानाय पश्चार्द्धं पत्न्यै अपरमपरं शाखोदकधारयोर्लाजाधार्याश्च पश्चाद्युगधारस्य च ॥ ४ ॥ स्योनापृथिविभवेत्येतयाऽवस्थाप्य शमीमयीः शम्याः कृत्वाऽन्तर्गोष्ठेऽग्निमुपसमाधाय भर्त्ता भार्यामभ्युदानयति ॥ ५ ॥ वाससोऽन्ते गृहीत्वा–अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवापशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः । वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ इत्यभिपरिगृह्याभ्युदानयति ॥ ६॥ उत्तरेण रथं वाऽनो वाऽनुपरिक्रम्यान्तरेण ज्वलनवहनावतिक्रम्य दक्षिणस्यां धुर्युत्तरस्य युगतन्मनोऽधस्तात्कन्यामवस्थाप्य शम्यामुत्कृष्य

वा पश्चिम में दक्षिणों के साथ मिलते हुये उत्तराग्र बिछावे ॥ ३ ॥ अग्नि से दक्षिण में ब्रह्मा के लिये बिछाये आसन पर और ब्रह्मा से पश्चिम में यजमान के आसन पर तथा यजमान से पश्चिम में पत्नी के आसन पर कुश बिछावे । ब्रह्मा यजमान और पत्नी से दक्षिण में आम्र पल्लव शाखा धारण करने वाले के लिये और उस से पश्चिम में जल भरे कलश को धारण करने वाले के लिये कुश बिछावे तथा इन से पश्चिम २ को लाजा धारण करने वाली सौभाग्यवती स्त्री और हल का जुआ [युग] धारण करने वाले के लिये कुश बिछावे ॥ ४ ॥ फिर (स्योनापृथिवि०) मन्त्र से शाखाधार आदि चारों को स्थापित करके पहिले से न बनायी हों तो शमी–(छोंकर) वृक्ष की शम्या प्रादेश मात्र (सैलें) बना कर कोठे के भीतर अग्नि को प्रज्वलित करके निम्न रीति से वर अपनी पत्नी को अग्नि के समीप लावे ॥ ५॥ पत्नी के दुपट्टे का छोर पकड़ के (अघोर चक्षु०) इत्यादि मन्त्र पढ़े पश्चात् दोनों बाहु से उठा कर लावे ॥ ६ ॥ खड़े हुये रथ वा शकट (छकड़ा) के उत्तर से दक्षिण की ओर को परिक्रमा कर वा अग्नि और गाड़ी के बीच से निकल के युग (जुआं) के जो दोनों भाग बैलों के कन्धे पर रहते हैं उन के बीच को धुर् कहते हैं उस धुर् और शम्या (सैल) के छिद्र के बीच उत्तर को नीचे क-

हिरण्यमन्तर्धाय हिरण्यवर्णाः शुचयइति तिसृभिरद्भिरभिषिच्य,अत्रैव वाणशब्दं कुरुतेति प्रेष्यति ॥७॥ अथास्यै वासः प्रयच्छति-या अकृन्तन्या अतन्वन्या आवन्या अवाहरन्। याश्च ग्ना देव्योऽन्तानभितोऽततनन्त। तास्त्वा देव्यो जरसे संव्ययन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥ इत्यहतं वासः परिधाप्यान्वारभ्याघारावाज्यभागौ हुत्वा। अग्नये जनविदे स्वाहेत्युत्तरार्द्धे जुहोति। सोमाय जनविदे स्वाहेति दक्षिणार्द्धे। गन्धर्वायजनविदे स्वाहेति मध्ये ॥८॥ युक्तो वह, यदाकूतमिति द्वाभ्यामग्निं योजयित्वा नक्षत्रमिष्ट्वा नक्षत्र देवतां यजेत्तिथिं तिथिदेवतामृतुमृतुदेवतां च ॥ ९ ॥

न्या को स्थित कर शम्या को छिद्र से निकाल के उस युग छिद्र में सुवर्ण धरके (हिरण्यवर्णाः०) इत्यादि तीन ऋचा पढ़ २ के छिद्र के ऊपर से कुशों वा आम के पत्तों द्वारा कन्या के शिर पर अभिषेक करे और इसी अवसर में (वाण शब्दं कुरुत) ऐसे वाक्य द्वारा वादित्र (बाजे) बजाने की आज्ञा देवे ॥७॥ फिर पत्नी को अग्नि के पास उठाकर लावे और (या अकृन्तन्०) इत्यादि मन्त्र पढ़ के चौरेदार साड़ी [जो किसी स्थान में से फाड़ी न गयी हो] पत्नी को पहनावे। तदनन्तर पत्नी के अन्वारम्भ करने पर प्रजापति और इन्द्र देवता के लिये दो आघार और अग्नि तथा सोम देवता के लिये दो आज्य भाग की आहुति दे कर (अग्नयेजन०) से वेदिस्थ प्रज्वलित अग्नि के उत्तरार्द्ध में (सोमाय जन०) से दक्षिणार्द्ध में और (गन्धर्वाय जन०) से बीच अग्नि में आहुति देवे ॥ ८ ॥ पश्चात् (युक्तो वह० । यदा कूतं०) इन दो मन्त्रों से अग्नि देवता को युक्त नाम संबोधित करके जिस तिथि में वह काम विवाह होता हो उस दिन जो नक्षत्र हो उस नक्षत्र का जो देवता हो तथा प्रतिपदादि जो तिथि हो उस के नाम से और उस तिथि के देवता के नाम से तथा उस समय जो ऋतु हो और उस ऋतु का जो देवता हो उन सब के ना-

सोमोददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोददद्ग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथोइमाम् ॥ अग्निरस्याः प्रथमो जातवेदाः सोऽस्याः प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदिदं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेदं स्त्रीपौत्रमगनम रुद्रियाय–स्वाहा–इति ॥ हिहिरण्यगर्भइत्यष्टाभिः प्रत्यृचमाज्याहुतीर्जुहुयात् ॥ १०॥ येन च कर्मणेच्छेत्तत्र जयान्जुहुयात् जयानां च श्रुतिस्तां यथोक्ताम् ।आकूत्यै त्वा स्वाहा। भूत्यै त्वा स्वाहा । प्रयुजे त्वा स्वाहा ।नभसे त्वा स्वाहा। अर्यम्णे त्वा स्वाहा। समृद्ध्यै त्वा स्वाहा। जयायै त्वा स्वाहा ।कामाय त्वा स्वाहेत्यृचास्तोमं,प्रजापतयइति च ॥ ११ ॥ शुचिः प्रत्यङ्ङुपयन्तां–समीक्षस्वेत्याह ॥ १२ ॥ तस्यां समीक्षमाणायां जपति–ममव्रते ते हृदयं दधातु मम चित्तमनुचित्तं तेऽअस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु महृयम् ॥ इति॥१३॥

म से छः आहुति देवे ॥ ९ ॥ पश्चात् (सोमोददद्०) इत्यादि दो ऋचाओं से एक आहुति दे कर (हिरण्यगर्भः०) इत्यादि आठ ऋचाओं से घी की आठ आहुति देवे ॥ १० ॥ जिस कर्म से कार्य की सिद्धि चाहता हो वहां २ जया होम करे । जया संज्ञक आहुतियों की यथोक्त श्रुति हैं कि शत्रु के विनाशार्थ भी जया होम होता है । (आकूत्यै०) इत्यादि जया होम की आठ आहुति दे कर (ऋचास्तोमं०) मन्त्र से नवमी और (प्रजापतये स्वाहा) से दशमी आहुति देवे ॥ ११ ॥ पवित्र हुआ वर (अर्थात् स्त्री के साथ कामाभिलाष रहित धर्मनिष्ठ मन को रख के) पश्चिम को मुख करके पत्नी से कहे (समीक्षस्व) मुझे देखो ॥ १२ ॥ वह पत्नी वर को देखती हो तब वर (ममव्रतेते०) इत्यादि मन्त्र को पत्नी की ओर देखता हुआ पढ़े ॥ १३ ॥

कानामासीत्याह ॥१४॥ नामधेये प्रोक्ते–देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसाविति हस्तं गृह्णन्नाम गृह्णाति। प्राङ्मुख्याः प्रत्यङ्मुख ऊर्ध्वस्तिष्ठन्नासीनाया दक्षिणमुत्तानं दक्षिणेन नीचारिक्तमरिक्तेन ॥ यथेन्द्रो हस्तमग्रहीत्सविता वरुणो भगः। गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासत्। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ याग्रे वाक्समवदत पुरा देवासुरेभ्यः। तामद्य गाथां गास्यामो यास्त्रीणामुत्तमं मनः ॥ सरस्वती प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति। यां त्वा विश्वस्य भूतस्य भव्यस्य प्रगायाम्यस्याग्रतः ॥ अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्याप्यमोऽहम्। द्यौरहं पृथिवी त्वमृक्त्वमसि सामाहम्। रेतोऽहमस्मि रेतो धत्तम् ॥ ता एव विवहावहै पुंसे पुत्राय कर्त्तवै। श्रियै पुत्राय वेधवै। रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥१५॥ अभिदक्षिणमानीयाग्नेः पश्चात्–एतमश्मानमातिष्ठतमश्मेव युवां स्थिरौ भवतम्। कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुर्वां शरदः शतम् ॥ इति दक्षिणाभ्यां पद्भ्या

इस के पश्चात् वर कन्या से कहे कि (का नामसि तुम्हारा क्या नाम है ॥१४॥ जब कन्या अपना नाम बोले तब (देवस्य त्वा०) मन्त्र पढ़के निम्न रीतिसे कन्या का हाथ पकड़े और मन्त्र के अन्त में पढ़े (असौ) शब्द के स्थानमें कन्या का नाम सम्बोधनान्त बोले। कन्या का मुख पूर्व को वर का पश्चिम को हो कन्या बैठी हो वर खड़ा हो कन्या का दहिना हाथ रीता उत्तान ऊपर को और वर के दहिने हाथ में कोई फलादि हो इस प्रकार अपने दहिने हाथ से कन्या का दहिना हाथ अंगुठा अंगुलियों सहित पकड़के (यथेन्द्रो हस्तमग्रहीत्०) इत्यादि मन्त्रपढ़े॥१५ अन्य कोई पुरुष कन्या को वर से दक्षिण में और अग्नि से पश्चिम में खड़ी करके कन्या वर दोनों के दहिने पगों को एक पत्थर की शिला पर धरवाता हुआ (ए-

मश्मानमास्थापयति ॥१६॥ यथेन्द्रः सहेन्द्राण्य । अवारुहद्गन्धमादनात् । एवं त्वमस्मादश्मनोऽअवरोह सह पत्न्या ॥आरोहस्व समे पादौ प्रपूर्व्यायुष्मती कन्ये पुत्रवती भव॥-इत्येवं द्विरास्थापयति॥१७॥चतुःपरिणयति॥१८॥ समितं संकल्पेथामिति पर्याये पर्याये ब्रह्मा ब्रह्मजपंजपेत् ॥ १९ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

ततो यथार्थं कर्मसंनिपातो विज्ञेयः ॥१॥ अर्यम्णेऽग्नयेपूष्णे (ऽग्नये) वरुणाय च व्रीहीन्यवान्वाऽभिनिरुप्य प्रोक्ष्य लाजा भृज्जति ॥२॥ मात्रे प्रयच्छति सजातायाअविधवायै ॥ ३ ॥ अथास्यै द्वितीयं वासः प्रयच्छति तेनैव मन्त्रेण ॥४॥

तमश्मान०) इत्यादि मन्त्र पढ़े ॥१६॥ फिर (यथेन्द्रः स०) मन्त्र पढ़ के दोनों के पगों को नीचे उतरवावे । पश्चात् उक्त प्रकार (एतमश्मा०) मन्त्र से फिर पाषाण शिलापर दोनों के दहिने पग धरा के (यथेन्द्रः०) मन्त्र से फिर उतरवावे ऐसे दो वार करके ॥१७॥ पश्चात् चार वार अग्नि के प्रदक्षिण परिक्रमा आगे कहे लाजाहोम के साथ कन्या वर दोनों करें ॥१८॥ और (समितं संकल्पेथां०) मन्त्र का प्रत्येक परिक्रमा के साथ एकरवार ब्रह्मा जप करे॥१९॥ यह दशवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भाषार्थः—जिस कर्म का जहां प्रयोजन हो उसी अवसर में उस का अनुष्ठान करना चाहिये । अर्थात् सूत्रकार किसी अन्यत्र करने के काम को अन्यत्र भी कह देते हैं पर करने वाले को मौका देखकर यथावसर करना चाहिये इसी लिये इन सूत्रों में लिखे विवाहादि कर्म सिलसिलेवार पद्धति बने विना हो नहीं सकते हैं ॥ १ ॥ अर्यमाग्नि पूषाग्नि और वरुणाग्नि देवताके लिये लाजा भूंजने के अर्थ धान वा जौ का ग्रहण करके लाजा भूंजे ॥ २ ॥ वे भुंजे हुए लाजा वा जौ कन्या की माता को वा जो विधवा न हो ऐसी कन्यामाता की सहोदर बहिन कन्या की मौसी को देवे ॥ ३ ॥ इस के अनन्तर उसी मन्त्र से कन्या को ऊपर से ओढ़ने के लिये द्वितीय वस्त्र देवे ॥४॥

दर्भरज्ज्वा—इन्द्राण्याः संनहनमित्यन्तौ समायम्य पुमांसं ग्रन्थिं बध्नाति ॥ ५ ॥ सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः सं त्वा नह्याम्यद्भिरोषधीभिः। सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सा संनद्धा सनुहि भागधेयम् ॥ इत्यन्तरतो वस्त्रस्य योक्त्रेण कन्यां संनह्यते ॥ ६ ॥ अथैनान्युपकल्पयते—शूर्पं लाजा इषीका अश्मानमाञ्जनम् ॥ ७ ॥ चतसृभिर्दर्भेषीकाभिः शरेषीकाभिर्वा समुञ्जाभिः सतूलाभिरित्येकैकया त्रैककुभस्याञ्जनस्य संनिष्कृष्य—वृत्रस्यासि कनीनिकेति भर्त्तुर्दक्षिणमक्षि त्रिःप्रथममाङ्क्ते। तथापरं, तथा पत्न्याः शेषेण तूष्णीम् ॥ ८ ॥ दिशि शलाकाः प्रविध्यति—यानि रक्षांस्यभितो व्रजन्त्यस्या वध्वा अग्निसकाशमागच्छन्त्याः। तेषामहं प्रतिविध्यामि चक्षुः स्वस्ति वध्वै भूपतिर्दधातु ॥ इति ॥ ९ ॥ लाजाः पश्चा-

फिर (इन्द्राण्याः संनहन०) इस मन्त्र को पढ़ के आचार्य दाभ की रस्सी के दोनों ओर मिलाकर प्रदक्षिण रीति से गांठ देवे ॥ ५ ॥ फिर (संत्वानह्यामि०) मन्त्र पढ़ के कन्या के कटि भाग में पहने हुए साड़ी वस्त्र के बीच (दोनों ओर ऊपर नीचे वस्त्र रहे) में वह दर्भ रज्जु प्रदक्षिण लपेटे। यह पत्नी की दीक्षार्थ मेखला है ॥ ६ ॥ इस के अनन्तर सूप खीलें दाभ वा मूंज की चार सींकें पत्थर की शिला और आंखों में लगाने का सुरमा इन सब को सम्हाल के रक्खे ॥ ७ ॥ जिन में मूंज और अग्रभाग में फूला हुआ लगा हो ऐसी पूरी लम्बी दाभ की वा मूंज की चार सींकों के ओर ठीक करके उन एक २ में पहाड़ी सुरमा लगा के पहिले कन्या एक सींक से वर की दहिनी आंख में (वृत्रस्यासि०) मन्त्र से तीनवार सुरमा लगावे तथा इसी प्रकार बायीं आंख में दूसरी सींकसे लगावे फिर शेष बची दो सींकों से वर पत्नी की दहिनी बायीं आंखों में विना मन्त्र सुरमा लगावे ॥ ८ ॥ फिर (यानि रक्षांसि०) मन्त्र पढ़ के सब दिशाओं में एक २ सींक जिन से सुरमा लगाया है प्रदक्षिण क्रम से वर फेंके ॥ ९ ॥

दग्नेरुपसाद्य शमीपर्णैः संसृज्य शूर्पे समं चतुर्धा विभज्याग्रेणाग्निं पर्याहृत्य लाजाधार्यै प्रयच्छति ॥ १० ॥ लाजा भ्राता ब्रह्मचारी वाऽञ्जलिनाऽञ्जल्योरावपति ॥ ११ ॥ उपस्तरणाभिघारणैः संपातं ता अविच्छिन्नं जुहुतः—अर्यमणं नुदेवं कन्याअग्निमयक्षत। सोऽस्मान्देवोऽअर्यमा प्रेतः मुञ्चतुमामुतः स्वाहा ॥ तुभ्यमग्नेपर्यवहन्त्सूर्यां वहतुनासह। पुनःपतिभ्योजायांदा अग्नेःप्रजयासह ॥ पुनःपत्नीमग्निरदादायुषासहवर्चसा॥दीर्घायुरस्यायः पतिर्जीवातिशरदःशतम्॥ इयंनार्युपब्रूते (ऽग्नौ) लाजानावपन्तिका। दीर्घायुरस्तुमेपतिरेधन्तांज्ञातयोमम ॥ इति (जपन्ति) ॥ १२ ॥ एवंपू-

---

तदनन्तर लाजा नाम धान की खीलों को अग्नि से पश्चिम में रखके उन में शमी (छौंकर वृक्ष) के पत्ते मिलाकर उन को सूप में चार भाग बराबर पृथक् २ रखके अग्नि के उत्तर पूर्व से प्रदक्षिणा करके लाजा के सूप को दक्षिण की ओर खड़ी लाजा धारण करने वाली स्त्री को देवे ॥१०॥ कन्या का भाई वा ब्रह्मचारी विद्यार्थी कन्यावर दोनों की मिलाई हुई अञ्जुली में लाजा अपनी अंजुली में लेकर गिरावे ॥११॥ लाजा गिराने से पूर्व अञ्जली में उपस्तार रूप घी लगावे फिर लाजा गिरा के खीलों के ऊपर से घी छोड़े वह अभिघारण कहाता है फिर बीच में न रुकते हुए धार बांध कर (अर्यमणं०) आदि मन्त्रों से दोनों कन्या वर होम करें। (अर्यमणंनु०) से लेकर (प्रजयासह) तक पहिले वर पढ़े। फिर (पुनः पत्नीम्०) मन्त्र को अध्वर्यु पढ़े (इयं नार्युपब्रूते०) मन्त्र को कन्या पढ़े चारों मन्त्रों के पाठ के साथ धीरे २ निरन्तर दोनों कन्या वर लाजा गिराते जावें यह एक आहुती हुई ॥ १२॥ फिर पूर्व लिखी अग्नि की परिक्रमा दोनों एक बार करें परिक्रमा के साथ (समितं०) मन्त्र को ब्रह्मा पढ़े (अर्थात् वहां क्रम यह है कि प्रथम वेदि में रेखा करे अग्निस्थापन, दर्भ पवित्र बनाना, अग्नि का परिसमूहनादि स्थापनान्त, स्रुवादि पात्रस्थापन, लाजा

षणंनुदेवं, वरुणंनुदेवम् ॥१३॥ येनद्यौरुग्रेत्यादय उद्वाहे होमाः । जयाभ्यातानाः संततिहोमा राष्ट्रभृतश्च ॥१४॥ आकूतायस्वाहेति जयाः । प्राचीदिग्वसन्तऋतु रित्यभ्यातानाः । प्राणादपानंसन्तन्विति संततिहोमाः । ऋताषाडृतधामेति (द्वादश) राष्ट्रभृतश्च ॥१५॥ त्रातारमिन्द्रं, विश्वादित्याइति मङ्गल्ये ॥ १६ ॥ लाजाः कामेन चतुर्थं स्विष्टकृतमिति ॥१७॥ अथैनां प्राचीं सप्तपदानि प्रक्रमयति। एकमिषे । द्वेऊर्जे । त्रीणि प्रजाभ्यश्चत्वारि रायस्पोषाय। पञ्च भवाय। षडृतुभ्यः। सखासप्तपदीभव सुमृडीकासरस्वती। मातेव्योमसंदृशि॥ विष्णुस्त्वामुन्नयत्विति सर्वत्रानुषजति ॥१८॥ पश्चादग्नेरोहिते चर्मण्यानडुहे प्राग्ग्रीवे लोमतो दर्भानास्तीर्य तेषु

निर्वपणादि, सूप आदि का स्थापन, फिर आज्यग्रहणादि समिदाधान पर्यन्त (पु० २ खं० २) में कहे अनुसार फिर (ऋचास्तोमं०) पर्यन्त आघारहोमादि । फिर हस्तग्रहणान्त करके अश्मास्थापन लाजाहोमादि करे) फिर पूषा और वरुण का ऊह अर्यमा के स्थान में करके (पूषणंनुदेवं कन्या०) इत्यादि मन्त्रों से दो बार लाजा होम परिक्रमा और अश्मारोहणावरोहण फिर करें ॥ १३ ॥ (येन द्यौरुग्रा०) इत्यादि होम विवाह में करे तथा (आकूताय०) इत्यादि पूर्वोक्त जयाहोम (प्राचीदिग्०) इत्यादि अभ्यातान (प्राणादपानं०) इत्यादि संतति होम और (ऋताषाड्०) इत्यादि बारह आहुति राष्ट्रभृत् होम भी विवाह में करे ॥ १४ । १५ ॥ (त्रातारमिन्द्रं०) (विश्वादित्या०) इन दो मन्त्रों से मंगल आहुति करे ॥१६। फिर (अर्यमणंनु०) इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्रों में अर्यमा के स्थान में काम शब्द का ऊह करके कि (कामंनुदेवं०) चौथी स्विष्टकृत् स्थानी लाजाहुति करे ॥ १७ ॥ फिर इस कन्या को (एकमिषे०) इत्यादि के आगे (भवसुमृडीका०) से (मुन्नयतु) पर्यन्त मंत्र सब में लगा २ के एक २ मन्त्र से एक २ पग पूर्व को चलावे ॥ १८ ॥ तदनन्तर अग्नि से पश्चिम में लाल बैल के चर्म को पूर्व को शिर तथा ऊपर को लोम करके बिछावे उस पर दाभ

वधूमुपवेशयत्यपिवा दर्भेष्वेव ॥१९॥ इमंविष्यामिवरुणस्य-पाशं यज्जग्रन्थसवितासत्यधर्मा । धातुश्चयोनौसुकृतस्य-लोकेऽरिष्टांमासहपत्यादधातु ॥ इति योक्त्रपाशं विषाय वा-ससोऽन्ते बध्नाति ॥२०॥ अनुमतिभ्यां व्याहृतिभिश्च। त्वंनो अग्ने। सत्वंनोअग्ने। अयाश्चाग्नेऽसीतिच॥२१॥शमीमयीस्ति-स्रोऽक्ताः समिधः । समुद्रादूर्मिरित्येताभिस्तिसृभिः स्वाहा-कारान्ताभिरादधाति ॥२२॥ अक्षतसक्तूनां दध्नश्च समवदा-येदंहविः प्रजननंमइति च हुत्वा। त्रितेमुञ्चामिरशनांविर-श्मीनिति च हुत्वा पवित्रेऽनुप्रहृत्याऽऽज्येनाभिजुहोति ॥२३॥ एधोऽस्येधिषीमहीति समिधमादधाति । समिदसिसमे-धिषीमहीति द्वितीयाम् ॥२४॥ अपोअद्यान्वचारिषमित्युप-तिष्ठते ॥२५॥ कुम्भादुदकेनापोहिष्ठीयाभिर्मार्जयन्ते ॥२६॥

बिछाके वधू को बैठावे अथवा केवल दाभों पर बैठावे ॥१९॥ फिर (इमंविष्यामि०) इस मन्त्र को पढ़के कन्या के कटिभाग में बांधी हुई दाभ की रस्सी को खोल कर ओढ़े हुए वस्त्र के छोर में बांध देवे ॥२०॥ फिर (अनुमति०) के लिये दो, तीन व्याहृति और (त्वंनोअग्ने०) इत्यादि तीन आहुति देवे ॥२१॥ तदनन्तर शमी (छोंकर) वृक्ष की तीन समिधा घी में डुबो के (समुद्रादू०) इत्यादि स्वाहा-कारान्त तीन मन्त्रों से अग्नि में चढ़ावे ॥ २२ ॥ पश्चात् विना कूटे जौ के सत्तू और दही में से दो २ आहुत्यंश अवदान लेकर (इदंहविःप्र०) मन्त्र से होम करके पवित्रों में घी लगा के पवित्रों का होम करदे और (त्रितेमुञ्चा-मि०) इत्यादि मन्त्रों से घी की आहुति करे ॥ २३ ॥ पश्चात् (एधोऽसि०) मन्त्र से एक और (समिदसि०) मन्त्र से दूसरी समिधा अग्नि में चढ़ावे ॥२४॥ फिर (अपोअद्यान्व०) मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करे ॥२५॥ फिर कुम्भ जल भरा कलश धारण करने वाले के कलश से दाभ वा आम के पत्तों द्वारा जल ले २

वरो दक्षिणा ॥२७॥ इत्येकादशः खण्डः समाप्तः ॥

सुमङ्गलीरियंवधूरिमांसमेतपश्यत । सौभाग्यमस्यैदत्वा याथास्तंविपरेतन ॥ इति प्रेक्षकान् व्रजतोऽनुमन्त्रयते ॥१॥ अत्रैव सीमन्तं करोति । त्रिश्येतया शलल्या समूलेन वा दर्भेण । संनाहनामेत्येतया ॥२॥ अथाभ्यञ्जन्ति । अभ्यज्य-केशान्सुमनस्यमानाः प्रजावरीर्यशसेबहुपुत्राअघोराः । शिवा भर्त्तुःश्वशुरस्यावदायायुष्मतीःश्वश्रुमतीश्चिरायुः ॥ इति॥३॥ जीवोर्णायोपसमस्यति । समस्यकेशानवृजिनानघोरान् शिवासखीभ्योभवसर्वाभ्यः । शिवाभवसुकुलोह्यमाना शिवाजनेषुसहवाहनेषु ॥ इति ॥ ४ ॥ अथैनौ दधिमधु समश्नुतो यद्वा हविष्यं स्यात् ॥ ५ ॥ तस्य स्वस्तिवाचयित्वा, समानावाआकूतानीति सह जपन्ति ॥ ६ ॥

कर (आपोहिष्ठा०) आदि तीन मन्त्रों से पत्नी का अभिषेक करे ॥२६॥ और श्रेष्ठ गौ आचार्य को दक्षिणा में देवे ॥२७॥ यह ग्यारहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भावार्थः—जो लोग विवाह देखने को आये हों फिर लौट कर अपने २ घर को जाते हों उन को देखता हुआ (सुमङ्गलीरियं०) मन्त्र पढ़े ॥१॥ इसी अवसर में वर अपनी पत्नी का सीमन्तोन्नयनकरे अर्थात् निम्न रीति से मांग भरे । तीन जगह श्वेत सेहों के कांटे से अथवा जड़ सहित उखाड़े दाभ के गुच्छे से (संनाहनाम०) इस ऋचाको पढ़के मांग के केश दोनो ओर को करे ॥२॥ पश्चात् (अभ्यज्य केशान्०) मन्त्र पढ़ के बालो में तेल लगावे और कंकन (ककवा) से काढ़े ॥ ३ ॥ फिर जीते हुये मेढ़ा की ऊन से बनाये डोरे के साथ बालों को (समस्यकेशान्०) मन्त्र पढ़ के गूंथे अर्थात् बेनी बना के बांध देवे ॥ ४ ॥ अनन्तर दोनों पति पत्नी दही और शहद मिला कर एक साथ खावें अथवा हविष्यान्न खावें ॥ ५ ॥ खाने से पहिले पुरोहितादि से कहे (स्वस्ति-ब्रूहि) तब ब्राह्मण मन्त्र सहित स्वस्ति कहे फिर ब्राह्मण सहित तीनों (समानावा०) मन्त्र को साथ ही पढ़ें ॥ ६ ॥

उभौ सह प्राश्नीतः ॥ ७ ॥ इति द्वादशः खण्डः ॥

पुण्याहे युङ्क्ते ॥ १ ॥ युञ्जन्तिब्रध्नमितिद्वाभ्यां युज्यमानमनुमन्त्रयते दक्षिणमथोत्तरम् ॥ २ ॥ अहतेन वाससा दर्भैर्वा रथं संमार्ष्टि ॥ ३ ॥ अङ्कू न्यङ्कावभितोरथंयेध्वान्ता वाताअग्निमभियेसंचरन्ति । दूरेहेतिःपतत्रीवाजिनीवांस्तेनोऽग्नयःपप्रयःपालयन्तु ॥ इति चक्रेऽभिमन्त्रयते ॥४॥ वनस्पतेवीड्वङ्ग इत्यधिष्ठानम् ॥५॥ सुकिंशुकंशल्मलिंविश्वरूपं हिरण्यवर्णंसुवृतंसुचक्रम् । आरोहसूर्येअमृतस्यलोकंस्योनंपत्येवहतुंकृणुष्व ॥ इत्यारोहयति ॥ ६ ॥ अनुमायन्तुदेवता अनुब्रह्मसुवीर्यम् । अनुक्षत्रंतुयद्बलमनुमामैतुयद्यशः ॥ इति प्राङभिप्रयाय प्रदक्षिणमावर्त्तयति ॥७॥ प्रतिमायन्तुदेवताः प्रतिब्रह्मसुवीर्यम् । प्रतिक्षत्रंतुयद्बलं प्रतिमामैतुय-

फिर पति पत्नी दोनों दही सहत मिला के वा हविष्यान्न को साथ २ खावें ॥७॥ यह बारहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब शुभ नक्षत्र और शुभ ग्रह युक्त पुण्य दिन अपने घर पत्नी को ले जाने के लिये रथादि को जोड़े ॥ १ ॥ जब कोई अध्वर्यु आदि रथ में घोड़े वा बैलों को जोड़ता हो तब उस की ओर देखता हुआ वर (युञ्जन्तिब्र०) मन्त्र पढ़े पहिले दहिने को जोड़ते समय फिर बायें को जोड़ते समय पृथक् २ दो बार मन्त्र पढ़े ॥ २ ॥ तदनन्तर चीरे दार नये वस्त्र से वा दाभों से रथादि सवारी को दोबार झाड़े ॥ ३ ॥ पश्चात् (अङ्कून्यङ्काव०) मन्त्र पढ़के रथ के पहियों का अभिमन्त्रण करे प्रथम दहिने का फिर बायें का ॥ ४ ॥ (वनस्पते०) मन्त्र पढ़ कर रथ पर बैठने के स्थान का अभिमन्त्रण करे ॥५॥ फिर (सुकिंशुकं०) मन्त्र पढ़ के पत्नी को अध्वर्यु आदि के द्वारा रथ पर चढ़वावे ॥ ६ ॥ फिर स्वयं रथ पर बैठ के (अनुमायन्तु०) मन्त्र पढ़ के पहिले थोड़ा पूर्व को रथ चला कर प्रदक्षिण क्रम से जाने के मार्ग पर फेर कर लावे ॥७॥ ठीक घर को जाने वाले रास्ते पर रथ चलता हो तब रथ को देखता हुआ

यशः ॥ इति यथास्तं यन्तमनुमन्त्रयते ॥ ८ ॥ अमङ्गल्यं चेदतिक्रामति । अनुमायन्त्विवति जपति ॥ ९ ॥ नमोरुद्रायग्रामसदइति ग्रामे । इमारुद्रायेति च ॥ १० ॥ नमोरुद्रायैकवृक्षसदइत्येकवृक्षे । ये वृक्षेषु शष्पिञ्जराइति च ॥११॥ नमोरुद्राय श्मशानसदइति श्मशाने । येभूतानामधिपतयइति च ॥ १२ ॥ नमोरुद्राय चतुष्पथसदइति चतुष्पथे । येपथांपथिरक्षयइति च ॥ १३ ॥ नमोरुद्राय तीर्थसदइति तीर्थे । येतीर्थानि प्रचरन्तीति च ॥ १४ ॥ यत्रापस्तरितव्या आसीदति । समुद्रायवैणवेसिन्धूनांपतयेनमः । नमोनदीनांसर्वासांपतये । विश्वाहाजुषतांविश्वकर्मणामिदंहविः स्वः स्वाहेत्यप्सूदकाञ्जलीन्निनयति ॥ अमृतं वा आस्ये जुहोम्यायुः प्राणेऽप्यमृतं ब्रह्मणा सहमृत्युंतरात । प्रासहादिति रिष्टिरिति मुक्तिरिति मक्षीयमाणः सर्वभयं नुदस्वस्वाहेति

(प्रतिमायन्तु देव०) मन्त्र को पढ़े ॥ ८ ॥ यदि मार्ग में कहीं श्मशान, कूड़ा आदि का ढेर और अनिष्ट घृणित अमंगल वस्तु के समीप हो के निकलने पड़े तो (अनुमायन्तु०) इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥ ९ ॥ यदि ग्राम में हो कर निकले तो (नमोरुद्राय ग्राम०) तथा (इमा रुद्राय०) इन दो मन्त्रों का जप करे ॥ १० ॥ मार्ग में एक वृक्ष पड़े तो (नमो रुद्रायैकवृक्षसदे०) और (ये वृक्षेषु०) दो मन्त्रों को जपे ॥ ११ ॥ यदि मार्ग में श्मशान (मरघट) पड़े तो (नमो रु० । ये भूताना०) दो मन्त्रों को जपे ॥ १२ ॥ यदि चौराहा पड़े तो (नमो रुद्राय० । ये पथां०) इन दो मन्त्रों को जपे ॥ १३ ॥ यदि मार्ग में कोई घाट पड़े तो (नमो रुद्राय० । ये तीर्थानि०) दो मन्त्रों को जपे ॥ १४ ॥ यदि नदी आदि पार उतरने योग्य जलाशय आवे तो अंजुली से जल भरकर (समुद्राय वै०) मन्त्र पढ़ के जलाशय में अंजुली के जल का होम कर देवे । फिर तीन बार अपने शिर आदि अङ्गों

त्रिः परिमृज्याचामति ॥ १५ ॥ यदि नावा तरेत्सुत्रामाणमिति जपेत् ॥ १६ ॥ यदि रथाक्षः शम्याणी वा रिष्येतान्यद्वा रथाङ्गं तत्रैवाग्निमुपसमाधाय जयप्रभृतिभिर्हुत्वा सुमङ्गलीरियं वधूरिति जपेत् । वध्वा सह । वधूं समेत पश्यत ॥ १७ ॥ व्युत्क्राम पन्थां जरितां जवेन । शिवेनवैश्वानरड्डयास्याग्रतः । आचार्योयेनयेनप्रयातितेनतेनसह॥ इत्युभावेव व्युत्क्रामतः ॥ १८ ॥ गोभिः सहास्तमिते ग्रामं प्रविशन्ति ब्राह्मणवचनाद्वा ॥ १९ ॥ इति त्रयोदशः खण्डः समाप्तः ॥

अपरस्मिन्नहः सन्धौ गृहान्प्रपादयीत ॥ १ ॥ प्रति ब्रह्म-

पर जल से मार्जन करके (अमृतं वा आस्ये०) मन्त्र पढ़के तीन बार आचमन करे ॥ १५ ॥ यदि नौका पर चढ़ के पार उतरना हो तो नौका पर चढ़ा हुआ (सुत्रामाणं०) मन्त्र का जप करे ॥ १६ ॥ यदि मार्ग में चलते २ रथ की धुरी सैल वा आरा आदि कोई रथ का अंग टूट फूट जावें तो (उस को बढ़ई से बनवाना यह भिन्न लौकिक काम है उस को तो सभी के तुल्य करे) पर विवाह के वेदि का अग्नि साथ (लाना चाहिये) लाया हो उस को प्रज्वलित कर आघार आज्यभाग के पश्चात् जयादि होम करके (सुमङ्गलीरि०) मन्त्र को पत्नी सहित पढ़े (इमां समेत) के स्थान में (वधूंसमेत) कहे ॥ १७ ॥ फिर स्त्री पुरुष दोनों (व्युत्क्रामपन्थां०) मन्त्र को पढ़ के रथ से उतरें और पृथक् २ चलें और फिर बैठ जावें ॥१८॥ सूर्यनारायण के अस्त होने पर जंगल से गौओं के घर आने के साथ विदा कराके लाये बराती लोग गांव में घुसें । यदि दिन वा अधिक रात जाने का समय हो तो ब्राह्मण की आज्ञा लेकर गांव में घुसें ॥ १९ ॥ यह तेरहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब वधूके गृहप्रवेशकी रीति दिखाते हैं। ठीक सन्ध्या के समय रथसे उतारके बहूको घरमें लावे (प्रति ब्रह्मन्०)मन्त्रको पढ़के यजमान बहूको रथसे उतारे॥२॥उस समय दही चन्दनादि मंगल वस्तु कोई घरमें से लावे और मंगल सूचक मन्त्रादि का

क्षिति प्रत्यवरोहति ॥ २ ॥ मङ्गलानि प्रादुर्भवन्ति ॥ ३ ॥ गोष्ठात्संततामुलपराजिं स्तृणाति ॥४॥ रथादध्योपासनात्। येष्वध्येतिप्रवसन्येषुसौमनसंमहत्। तेनोपहूयामहे तेनोजानन्त्वागतम् ॥ इति तयाभ्युपैति ॥५॥ गृहानहंसुमनसः प्रपद्ये वीरंहिवीरवतः सुशेवा। इरांवहन्तीघृतमुक्षमाणास्तेष्वहंसुमनाः संवसाम ॥ इत्यभ्याहिताग्निं सोदकंसौषधमावसथं प्रपद्यते । रोहिण्या मूलेन वा यद्वा पुण्योक्तम् ॥६॥ पश्चादग्नेरोहिते चर्मण्यानडुहे प्राग्ग्रीवे लोमतो दर्भानास्तीर्य तेषु वधूमुपवेशयत्यपिवा दर्भेष्वेव ॥ ७ ॥ अथास्यै ब्रह्मचारिणमुपस्थ आवेशयति । सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही। असौ नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोमआहितः ॥ इति ॥८॥ अथास्य तिलतण्डुलानां फलमिश्राणामञ्जलिं पूर-

उच्चारण घर में हो ॥ ३ ॥ रथ से लेकर घरके भीतर तक पूर्व को अग्रभाग कर २ बराबर निरन्तर कुश बिछावे ॥ ४ ॥ और अध्वर्यु (येष्वध्येति प्र०) मन्त्र को पढ़ता हुआ उन बिछाये कुशों पर बहू को घर में ले चले ॥ ५ ॥ फिर (गृहानहं सुमनसः०) मन्त्र को पढ़ते हुए एक जल भरा पात्र धान की खीलें आदि और विवाह के अग्नि को साथ लिये हुए घर में प्रवेश करें । प्रवेशके समय रोहिणी वा मूल नक्षत्र हो अथवा ज्योतिःशास्त्रानुकूल मुहूर्त्त हो ॥ ६॥ पहिले से बनाये कुण्ड में अग्नि का स्थापन करके उस अग्नि से पश्चिम में लाल बैल का चर्म पूर्व को शिर और ऊपर को लोम रख कर बिछावे उस पर दाभ बिछा के उन पर वा बैल का चर्म न मिले तो बिछाये हुए केवल दाभों पर बहू को बैठावे ॥७॥ फिर (सोमेनादित्या०) मन्त्र पढ़ के मृगचर्मादि धारण किये किसी ब्रह्मचारी को इस बहू की गोदी में बैठावे ॥ ८ ॥ सब कोई फल जिन में मिले हों ऐसे तिल और चावलों से ब्रह्मचारी की अंजुली भर कर बहू की गोदी से उठा देवे। इस के अनन्तर ध्रुव, अरुन्धती जीवन्ती और

यित्वोत्थाप्य । अथास्यै ध्रुवमरुन्धतीं जीवन्तीं सप्तर्षीनिति दर्शयेत् ॥९॥ अच्युताध्रुवाध्रुवपत्नी ध्रुवं पश्येम सर्वतः ॥ ध्रुवासःपर्वताइमे ध्रुवास्त्रीपतिकुलेयम् ॥इति तस्यां समीक्षमाणायां जपति ॥ १० ॥ श्वोभूते प्राजापत्यं पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा तस्य जुहोति (आज्यशेषे) ॥११॥ चक्रीवानडुहौवामे वाङ्मैतुतेमनः । चाक्रवाकं संवननं तन्नौ संवननंकृतम् ॥ इति यजमानस्त्रिः प्राश्नाति । अवशिष्टं तूष्णीं पत्नी॥१२॥अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञः । स व्याख्यातः ॥१३॥संवत्सरं ब्रह्मचर्यं चरतो द्वादशरात्रं[त्रिरात्रमेकरात्रं] वा ॥१४॥ अथास्यै गृहान् विसृजेत् ॥१५॥ योक्त्रपाशं विपाय तौ संनिपातयेत् ॥ अपश्यंत्वातपसाचेकितानं तपसोजातंतपसोविभूतम् । इहप्रजामिहरयिंरराणः प्रजायस्वप्रजयापुत्रकाम ॥

सप्तर्षि इन नक्षत्रों को बहू को दिखावें सप्तर्षियों के बीचकी तारा जीवन्ती कहाती है ॥९॥ वह बहू जब ध्रुवादि को देखती हो तब वर (अच्युताध्रुवा०) इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥१०॥ फिर अगले दिन प्रातःकाल प्रजापति देवता के लिये दूध में [पु०२।खं०२सू०३०] में कहे अनुसार स्थालीपाक पका के उससे (प्रजापतयेस्वाहा) मन्त्र द्वारा प्रजापति के लिये तूष्णीं प्रधान होम करे ॥११॥ फिर शेष बचे घी में दही मिलाकर इस दही के साथ शेष बचे स्थालीपाक को (चक्रीवानडुहौ०) मन्त्र पढ़ के यजमान तीन बार खावे और शेष बचे को पत्नी बिन मन्त्र तीनवार खावे॥१२॥फिर उसी दिन दोपहर बाद मानव कल्पसूत्र १।१।२ में लिखे अनुसार पिण्ड पितृयज्ञ करे ॥१३॥ विवाह विधि हो जाने पर स्त्री पुरुष दोनों एक वर्ष, बारह दिन, तीन दिन, वा एक दिन कम से कम ब्रह्मचारी रहें अर्थात् मैथुन न करें खार लवण छोड़ के हविष्यान्न खावें पृथक् २ पृथिवी पर सोवें ॥१४॥इसी अवसर में घर के काम काज धन के लेन देन आदि का अधिकार पत्नी को देदेवे ॥१५॥ ब्रह्मचर्य की समाप्ति में [पु०१।खं०११सू०६] से पत्नी के कटि में बांधी मेखला को खोलकर [यह ब्रह्मचारिणी रहने का चिह्न था इस को नि-

अपश्यंत्वामनसादीध्यानां स्वायांतनूंऋत्वियेनाधमानाम् । उपमामुच्चायुवतिर्बभूयाः प्रजायस्वप्रजयापुत्रकामे ॥ प्रजापतिस्तन्वंमेजुषस्व त्वष्टादेवैःसहमानइन्द्रः । विश्वैर्देवैर्ऋतुभिःसंविदानः पुंसांबहूनांमातरौस्याव ॥ अहंगर्भमदधामोषधीष्वहंविश्वेषुभुवनेष्वन्तः । अहंप्रजाअजनयंपृथिव्या अहंजनिभ्योऽअपरीषुपुत्रान्॥इतिस्त्र्यादिव्यत्यासं जपति॥१६॥ करदिति भसदभिमृशति ॥ १७ ॥ जननीत्युपजननम् ॥१८॥ बृहदिति जातं प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥ एतेन धर्मेण ऋतावृतौ संनिपातयेत् ॥ २० ॥ इति चतुर्दशः खण्डः समाप्तः ॥

तृतीये गर्भमासेअरणी आहृत्य षष्ठेऽष्टमे वा। जयप्रभृतिभिर्हुत्वा पश्चादग्नेर्दर्भेष्वासीनायाः (पत्न्याः) सर्वान्प्रमुच्य केशान्नवनीतेनाभ्यज्य त्रिश्येतया शलल्या शमीशा-

काल के] निम्नरीति से दोनों समागम करें समागम से पहिले (अपश्यंत्वामप०) मन्त्र को पति को देखती हुई पत्नी पढ़े फिर (अपश्यंत्वामनसा०) मन्त्र को पत्नी की ओर देखता हुआ पति पढ़े फिर (प्रजापतिस्तन्वं०) मन्त्र को पत्नी पढ़े और (अहंगर्भमद०) मन्त्र को पति पढ़े॥१६॥फिर (करत्) ऐसा कह कर पुरुष पत्नी के उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श करे (जननी) ऐसा कह कर अपने उपस्थेन्द्रिय का स्पर्शकरे (बृहत्)ऐसा कहकर दोनों के संयोगान्त में गर्भाशय का स्पर्शकरे ॥१७।१८। १९॥ इसी रीति से प्रत्येक ऋतुकाल में दोनों समागम कियाकरें ॥२०॥ यह चौदवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भावार्थः—गर्भ स्थिति से तीसरे छठे वा आठ वें महीने में अरणी द्वारा अग्निमन्थन कर स्थापन करके आघाराज्यभागों के बाद (१ । ११ । २१) में कहा अनुमतिव्याहृति आदि पवित्र होमान्त करके (२ । १० । ८) के अनुसार अग्नि का प्रधान होम कर के जयाहोमादि करें अग्नि से पश्चिम में बिछाये दाभों पर बैठी पत्नी के शिर के सब केश खोलकर उन में मक्खन ल-

खया च सपलाशया पुनः पत्नीमग्निरदादिति सीमन्तं करोति ॥ १ ॥ इति पञ्चदशः खण्डः ॥

अष्टमे गर्भमासे जयप्रभृतिभिर्हुत्वा, फलैः स्नापयित्वा, या ओषधय इत्यनुवाकेनाहतेन वाससा प्रच्छाद्य गन्धपुष्पैरलङ्कृत्य फलानि कण्ठे वै संसृज्याऽग्निं प्रदक्षिणं कुर्यात् ॥ १ ॥ प्रजां मे नर्य पाहीति मन्त्रेणोपस्थानं कृत्वा गुणवतो ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥ २ ॥ फलानि दक्षिणां दद्यात् ॥ ३ ॥ ततः स्वस्त्ययनं च ॥ ४ ॥ यो गुरुस्तं महयेत् ॥ ५ ॥ इति षोडशः खण्डः ॥

पुत्रे जाते वरं ददाति ॥१॥ अरणिभ्यामग्निं मथित्वा तस्मिन्नायुष्यहोमाञ्जुहोति ॥ २ ॥ अग्नेरायुरसीत्यनुवाकेन

गाकर तीन जगह श्वेत सेही के कांटे को और पत्तों सहित शमी (छयोंकर) की डाली को एकत्र कर उससे (पुनः पत्नीमग्नि०) इत्यादि मन्त्र पढ़ मांग करे और पूर्ववत् वेनी बांधे ॥ १ ॥ यह पन्द्रहवां खण्ड समाप्त हुआ ।

गर्भ आठवें महिने का हो तब आघारादि सामान्य होमसहित जयाऽभ्यातानादि होम करके सब ओषधि फलादि से मिश्रित जलसे गर्भिणी को स्नान कराके (या ओषधयः०) इस अनुवाक को पढ के चीरेदार नयी साड़ी उढ़ा के सुगन्धित केशरादि पुष्पमाला और मणिरत्न सुवर्णादि के आभूषणों से सुशोभित करे और फलों की माला बना के कण्ठ में पहनाके अग्नि की प्रदक्षिणा करावे ॥ १ ॥ (प्रजां मे नर्य०) मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करके सदाचारी विद्वान् तीन आदि ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ २ ॥ दक्षिणा में फल देवे ॥ ३ ॥ पश्चात् स्वस्तिवाचन करावे ॥ ४ ॥ पुत्रोत्पन्न होने पर अपने गुरु का पूजन करे ॥ ५ ॥ यह सोलहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भावार्थः—यदि पुत्र उत्पन्न हो तो उक्त अपने गुरु को धन दक्षिणा देवे ॥ १ ॥ अरणि के द्वारा अग्निमन्थन करके उस अग्नि में आयुष्य होम की (अग्नेरायु०) इत्यादि २१ प्रधान आहुति घी से करे । इस से पूर्व आघारादि तथा पीछे अनुमति आदि की आहुति देवे ॥ २ । ३ ॥ पवित्रादि होम के अ-

प्रत्यृचं प्रतिपर्यायमेकविंशतिमाज्याहुतीर्जुहोति ॥ ३ ॥ आज्यशेषे दधिमध्वपो हिरण्यशकलेनोपहृत्य त्रिःप्राशापयति ॥ ४ ॥ अश्माभव,परशुर्भव, हिरण्यमस्तृतंभव । वेदोवैपुत्रनामासि,सजीवशरदः शतम् ॥ इति प्रादेशेनाध्यधि प्रतिमुखं प्रदक्षिणं सर्वतोऽभ्युद्दिशति ॥ ५ ॥ पलाशस्य मध्यमपर्णं प्रवेष्ट्य तेनास्य कर्णयोर्जपेत् । भूस्ते ददामीति दक्षिणे । भुवस्ते ददामीति सव्ये । स्वस्ते ददामीति दक्षिणे । भूर्भुवःस्वस्ते ददामीति सव्ये ॥ ६ ॥ इषं पिन्वोर्जं पिन्वेति स्तनौ प्रक्षाल्य प्रधापयेत् ॥ ७ ॥ इति सप्तदशः खण्डः ॥

दशम्यां राज्यां पुत्रस्य नाम दध्यात् । घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा । त्र्यक्षरं दान्तं कुमारीणाम्॥१॥

न्त में शेष बचे घी में दही शहद और जल को सुवर्ण के टुकड़े से मिला के अनामिका अंगुली से तीन वार बच्चे को चटावे ॥ ४ ॥ (अश्मा भव०) इत्यादि मन्त्र के पांच भागों को पढ़ता हुआ मुख की ओर मुख के समीप २ प्रदक्षिणक्रम से प्रादेश द्वारा संकेत करे ॥ ५ ॥ ढांक के पत्तों में से बीच के पत्ते को लपेटकर उस का एक छोर बच्चे के कान में एक अपने मुख में लगा के निम्न मन्त्र पढ़े (भूस्ते द०) दहिने (भुवस्ते०) बायें में (स्वस्ते०) दहिने में फिर (भूर्भुवः स्वस्ते०) बायें कान में जपे ॥ ६ ॥ फिर (इषंपिन्वो०) मन्त्र पढ़के पत्नी के दोनों स्तनों (कुचों) को धोकर बच्चे को पिलावे ॥ ७ ॥ यह सत्रहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भावार्थः—जात कर्म से लेकर दशवें दिन पुत्र का नाम धरे । कोई आचार्य दशमी रात्री व्यतीत होने पर ग्यारहवें दिन नाम रखना मानते हैं । वर्गों के तीसरे चौथे घोषवत् अक्षर जिस के आदि में यरलव अन्तस्थ अक्षर जिस के बीच में हों ऐसे दो वा चार अक्षर का नाम पुत्र का और तीन अक्षर का दकारान्त नाम कन्याओं का रक्खे ॥ १ ॥ उसी नाम से अभिवादन गुरु आदि

तेनाभिवादयितुं, त्यक्त्वा पितुर्नामधेयं, यशस्यं नामधेयं देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं, देवतायाश्च प्रत्यक्षं प्रतिषिद्धम् ॥२॥ स्नात्वा सहपुत्रोऽभ्युपैति ॥३॥ अथैनमभिमृशति—अग्नेष्ट्वा तेजसा सूर्यस्य वर्चसा विश्वेषां त्वा देवानां क्रतुनाभिमृशामीति प्रक्षालितपाणिर्नवनीतेनाभ्यज्याग्नौ प्रताप्य,ब्राह्मणाय प्रोच्याभिमृशेदिति श्रुतिः ॥ ४ ॥ वरं कर्त्रे ददाति ॥ ५ ॥ अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे । आ मा वै पुत्रनामासि सजीव शरदः शतम् ॥ इति प्रवासादेत्य पुत्रस्य मूर्द्धनि जपेत् ॥ ६ ॥ न मधुमांसे प्राश्नीयादापशुबन्धात् ॥ ७ ॥ संवत्सरे चाजाविभ्यामग्निधन्वन्तरी यजेत् ॥८॥ इत्यष्टादशः खण्डः॥

अथादित्यदर्शनम् ॥ १ ॥ चतुर्थे मासि पयसि स्थाली

को किया करे। पुत्र के नाम के साथ ही पीछे पिता का भी नाम लगाया जाय पर अभिवादन में पिता के नाम को छोड़ देवे। जिस तिथि वा नक्षत्र में जन्म हो उस के देवता सम्बन्धी वा नक्षत्र सम्बन्धी नाम कीर्त्ति के लिये अच्छे हैं। परन्तु देवता और पिता का साक्षात् नाम रखना मना है ॥ २ ॥ फिर पुत्र के सहित अपने पिता को अभिवादन करके अग्नि के सम्मुख बैठे ॥३॥ फिर धोये हुए हाथों में मक्खन लगा के अग्नि में तपा के और बच्चे का स्पर्श करने की ब्राह्मण से आज्ञा लेकर (अग्नेष्ट्वा०) मन्त्र पढ़के बच्चे का स्पर्श करे ॥४॥ जातकर्मादि कराने वाले आचार्य को दक्षिणा देवे ॥ ५ ॥ जब देशान्तर से आवे तब (अङ्गाद०) मन्त्र को पुत्र के शिर में मुख लगा के जपे ॥ ६॥ पशुबन्ध यज्ञ करने से पहिले शहद और मांस न खावे (उससे आगे भी खाने का विधि नहीं किन्तु पहिले न खाने का निषेध है) ॥ ७ ॥ पुत्र जन्म से लेकर एक वर्ष में बकरी और भेड़ के द्वारा अग्नि और धन्वन्तरि देवता का पूजन करे ॥ ८ ॥

यह अठारहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब इस उन्नीशवें खण्ड में विधि सहित सूर्य का दर्शन करना रूप निष्क्रमण संस्कार कहते हैं ॥ १॥ बालक चौथे महीने में हो तब दूध में स्थालीपाक

पाकं श्रपयित्वा तस्य जुहोति ॥ २॥ आदित्यः शुक्रउदगात्पुरस्तात्, हंसः शुचिषत्, यदेदेनमिति सूर्यस्य जुहोति ॥३॥ उदुत्यंजातवेदसमित्येतयोपस्थायादित्यस्याभिमुखं दर्शयेत् । नमस्ते अस्तुभगवन् शतरश्मे तमोनुद । जहिमेदेवदौर्भाग्यं सौभाग्येनमांसंयोजयस्व ॥ इति ॥ ४ ॥ अथ ब्राह्मणतर्पणम् ॥५॥ ऋषभो दक्षिणा॥६॥ इत्यूनविंशः खण्डः समाप्तः॥

अथान्नप्राशनम् ॥१॥ पञ्चमे षष्ठे वा मासि पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा, स्नातमलङ्कृतमहतेन वाससा प्रच्छाद्याऽन्नपतेऽन्नस्यनोदेहीति हुत्वा, हिरण्येन प्राशयेद्भ्वातपरिस्रुतइत्यृचा ॥ २ ॥ [रत्नसुवर्णोपस्कराण्यायुधानि दर्शयेत् ॥ ३ ॥ यदिच्छेत्तदुपसंगृह्णीयात् ॥ ४ ॥ ततो ब्रा-

बना कर उस का निम्न रीति से होम करे ॥२॥ तूष्णीं अग्नि का मन्थन स्थापन प्रज्वालन करके इसी अग्नि में दूध का स्थालीपाक बनाकर (आदित्यः० । हंसः शुचि० । यदेदेन०) इन तीन स्वाहान्त मन्त्रों से सूर्य देवता का होम आघारादि के पश्चात् करे ॥ ३ ॥ (उदुत्यं० मन्त्र से सूर्य का उपस्थान करके (नमस्तेऽअस्तु०) इत्यादि मन्त्र पढ़ के बच्चे को आदित्य की ओर मुख कर दर्शन करावे ॥ ४ ॥ इस के अनन्तर ब्राह्मण को भोजन करावे ॥ ५ ॥ और एक बैल दक्षिणा में देवे ॥ ६ ॥ यह उन्नीशवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब इस बीशवें खण्ड में अन्नप्राशन कहते हैं ॥ १ ॥ पांचवें व छठे महिने में दूध में स्थालीपाक बनाके [यदि हृष्ट पुष्ट बालक हो तो पांचवें महिने में अन्यथा छठे में करे] सर्वौषधी आदि युक्त जल से बालक को स्नान कराके और आभूषण पहनाके नया चौरेदार वस्त्र उढ़ा कर आघारादि के पश्चात् (अन्नपते०) मन्त्र से प्रधान होम स्थालीपाक से करके (भ्वात्परिस्रुत०) इस ऋचा को पढ़ कर सुवर्ण से बालकको स्थालीपाक खवावे ॥२॥ [रत्न और सुवर्ण जिन में लगा हो ऐसे हथियार बच्चे को दिखावे ॥३॥ जिस आयुध को आगे धारण कराना चाहता हो उस को बालक से स्पर्श करावे ॥ ४ ॥ इस के

ह्मणभोजनम् ॥५॥ वासो दक्षिणा ॥६॥] इति विंशः खण्डः॥

तृतीयस्य वर्षस्य भूयिष्ठे गते चूडाः कारयेत् । उदगयने ज्यौत्स्ने पुण्ये नक्षत्रेऽन्यत्र नवम्याः ॥१॥ जयप्रभृतिभिर्हुत्वा–उष्णेनवायुरुदकेनेद्यजमानस्यायुषा । सवितावरुणोदधद्यजमानायदाशुषे ॥इत्युष्णा अपोऽभिमन्त्रयते ॥२॥ अदितिःकेशान्वपत्वापउन्दन्तुजीवसे । धारयतुप्रजापतिः पुनःपुनःस्वस्तये ॥ इत्यभ्युन्दन्ति ॥ ३ ॥ ओषधेत्रायस्वैनमिति दक्षिणस्मिन्केशान्ते दर्भमन्तर्दधाति ॥ ४ ॥ स्वधितेमैनंहिंसीरिति क्षुरेणाभिनिदधाति ॥ ५ ॥ येनावपत्सविताक्षुरेण सोमस्यराज्ञोवरुणस्यकेशान् । तेनब्राह्मणोवपत्वायुष्मानयं जरदष्टिरस्तु ॥ येनपूषाबृहस्पतेरिन्द्रस्यचायुषेऽवपत् । तेनतेवपाम्यायुषे दीर्घायुत्वायजीवसे । येनभूय्श्चरात्ययं ज्योक्चपश्यतिसूर्यः । तेनतेवपाम्यायुषे सुश्लोक्यायस्वस्तये ॥ इति तिसृभिस्त्रिः प्रवपति ॥ ६ ॥ यत्क्षुरेण

बाद ब्राह्मणों को भोजन कराके दक्षिणा में वस्त्र देवे ॥५। ६॥] यह बीशवां खण्ड पूरा हुआ ॥

अब चूडाकर्म मुण्डन संस्कार दिखाते हैं। बालक के आयु का तीसरे वर्ष में अधिक भाग बीत जाने पर जब उत्तरायण शुक्ल पक्ष हो वा पुण्य नक्षत्र हो तब नवमी तिथि को छोड़ कर मुंडन करावे ॥ १ ॥ फिर आघाराज्यभागादि के बाद जयादिहोम करके (उष्णेनवायु०) मन्त्र पढ़ के गर्म जल का अभिमन्त्रण करे ॥२॥ फिर (अदितिः केशान्०) मन्त्र पढ़ के गर्म जल से बच्चेके बालों को भिगोवे ॥३॥ (ओषधेत्रा०) मन्त्र पढ़ के शिर के दहिने बालों के अन्त में बालों के बीच दाभ रक्खे ॥ ४ ॥ (स्वधितेमैनं०) मन्त्र पढ़ के दाभ सहित बालों पर छुरा रक्खे ॥५॥ फिर (येनावपत्०) इत्यादि तीन मन्त्र पढ़ २ के तीन वार कुश सहित बालों को काटे ॥ ६ ॥ फिर (यत्क्षुरेण०) मन्त्र पढ़ के

वर्त्तयतासुतेजसा वप्तर्वपसिकेशान् । शुन्धिशिरोमास्यायुः प्रमोषीः ॥ इति लौहायसं क्षुरं केशवापाय प्रयच्छति ॥७॥ मातेकेशाननुगाद्वर्चएतत्तथाधातादधातुते । तुभ्यमिन्द्रोवरुणोबृहस्पतिः सवितावर्चआदधुः ॥ इतिप्रवपतोऽनुमन्त्रयते ८ सुहृत्परिग्राहं हरितगोशकृत्पिण्डे समवचिनोति ॥ ९ ॥ उप्त्वायकेशान्वरुणस्यराज्ञो बृहस्पतिः सविता विष्णुरग्निः । तेभ्यो निधानं महतं न विन्दन्नन्तरा द्यावापृथिव्योरपस्युः ॥ इति प्रागुदीचो ह्रियमाणाननुमन्त्रयते ॥ १० ॥ अरिक्तेपतया श्लेपयेदिति श्रुतिः ॥११॥ वरं कर्त्रे ददाति। पक्षमगुडं तिलपिश्लं च केशवापाय ॥ १२ ॥ एतेन तु कल्पेन षोडशे वर्षे गोदानम् । अग्निं वाधेष्यमाणस्याग्निगोदानिको मैत्रायणिरिति श्रुतिः ॥ १३ ॥ अदितिः श्मश्रु वपत्वि-

लोहे के छुरे को हजामत करने वाले नाई को देदेवे ॥७॥ फिर (मातेकेशान्०) मन्त्र पढ़ता हुआ बाल बनाते नाई का अनुमन्त्रण करे (उसकी ओर देखे)॥८॥ नाई के बनाने से गिरते हुए बालों को सुहृद्भाव से ले २ कर गौ के हरे गोबर के पिण्ड पर धरता जावे ॥ ९ ॥ फिर (उप्त्वायकेशान्०) मन्त्र से पूर्व वा उत्तर को गोवरपिण्ड सहित ले जाते हुए केशों का अनुमन्त्रण करे ॥ १० ॥ उस बालों सहित गोवर के पिण्ड को धान्य जिन में भरा हो ऐसे पत्ती के हाथों से स्पर्श करावे ऐसा श्रुति में लिखा है ॥ ११ ॥ कर्म कराने वाले पुरोहित को गौ दक्षिणा में देवे । केशर गुड़ और कुटे हुए तिल नाई को देवे ॥ १२ ॥ इसी रीति से जन्म से सोलहवें वर्ष गोदान नाम केशान्त संस्कार करे अथवा वेदाध्ययन करता हुआ जब आवसथ्याग्नि का स्थापन विधिपूर्वक करे तब पहिले वा पीछे केशान्त संस्कार करे । क्योंकि श्रुति में लिखा है कि (अग्निगोदानिको मैत्रायणिः) अर्थात् महर्षि मैत्रायणि ने अग्निस्थापन के समय गोदान (केशान्त) संस्कार किया था ॥ १३ ॥ इसी खण्ड में मन्त्रों में आये (केशान्) के स्थान में केशान्त संस्कार में मन्त्र बोलते समय श्मश्रु-

त्यूहेन श्मश्रु प्रवपति शुन्धिमुखमिति च ॥ १४ ॥ इत्येक-विंशः खण्डः समाप्तः ॥

सप्तमे नवमे वोपायनम् ॥१॥ आगन्त्रासमगन्महि प्र-थममर्तिर्युयोतुनः । अरिष्टाःसंचरेमहि स्वस्तिचरतादिशः । स्वस्त्यागृहेभ्यः ॥ इत्युप्तकेशेन स्नातेनाक्तेनाभ्यक्ते-नालङ्कृतेन यज्ञोपवीतिना समेत्य जपति ॥ २ ॥ अथास्मै वासः प्रयच्छति—या अकृन्तन्याअतन्वंया आवन्या अ-वाहरन् । याश्च ग्नादेव्योऽन्तानभितोऽततनन्त । तास्त्वा देव्योजरसेसंव्ययन्त्वायुष्मन्निदंपरिधत्स्ववासः ॥ इत्यहतं वासः परिधाप्यान्वारभ्याघारावाज्यभागौ हुत्वाऽऽज्य शेषे दध्यानीय–दधिक्राव्णोअकारिषमिति दधि त्रिःप्रा-श्नाति ॥ ३ ॥ कोनामासीत्याह ॥ ४ ॥ नामधेये प्रोक्ते–

पद का और शिरः शब्द के स्थान में (मुखम्) का ऊह करना चाहिये ॥१४॥ यह इक्कीशवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भावार्थः—सातवें वा नवमें वर्ष में ब्राह्मणादि द्विज बालकों का उपनयन संस्कार करना चाहिये ॥ १ ॥ प्रथम पितादि घर के लोग बालक का क्षौर करा के स्नान करावें फिर आंखों में अञ्जन शिर आदि में मक्खन लगाके अंगूठी आदि आभूषण तथा बनाया हुआ यज्ञोपवीत पहनावें तब ऐसे बा-लक के समीप जाकर आचार्य (आगन्त्रासमग०) मन्त्र का जप करे ॥ २ ॥ फिर (या अकृन्तन्या०) इत्यादि मन्त्र पढ़ के चौरेदार नया वस्त्र बालक को (परिधत्स्व०) ऐसा कहके पहनावे । फिर बालक के अन्वारम्भ करने पर आघार तथा आज्यभाग होम करके होम के शेषघृत में से किंचित् पृथक् लेकर उस में दही मिलाकर (दधिक्राव्णो०) मन्त्र द्वारा तीन वार बालक को प्राशन करावे ॥३॥ फिर आचमन कर लेने पर आचार्य कहे (कोनामासि) तुम्हारा क्या नाम है ॥ ४ ॥ तब बालक अपना शर्मान्तादि नाम (अमुकशर्मा-

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसाविति हस्तं गृह्णन्नाम गृह्णाति । प्राङ्मुखस्य प्रत्यङ्मुख ऊर्ध्वस्तिष्ठन्नासीनस्य दक्षिणमुत्तानं दक्षिणेन नीचारिक्तमरिक्तेन-सविता ते हस्तमग्रहीदसावग्निराचार्यस्तव देवसवितरेष ते ब्रह्मचारी त्वं गोपाय स मामृतत्॥ कस्य ब्रह्मचार्यसि । प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि । कस्त्वा कमुपनयते । काय त्वा परिददामि । कस्मै त्वा परिददामि । भगाय त्वा परिददाम्यर्यम्णे त्वा परिददामि । सवित्रे त्वा परिददामि । सरस्वत्यै त्वा परिददामि । इन्द्राग्निभ्यां त्वा परिददामि । विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि । सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामीति परिददाति ॥ ५॥ ब्रह्मणो ग्रन्थिरसि स ते मा विस्रसदिति हृदयदेशमारभ्य जपति । प्राणानां ग्रन्थिरसीति प्राणदेशम् ॥६॥ ऋतस्य गोप्त्री तपसस्तरुत्री घ्नती

हृगस्मि भोः) कहे तब आचार्य (देवस्यत्वा०) इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ बालक का दहिना हाथ पकड़े और (असौ) पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नाम बोले । सो बालक के हाथ पकड़ने की रीति यह है कि शिष्य का मुख पूर्व को आचार्य का पश्चिम को हो शिष्य बैठा हो आचार्य खड़ा हो शिष्य का हाथ नीचा और खाली हो ऐसे शिष्य के दहिने हाथ को किसी मङ्गल बोधक वस्तु सहित अपने दहिने हाथ से आचार्य पकड़े और (सविताते०) इत्यादि मन्त्र पढ़े (कस्य ब्रह्म०) इत्यादि मन्त्रों में प्रजापति आदि उन २ देवताओं का ध्यान करता हुआ रक्षा के लिये ब्रह्मचारी को देवताओं को सौंपे ॥५॥ अपना दहिना हाथ ब्रह्मचारी के हृदय पर रख के (ब्रह्मणोग्रन्थि०) मन्त्र पढ़े तथा ब्रह्मचारी की नासिका के छिद्रों का स्पर्श करता हुआ (प्राणानां०) मन्त्र को आचार्य पढ़े ॥ ६ ॥ फिर ब्रह्मचारी (ऋतस्यगो०) इत्यादि मन्त्र को पढ़ता हुआ सात

रक्षः सहमाना अरातीः । सा नः समन्तमभिपर्य्येहि भद्रे धर्त्तारस्ते सुभगे मेखले मारिषाम ॥ इति मौञ्जीं पृथ्वीं त्रिगुणां मेखलामादत्ते ॥ ७ ॥ युवासुवासाइति मेखलां प्रदक्षिणांत्रिःपरि व्ययति॥८॥पुंसस्त्रीन्ग्रन्थीन्बध्नाति॥९॥ इयंदुरुक्तात्परिबाधमाना वर्णंपुराणंपुनतीमआगात् । प्राणापानाभ्यांबलमाभजन्ती शिवादेवीसुभगेमेखलेमारिषाम॥ इति तस्यांपरिवीतायां जपति।ममव्रतेतेहृदयं दधातुममचित्तमनुचित्तन्तेअस्तु । ममवाचमेकव्रतोजुषस्व बृहस्पतिष्ट्वानियुनक्तुमह्यम् ॥इति॥१०॥यज्ञियस्यवृक्षस्यदण्डंप्रदाय कृष्णाजिनं चादित्यमुपस्थापयति। अध्वनामध्वपतेश्रेष्ठस्यस्वस्तस्याध्वनःपारमशीय। तच्चक्षुर्देवहितपुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।पश्येमशरदःशतं जीवेमशरदःशतम् । शृणुयामशरदःशतं प्रब्रवामशरदःशतम् । अदीनाः स्याम शरदःशतं भूयश्चशरदःशतात् ॥ यामेधाऽप्सरःसु गन्धर्वेषु च यन्मनः । दैवीयामानुषी मेधा सा मामाविशतादिहैव ॥ इति ॥११॥ अभिदक्षिणमानीयाऽग्नेः

कोथों की तीन लड़ों वाली मोटी मेखला को हाथ में लेवे ॥ ७ ॥ फिर (युवासु०) मन्त्र पढ़ के उस मेखला को प्रदक्षिणक्रम से तीन वार अपने कटि भाग में लपेटे ॥ ८ ॥ पुरुष की मेखला में तीन गांठें लगावे वा वे तीन गांठें पुरुष चिह्नवाली हों स्त्रीसम्बन्धी न हों स्त्री की मेखला पूर्व विवाह में कह चुके हैं उस की गांठ अन्य प्रकार की होगी ॥९॥ मेखला धारण करलेने पर ब्रह्मचारी (इयं दुरुक्तात्०) मन्त्र पढ़े और (ममव्रते०) मन्त्र को आचार्य पढ़े ॥ १० ॥ फिर विल्व-बेल, पलाश-ढांक, आदि यज्ञिय वृक्ष का दण्ड और कृष्णमृग का चर्म ब्रह्मचारी को दे कर (अध्वनाम०) इत्यादि मन्त्रों को पढ़ता हुआ आचार्य ब्रह्मचारी से आदित्य देवता का उपस्थान करावे ॥ ११ ॥ अपने से दक्षिण अग्नि से पश्चिम में ब्रह्मचारी को खड़ा कर एक पत्थर की शिलापर ब्रह्मचारी का दहिना पग धरावे और साथ ही आचार्य (एह्यश्मानं०)

पश्चात्–एह्यश्मानमातिष्ठाश्मेव त्वं स्थिरो भव। कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ इति दक्षिणेन पादेनाश्मानमास्थापयति॥१२॥ पश्चादग्नेर्महदुपस्तीर्य सूपस्थलं कृत्वा प्राङासीनः प्रत्यङ्ङासीनायानुवाचयति गायत्रीं सावित्रीमपिह्येके त्रिष्टुभमपिह्येके जगतीमोमित्युक्त्वा व्याहृतिभिश्च ॥१३॥ तां त्रिरवगृह्णीयात्तां द्विरवकृत्य तां सकृत्समस्येत् । पादशोऽर्द्धर्चशः सर्वामन्तेन ॥१४॥ यत्तिसृणां प्रातरन्वाह यद्द्वयोर्यदेकस्याः संवत्सरे द्वादशाहे षडहे त्र्यहे वा तस्मात्सद्योऽनूच्येति श्रुतिः ॥१५॥ वरं कर्त्रे ददाति कांस्यं वसनं च ॥१६॥ यस्य तु मेधाकामः स्यात्पलाशं नवनीतेनाभ्यज्य तस्य छायायां वाचयेत्–सुश्रवः सुश्रवा असि । यथा त्वं सुश्रवः सुश्रवा असि

मन्त्र पढ़े ॥१२॥ इस के अनन्तर स्थापित अग्नि से पश्चिम में आचार्य के बैठने को ऊंची गद्दी लगा के पूर्व को मुख कर उच्चासन पर आचार्य बैठे उस के सामने पश्चिमाभिमुख नीचे आसनपर बैठे ब्रह्मचारी को प्रणव तथा व्याहृतियों सहित सविता देवता वाली (तत्सवितु०) इस गायत्री मन्त्र का तीनों वर्णों के ब्रह्मचारियोंको आचार्य उपदेश करे यह किन्हीं आचार्यों का मत है। और कोई कहते हैं कि पूर्व (पु०१खं०२सू०३) के लेखानुसार (आदेवो०)इस त्रिष्टुभ् सावित्री का क्षत्रिय को और (युञ्जते०) जगती सावित्री का वैश्य ब्रह्मचारी को उपदेश करे ॥१३॥ उस गायत्रीके तीन भाग कर के उपदेश करे । दोवार खण्ड २ करके तथा एक वार पूरे इकट्ठे मन्त्र का करे। प्रथम वार तीनों पाद पृथक् २ द्वितीय वार (धीमहि) तक एकभाग आगे दूसरा तृतीय वार में सब मन्त्र एक वार में कहलावे ॥१४॥ गायत्री सावित्री के उपदेशार्थ एक, दो, तीन, छः और बारह रात्री व्यतीत होने पर उपदेश करे इन विकल्पित पांच पक्षों में जिस दिन करे उस दिन प्रातःकालही करे परन्तु उपनयन संस्कारके समय तत्कालही उपदेश करना श्रुतिके अनुकूल उत्तम पक्ष है॥१५॥ उपनयन कराने वाले पुरोहितादि को धन वा गौ कांसे का पात्र और नया वस्त्र दक्षिणा में देवे ॥१६॥ आचार्य जिस ब्रह्मचारी का बुद्धिमान् होना चाहता हो उस को मक्खन जिस में लगाया गया

एवं मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु ॥ यथा त्वं देवानां वेदानां निधिपो असि । एवमहं मनुष्याणां वेदानां निधिपो भूयासम् ॥ इति अधीते ह्वा अयमषां वेदानामेकं द्वौ त्रीन्सर्वान्वेति यमेवं विद्वांसमुपनयतीतिश्रुतिः ॥१८॥ व्याख्यातं ब्रह्मचर्यम् ॥१९॥ अथ भैक्षं चरत मातरमेवाग्रे याश्चान्याः सुहृदो यावत्यो वा संनिहिताः स्युः ॥२०॥ आचार्याय भैक्षमुपकल्पयते । तेनानुज्ञातो भुञ्जीतेतिः श्रुति ॥२१॥ इति द्वाविंशः खण्डः ॥

अथ दीक्षाचातुर्हौत्रिकी संवत्सरम् ॥१॥ चतुर्होतृन्स्वकर्मणो जुहुयात् । सह षड्ढोत्रा सप्तहोतारम् ॥२॥ अन्ततो

हो ऐसे ढाक वृक्ष की छाया में (सुश्रवः०) इत्यादि मन्त्र कहलावे ॥१७॥ श्रुति में लिखा है कि उपनयन विधि को यथार्थ ठीक जानने वाला आचार्य जिस शिष्य का ठीक २ उपनयन करता है वह एक दो तीन वा सब वेदों को (मनु० अ०३।२) अवश्य पढ़ता है ॥१८॥ (पु०१।खं०१।२) में ब्रह्मचर्य का व्याख्यान कर चुके ॥१९॥ अब भिक्षा मांगने का विचार दिखाते हैं । ब्रह्मचारी प्रथम माता से ही भिक्षा मांगे (मनु०अ०२।५०) माता के अभाव में प्रेम रखने वाली मौसी आदि जो २ समीप हों उन २ से मांगे ॥२०॥ भिक्षा माग कर प्रथम आचार्य को समर्पण करे और जब गुरु आज्ञा देवें तब भोजन करे ॥ २१ ॥

यह बाईशवां खण्ड पूरा हुआ ॥

चातुर्हौत्रिकी दीक्षा यह कर्मका नाम है । ब्रह्मचारीके लिये जो नियम इस ग्रन्थ के आदि में कहे हैं वे अधिकांश दीक्षित के नियमों से मिलते हैं । यद्यपि श्रौतसूत्रों में दीक्षित के लिये पूरे २ नियम कहे गये हैं तथापि इसी खण्ड के ८ वें सूत्र से लेके कुछ नियम यहां भी कहे हैं । इस चातुर्हौत्रिकी दीक्षा को ब्रह्मचारी एक वर्ष तक करे ॥ १ ॥ वाचस्पति आदि देवों को चतुर्होतादि संज्ञा हैं । ब्रह्मचारी अपना कर्म करता हुआ वाचस्पति आदि चार होताओं के लिये दीक्षा के दिनों में आहुति दिया करे । और वाक् आदि छः होताओं के साथ सप्तहोतृक होम करे ॥ २ ॥ अन्त में ब्राह्मणादि दीक्षित को दुग्धादि भोजनार्थ

व्रतं प्रदायादितो द्वावनुवाकावनुवाचयेत् ॥३॥ एवमेवोद्दीक्षां जुहुयात् ॥ ४ ॥ अथ दीक्षाग्निकी द्वादशरात्रम् ॥५॥ युञ्जानः प्रथमंमनइत्यष्टौ हुत्वाऽऽकूतमग्निं प्रयुजं स्वाहेति षड् जुहोति । विश्वो देवस्य नेतुरिति सप्तमीम् ॥६॥ व्रतं प्रदायादितोऽष्टावनुवाकाननुवाचयेत् ॥ ७ ॥ त्रिषवणमुदकमाहरेत् त्रींस्त्रीन्कुम्भान् ॥ ८ ॥ एकेन वाससाऽनन्तर्हितायां भूमौ शयीत भस्मनि करीषे सिकतासु वा ॥ ९ ॥ नोदकमभ्यवेयात् ॥ १० ॥ समाप्ते घृतवताऽपूपेनेष्ट्वा वात्सप्रं वाचयेत् ॥ ११ ॥ ततो घृतवद्भिरपूपैर्ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥ १२ ॥ एवमेवोद्दीक्षां जुहुयात् ॥ १३ ॥ अथ दीक्षाश्वमेधिकी द्वाद-

नियत वस्तु देकर वेद के आरम्भ के दो अनुवाकों का अनुवाचन करावे ॥ ३ ॥ इसी प्रकार उद्दीक्षा का भी होम करे ॥ ४ ॥ अब आग्निकी दीक्षा का व्रत बारह दिन का होता है सो भी दिखाते हैं ॥ ५ ॥ प्रथम आघार और आज्यभागों के पश्चात् (युञ्जानः प्र०) इत्यादि आठ आहुति करके (आकूतमग्निं प्र०) इत्यादि छः आहुति करे पीछे (विश्वोदेवस्य०) मन्त्रसे सातवीं आहुति करे ॥ ६ ॥ फिर भोजनार्थ दुग्धादि देकर अग्निकाण्ड के आदि से आठ अनुवाकों का अनुवाचन करावे । ब्रह्मचारी ऐसा नित्य २ बारहों दिन करे ॥७॥ और कुछ विशेष नियम ये हैं कि सायं प्रातः और मध्याह्न में तीनों समय तीन २ घड़ा भर २ जलाशयसे जल लाया करे ॥८॥ जिस पर कुछ पलाल आदि भी न बिछा हो ऐसी शून्य भूमि पर अथवा भस्म बिछी हो वा कण्डों का चूरा बिछा हो अथवा वालू बिछायी हो उस पर एक वस्त्र केवल लंगोटी वा धोती पहन कर सोया करे ॥ ९ ॥ दीक्षा के दिनों में जल में घुस कर स्नान न करे और अन्य प्रकार से भी स्नान न करे ॥ १० ॥ बारह दिन का व्रत समाप्त होने पर मालपुआ द्वारा प्रधान देवता अग्नि के लिये होम करके वत्सप्री देवता वाले अनुवाक का जप करे ॥ ११ ॥ तदनन्तर मालपुआ द्वारा तीन ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ १२ ॥ इसी प्रकार उद्दीक्षा का भी होमकरे ॥ १३ ॥ अब बारह दिन का आश्वमेधिकी दीक्षा का व्रत

शरात्रम् ॥ १४ ॥ वैतसमिध्ममुपसमाधाय नवमेनानुवाकेन हुत्वा षष्ठेनोपस्थाप्य व्रतं प्रदायादित एकविंशत्यनुवाका-ननुवाचयेत् ॥ १५॥ त्रिषवणमश्वस्य घासमाहरेत् । त्रींस्त्री-न्पूलान् ॥ १६ ॥ एकेन वाससाऽनन्तर्हितायां भूमौ शयीत भस्मनि करीषे सिकतासु वा ॥१७॥ या ओषधयः । समन्या यन्ति । पुनन्तु मा पितरः । अग्नेर्मन्वइति चतुर्भिरनुवा कैरपोऽभिमन्त्र्य स्नानमाचरेत् ॥१८॥ एवमेवोद्दीक्षां जुहु-यात् ॥ १९ ॥ शादंदद्भिरिति चतुर्दशानुवाकाननुवाचयेत ॥ ॥ २० ॥ रहस्यमध्येष्यमाणः प्रवर्ग्यम् ॥ २१ ॥ आदेशे यथा

कहते हैं। जैसे आग्निकी दीक्षा ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिये ही नियत है वैसे ही यह आश्वमेधिकी दीक्षा क्षत्रिय ब्रह्मचारी के लिये ही है अन्य के लिये नहीं है ॥१४ ॥ वेतनामक वृक्ष की समिधाओं से अग्नि को प्रज्वलित करके नववें अनुवा-क से होम और छठे अनुवाक से देवता का उपस्थान करे । तदनन्तर भोजनार्थ नियत यवागू दीक्षित को यथायोग्य देकर आदि से इक्कीश अनुवाकों का अनुवाचन करे ॥ १५ ॥ सायं प्रातः और मध्याह्न तीनों काल में तीन २ पूना घास घोड़े के लिये लावे । अर्थात् इस आश्वमेधिकी दीक्षा से क्षत्रिय ब्रह्मचा-री अच्छे प्रकार देवबुद्धि से घोड़े की सेवा भी अन्य अपने नियम पालने के तुल्य किया करे ॥ १६ ॥ जिस पर कुछ न बिछा हो ऐसी खाली भूमि पर वा भस्म बिछा कर वा कंडों का चूरा बिछा के अथवा बालू बिछा के उस पर एक वस्त्र धारण किये सोया करे ॥ १७ ॥ (या ओषधयः०) इत्यादि चार अनुवाकों से जल का अभिमन्त्रण कर के नित्य २ स्नान किया करे ॥ १८ ॥ इसी प्रकार उद्दीक्षा का भी होम करे ॥ १९ ॥ (शादंदद्भिः०)इत्यादि चौदह अनुवाकों का अनुवाचन करावे ॥ २० ॥ रहस्य नाम वेद के उपनिषद् भाग को पढ़ना चाहु-ता हो तो मानव श्रौत सूत्रादि में लिखे अनुसार ब्रह्मचारी प्रवर्ग्य संभरण क-र्म के प्रतिपादक मन्त्र ब्राह्मण का प्रथम अध्ययन करे ॥ २१ ॥ यदि दीक्षा ले

पुरस्ताद्ध व्याख्यातम् ॥ २२ ॥ आदितः पञ्चविंशत्यनु-
वाकाननुवाचयेत् ॥ २३ ॥ त्रैविद्यकमुपनयनेन व्याख्यातम्
॥ २४ ॥ आदितस्त्रीननुवाकाननुवाचयेत् ॥ २५ ॥ व्या-
ख्यातानि व्रतानि व्याख्यातानि व्रतानि ॥ २६ ॥ उदुत्तमं
वरुणपाशमिति मेखलामुन्मुञ्चति ॥ २७ ॥ इति मैत्रायणी-
यमानवगृह्ये त्रयोविंशः खण्डः प्रथमः पुरुषश्च समाप्तः॥

कर वेदान्त पढ़ना चाहता हो तो पु० १ खं० २१ में लिखे चूडाकर्म विधि के अनुसार क्षौर कराके पढ़े ॥ २३ ॥ उपनयन संस्कार प्रायः साङ्ग एक वेद के पढ़ने को होता है क्योंकि साङ्गोपाङ्ग सब वेदों का पढ़ लेना काल और श्रम अधिक लगने से सब का काम नहीं है। और यदि तीनों वेद पढ़ने के व्रत का कोई संकल्प करे तो उस का भी उपनयन के तुल्य व्याख्यान जानो ॥ २४ ॥ फिर इस त्रैवेदिक व्रत में आदि से लेकर तीन अनुवाकों का अनुवाचन करे ॥ २५ ॥ इस प्रकरण में मानवगृह्य सूत्र का अभिप्राय यह है कि चातुर्हौत्रिकी दीक्षा में उन दिव्य होताओं का होमादि द्वारा पूजन तथा चार, छः और सात होताओं से होने वाले सप्तहौत्रादि विषयक मन्त्र ब्राह्मण और कल्प ग्रन्थों का विशेष कर उस दीक्षा के समय अध्ययन करे। तथा आग्निकी दीक्षा में अग्निदेव सम्बन्धी मन्त्र ब्राह्मण कल्पों को पढ़े और आश्वमेधिकी दीक्षा में क्षत्रिय ब्रह्मचारी अश्वमेध सम्बन्धी मन्त्र ब्राह्मण कल्पों को पढ़े। ब्रह्मचारी के व्रतों का व्याख्यान ग्रन्थ के आरम्भ में और इसी कण्डिका के नवमादि सूत्रों में कर चुके हैं ॥ २६ ॥ (उदुत्तमं०) मन्त्र पढ़ के ब्रह्मचारी मेखला उतारे ॥ २७ ॥ (अनुमान होता है कि पूर्वार्द्ध समाप्ति का चिह्न २६ वें सूत्र में है इस कारण यह सत्ताईशवां सूत्र समावर्त्तन संस्कार में होना चाहिये) ॥

यह मैत्रायणीय मानवगृह्यसूत्र का तेईशवां खण्ड तथा प्रथम पुरुष समाप्त हुआ ॥

इतिश्रीमानवगृह्यसूत्रस्य भीमसेनशर्मनिर्मितायां
नागरीभाषावृत्तौ प्रथमपुरुषः समाप्तः ॥

अथ द्वितीयपुरुषारम्भः

औद्वाहिकं प्रेतपिता शालाग्निं कुर्वीत ॥ १ ॥ अन्यत्र ततः प्रेते पितरि प्रज्वलयन्तोऽग्निं जागरयेयुः पर्वणि ज्यौत्स्ने पुण्ये नक्षत्रेऽन्यत्र नवम्याः ॥ २ ॥ स्नातः शुचिरहतवासाः ॥ ३ ॥ वाग्यतावरणिपाणी जागृतः ॥ ४ ॥ अवकाशेऽक्षतान्यवान् पिष्ट्वा मन्थमायौस्यनालम्बमिक्षुशलाकया बहुलम् ॥ ५ ॥ हिरण्यपाणिं सवितारं वायुमिन्द्रं प्रजापतिम् । विश्वान्देवानङ्गिरसो हवामहे । अमुं क्रव्या-

---

भावार्थः-जिस का पिता मर गया हो वह विवाह सम्बन्धी शालाग्नि नाम आवसथ्याग्नि को विधिपूर्वक स्थापित करे। माता पिता जीवित रहें तब तक उन की सेवा करे (मनु० अ० २ । २३५ । जब तक माता पिता जीवें तब तक अन्य कुछ भी धर्म उन की सेवा का बाधक न करे) ॥ १ ॥ यदि पिता ने स्वयं पुत्र को भाग देकर अपने से पृथक् कर दिया हो तो पिता के जीवित रहते हुए भी पुत्रों को अग्निस्थापन कर्म का अधिकार है। और यदि पुत्रों से अन्यत्र देशान्तर में पिता मर जावे तब दोनों दशा में अमावास्या पौर्णमासी पर्व तिथि में अथवा शुक्ल पक्ष में नवमी तिथि को छोड़ के जिस दिन पुण्य नक्षत्र हो उसी दिन प्रज्वलित करते हुए विधिपूर्वक अग्नि को स्थापित कर मरण पर्यन्त जागृत सचेत रक्खें ॥ २ ॥ प्रथम अग्न्याधान का अङ्ग रूप स्नान करके दोनों पति पत्नी चौरेदार नये दो २ वस्त्र धारण करें ॥ ३ ॥ अग्नि स्थापन से पहिली रातको उत्तरारणि को पति और अधरारणि को पत्नी हाथ में ले मौन हो कर जागरण करें ॥ ४ ॥ अगले दिन उषःकाल से पहिले भूसी सहित सजे जौ पीस कर पात्र में न लगती हुई ईख की सलाई से बहुत से सत्तू घोले ॥ ५ ॥ (हिरण्यपाणिं०) मन्त्र पढ़ के घोले हुए जौ के आटा को अरणी से निकाले अग्नि पर सेचन करे जिस से पहिला अ-

दं शमयन्त्वग्निम् ॥ इति मन्थेनाग्निमवसिञ्चति ॥ ६ ॥
सोमोराजाविभजतूभाग्निर्विभाजयन् । इहैवास्तुहव्यवाह-
नोग्निः क्रव्यादं नुदस्व ॥ इति कटे कृतायां वाग्निं समारो
प्य प्रहिणोति ॥ ७ ॥ क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमिदूरं । यमरा-
ज्यंगच्छतुरिप्रवाहः । इहैवायमितरोजातवेदा देवेभ्योहव्या-
वहतुप्रजानन् ॥ इत्यग्निमादाय दक्षिणाप्रत्यग् घरन्ति ॥८॥
सहाधिकरणैर्यन्ति ॥ ९ ॥ स्वकृतइरिणे-सीसेमलिम्लुचामहे
शिरोमिमुपबर्हणे । अव्यामसितायां मृष्ट्वाऽस्तंप्रेतसुदानवः॥
इति सीसमुपधाने न्यस्याध्यधि ॥ १० ॥ धाम्नोधाम्नइति
तिसृभिः परोगोष्ठं मार्जयन्ते ॥ ११ ॥ अनपेक्षमाणाः प्रत्या-
यन्ति ॥ १२ ॥ नलैर्वेतसशाखया वा पदानि लोपयन्ते-मृ-
त्योःपदानिलोपयन्ते यदेतद् द्राघीयआयुःप्रतिरंदधानाः ।
आप्यायमानाःप्रजयाधनेन शुद्धाःपूताभवन्तुयज्ञियासः॥१३॥
अनड्वाहंप्लवमन्वारभध्वं येनावेपत्सरमारपन्ती। इति॥१४॥

ग्नि बुत जावे ॥ ६ ॥ अथवा नयी बनायी हुई चटाई पर पहिले अग्नि को धरके अलग ले जावे ॥ ७ ॥ (क्रव्यादमग्निं०) मन्त्र पढते हुए पहिले अग्नि को नैर्ऋत्य दिशा में कुण्डों सहित ले जावें ॥ ८ । ९ ॥ फिर जंगल में स्वयं बनायी चटायी पर शिरो भाग में (सीसे मलिम्लु०) मन्त्र पढ़ के सीसा धर कर उस के समीप २ लाये हुए कुण्डों सहित अग्नि को स्थापन कर देवे ॥१०॥ फिर अग्निस्थान से पृथक् (धाम्नो धाम्न०) इत्यादि तीन मन्त्रों से सब लोग अपने पर मार्जन करें ॥ ११ ॥ फिर पीछे को न देखते हुए घर को लौटें ॥ १२ ॥ और लौटते हुए नरसल तृणों की कूंची से वा बेंत की डाली से पृथिवी में चलने से हुए अपने पगों के चिह्नों को (मृत्योः पदानि०) मन्त्र पढ़ के बिगाड़ते चले आवें ॥ १३ ॥ क्रव्याद् नाम मुर्दा जलाने वाले अग्नि को

अग्न्यायतनमुद्धत्यावोक्ष्याग्न्याधेयिक्यान्पार्थिवान्संभारान्निवपत्यूषसिकतवर्जम् ॥ १५ ॥ अरणिभ्यामग्निं मथित्वा हिरण्यशकलं च न्युप्य प्रागुदयादुपस्थकृतो–भूरिति ज्वलन्तमादधाति ॥ १६ ॥ गौर्वासः कांस्यं च दक्षिणा ॥ १७ ॥

इति प्रथमः खण्डः समाप्तः ॥

प्रागुदञ्चं लक्षणमुद्धत्यावोक्ष्य, स्थण्डिलं गोमयेनोपलिप्य मण्डलं चतुरस्रं वाग्निं निर्मथ्याभिमुखं प्रणयेत् ॥१॥ दर्भाणां पवित्रे मन्त्रवदुत्पाद्याग्नेयं स्थालीपाकं श्रपयति ॥ २ ॥ पवित्रान्तर्हितेऽप आनीय तण्डुलानोप्य मेक्षणेन

दूर जंगल में छोड़ कर लौटे हुए लोग (अनड्वाहं) मन्त्र पढ़ के बैलका स्पर्श करें ॥ १४ ॥ फिर से बनाये अग्निस्थापन के कुण्ड में किंचित् रेखा करने से उठी मट्टी को फंक के जल सेचन करके ऊपर की मट्टी और वालू को छोड़ कर सुअर की खोदी चोटी के बिल को और मूषे की खोदी मट्टी तथा कंकड़ी और जल इन अग्न्याधान सम्बन्धी पार्थिव पदार्थों को अग्नि के स्थापन के कुण्ड में नीचे धरे ॥ १५ ॥ फिर सब के ऊपर सुवर्ण का टुकड़ा कुण्ड में धर के उस पर अरणियों द्वारा मथ के निकाले प्रज्वलित अग्नि को सूर्योदय से पहिले पद्मासन से बैठा हुआ (भूः) ऐसा पढ़के कुण्ड में स्थापित करे ॥ १६ ॥ उस समय गौ वस्त्र और कांसे का पात्र अध्वर्यु को दक्षिणा में देवे ॥ १७ ॥

यह प्रथम खण्ड समाप्त हुआ ॥

फिर यज्ञ शाला में कुण्ड से पृथक् पूर्व को पांच और उत्तर को एक रेखा करके वहां से किंचित् मट्टी फेंक जल सेचन करके गोलाकार वा चौकोण स्थण्डिल वेदि को गोबर से लीप कर अग्नि मन्थन करके सम्मुख रक्खे ॥ १ ॥ दाभों के दो प्रादेश मात्र पवित्रों को तीन दाभों से (वैष्णावेस्थः) मन्त्र द्वारा छेदन करके अग्नि देवता के लिये स्थालीपाक पकावे ॥ २ ॥ पवित्र जिस पर धरें हों ऐसे चरुपात्र में जल लाकर उस में चावल गिरा के कुण्डस्थ अग्नि पर धर कर करछी स्थानी मेक्षण नामक यज्ञ पात्र से प्रदक्षिण क्रम से चावल

प्रदक्षिणं पर्यायुवन् जोषतण्डुलं श्रपयति ॥३॥ घृतेनानुत्पूतेन नवनीतेन वोत्पूतेन शृतमभिघार्योत्तरत उद्वासयति ॥४॥ इमंस्तोममर्हतइत्यग्निं परिसमुह्य पर्युक्ष्य परिस्तीर्य पश्चादग्नेरेकवृर्द्धिः स्तृणाति ॥५॥ उदक्प्राक्तूलान्दर्भानप्रकृष्य दक्षिणांस्तथोत्तरानग्रेणाग्निं दक्षिणैरुत्तरानवस्तृणाति ॥६॥ दक्षिणतोऽग्नेर्ब्रह्मणे संस्तृणात्यपरं यजमानाय,पश्चाद्वै पत्न्यै ॥७॥ उत्तरतः संस्तीर्णे पवित्रे स्रुक्स्रुवावाज्यस्थालीं प्रक्षाल्य संस्तीर्णे द्वे द्वे प्रयुनक्ति ॥८॥ तूष्णींदक्षिणत आज्यं निरुप्य मन्त्रवत्पर्यग्निं कृत्वा तूष्णींस्रुक्स्रुवौ संमृज्याऽदब्धेनत्वाचक्षुषावेक्षइति पत्न्याज्यमवेक्षते ॥ ९ ॥ तूष्णीमधिश्रित्योपाधि

और जल को मिलाता हुआ किंचित् पकावे सम्यक् गलने न पावें अर्थात् अधपके हों तक ॥ ३॥ जिस का उत्पवन संस्कार न किया हो ऐसे घी से वा उत्पवन किये मक्खन से स्रुवा द्वारा चरु का अभिघारण करके अग्नि से उत्तर में उतार कर धरे ॥ ४ ॥ फिर (इमंस्तोममर्हत०) इस मन्त्र से अग्नि के सब ओर झाड़ के सब ओर जल सेचन और सब ओर कुशों से परिस्तरण करके अग्नि से पश्चिम में एक पर्त पूर्व को अग्रभाग करके एक मूठा कुश बिछावे ॥ ५॥ अग्नि के सब ओर कुश बिछाने की रीति यह है कि अग्निकुण्ड से उत्तर और दक्षिण में पूर्व को अग्रभाग करके तथा पूर्व पश्चिम में उत्तर को अग्रभाग करके बिछावे ॥६॥ अग्नि से दक्षिण में ब्रह्मा के लिये और ब्रह्मा से पश्चिम में यजमान के लिये और यजमान से दक्षिणपश्चिम को ओर पत्नी के लिये उन २ के आसन पर कुश बिछावे ॥७॥ अग्नि से उत्तर में बिछाये कुशों पर दो पवित्र स्रुक् स्रुव और आज्यस्थाली को प्रक्षालन करके बिछे कुशों पर दो २ पात्र धरे ॥ ८ ॥ अग्नि से दक्षिण में तूष्णीं बिना मन्त्र आज्यस्थाली में घृतपात्र से घी गिराके सूखे कुश जला कर घी के सब ओर मन्त्र पूर्वक फिराकर संमार्जन कुशों द्वारा तूष्णीं बिना मन्त्र स्रुक् और स्रुवा का संमार्जन करे और (अदब्धेनत्वा०) मन्त्र पढ़ के पत्नी घी को देखे ॥९॥ फिर तूष्णीं बिना मन्त्र पढ़े अध्वर्यु आज्य-

श्रित्य पश्चादग्नेरुपसाद्य मन्त्रवदुत्पूयावेक्षते ॥१०॥ तेजो-ऽसीत्याज्यं यजमानोऽवेक्षते ॥ ११ ॥ आज्यस्थाल्यां स्रुवं निधायाग्रेण स्थालीपाकमन्वायातयत्यपरेण मेक्षणम् ॥१२॥ तूष्णीं प्राञ्चमिध्ममुपसमाधाय,ब्रह्माणमामन्त्र्य ओंजुहुधीत्युक्ते,दक्षिणेन हस्तेनान्तरेण जानुनी प्राङासीन आघारौ जुहोति । प्राजापत्यमुत्तरार्द्धे प्राञ्चं मनसा,ऐन्द्रं दक्षिणार्द्धे प्राञ्चमेव ॥ १३ ॥ अथाज्यभागौ जुहोति । आग्नेयमुत्तरार्द्धे सौम्यं दक्षिणार्द्धे । समावनक्ष्णौ ॥१४॥ युक्तोवह । यदाकूतमिति द्वाभ्यामग्निं योजयित्वा । नक्षत्रमिष्ट्वानक्षत्रदेवतां यजेत्तिथिं तिथिदेवतामृतुमृतुदेवतां च ॥ १५ ॥ उपस्तीर्याप उपस्पृश्य

स्थाली को अग्नि पर रखके तपा के उतारले अग्नि से पश्चिम में आज्यस्थाली को रखके (विष्णोर्मनमा०) मन्त्रपूर्वक पवित्रों द्वारा उत्पवन करके घी को देखे ॥ १० ॥ फिर (तेजोऽसि०) मन्त्र पढ़के यजमान आज्य को देखे ॥११॥ फिर आज्यस्थाली में स्रुवा को धरके स्थालीपाक से आगे पूर्व में स्रुवा-सहित आज्यस्थाली को और उस से पश्चिम में मेक्षण को उत्तराग्रधरे ॥ १२ ॥ तदनन्तरतूष्णीं विना मन्त्र पढ़े अग्नि पर पूर्व को अग्रभाग कर २ समिधा धरके (ब्रह्मन्होष्यामि) ऐसा कहके ब्रह्मा से आज्ञा मांगे ब्रह्मा के (ओंजुहुधि) कहने पर पूर्वाभिमुख बैठा दोनों घोंटू (जानु) के बीच में हाथ करके द-हिने हाथ से निम्नरीति से प्रथम आघार की दो आहुति करे प्रजापति का मन से ध्यान करता हुआ प्रजापति देवता के लिये अग्नि कुण्ड के उत्तरार्द्ध में पूर्व को झुकती हुई पहिली आघाराहुति स्रुवा द्वारा छोड़े । और इन्द्र दे-वता के लिये अग्नि कुण्ड के दक्षिणार्द्ध में पूर्वको झुकती दूसरी आघाराहुति स्रुवासे छोड़े ॥ १३ ॥ अथ आज्यभाग की दो आहुति निम्न लि-खित रीति से करे । अग्नि देवता के लिये कुण्ड के उत्तरार्द्ध में और सोम देवता के लिये कुण्ड के दक्षिणार्द्ध में कुटिलता रहित सरल स्वभाव से दोनों आहुति स्रुवा में घी भर २ के छोड़ें ॥ १४ ॥ तदनन्तर (युक्तोवह० । यदाकू

मेक्षणेन स्थालीपाकस्यावद्यति मध्यात् (प्रथमं) पूर्वार्द्धाद् द्वितीयम्। पश्चार्द्धात्तृतीयं यदि पञ्चावदानस्य ॥१६॥ अवत्त मभिघार्य स्थालीपाकं प्रत्यभिघारयति॥१७॥ अग्नयेस्वाहेति मध्ये जुहोति ॥१८॥ यो देवानामसीति रौद्रस्य ॥१९॥ जयान्हुत्वाऽऽज्यस्य स्विष्टकृते समवद्यत्युत्तरार्द्धात्सकृद्द्विमात्रम्। द्विर्वा यदि पञ्चावदानस्य॥२०॥ अवत्तं द्विरभिघार्य नात ऊर्ध्वं स्थालीपाकं प्रत्यभिघारयति॥२१॥ अग्नयेस्विष्टकृतेस्वाहेत्य-

---

तं०) इन दो मन्त्रों से अग्नि देवता का ध्यान करे अर्थात् अग्नि को सर्वरूप कर्म कर्त्ता क्रियादि रूप से देखे। फिर उस होम के दिन जो नक्षत्र जो तिथि और जो ऋतु हो तथा उन २ नक्षत्र तिथि और ऋतु के जो २ देवता हों उन सब के नाम से छः आहुति करे ॥१५॥ये दश आहुति ,घीसे करके प्रथम स्रुवा से थोड़ा घी स्रुच् में उपस्तार रूप गिरा के दहिने हाथ से जलस्पर्श कर मेक्षणद्वारा चरु के बीच से एक आहुति भाग लेके स्रुच् में धरे और चरु के पूर्वार्द्ध से मेक्षण द्वारा आहुति का दूसरा भाग ले यदि पांच प्रवरों वाला यजमान हो तो चरु के पश्चिमार्द्ध से तीसरा अवदान लेवे ॥१६॥ फिर चरु पात्र में जहां २ से आहुति भाग लिये हों वहां २ स्रुवा से घी छोड़ के स्रुच् में धरे आहुति भागों के ऊपर एक स्रुवा घीका प्रत्यभिघारण करे ॥१७॥ फिर (अग्नयेस्वाहा) मन्त्र से स्रुच् के चतुरवत्त वा पञ्चावत्त का होम करे ॥ १८ ॥ और (यो देवानां०) मन्त्र से रुद्र देवता के लिये चतुरवत्त वा पंचावत्त का प्रथमाहुति के तुल्य होम करे ॥ १९ ॥ इस प्रकार प्रधान होम की दो आहुति स्थालीपाक से करके तथा घी से जया होम की १३ आहुति करके स्रुच् में उपस्तार करके स्विष्टकृत् के लिये चरु के उत्तरभाग से एक ही बार में आहुति के दो भाग [एक अवदान अंगुष्ठ पर्वमात्र प्रमाण का होता है] लेवे यदि यजमान पंचावत्ती हो तो तीन अवदान के बराबर एक साथ लेवे ॥ २० ॥ फिर स्रुच् में ऊपर से अभिघारण करके चरु पात्र में जहां से अवदान लिया है उस पर स्रुवा भर के घी छोड़े पर इस से आगे चरु का अभिघारण न करे ॥ २१ ॥ फिर उत्तर पूर्व ईशान कोण में अन्य आहुतियों से न मिलती हुई

संसक्तमुत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे जुहोति ॥२२॥ मेक्षणं दर्भांश्चाधायानुमतिभ्यां व्याहृतिभिश्च । त्वंनोअग्ने। सत्वंनोअग्ने । अयाश्चाऽग्नेऽसीत्येताभिर्जुहुयात् ॥ २३ ॥ वितेमुञ्चामिरशनांविरश्मीनिति च हुत्वा पवित्रेऽनुप्रहृत्याज्येनाभिजुहोति ॥२४॥ एधोऽस्येधिषीमहीति समिधमादधाति । समिदसिसमेधिषीमहीति द्वितीयाम् ॥ २५ ॥ आपोऽअद्यान्वचारिषमित्युपतिष्ठते ॥ २६ ॥ आपोहिष्ठीयाभिर्मार्जयते ॥ २७ ॥ पूर्णपात्रं दक्षिणा ॥ २८ ॥ बर्हिरनुप्रहरति ॥ २९॥ एतेन स्थालीपाकेन स्थालीपाकाः सर्वत्र व्याख्याताः ॥३०॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

अग्नयेस्वाहेति सायं जुहोति प्रजापतयइति द्वितीयाम् ॥१॥ सूर्यायस्वाहेति प्रातः । प्रजापतयइति द्वितीयाम्॥२॥

(अग्नये स्विष्ट०) मन्त्र से स्विष्टकृत् आहुति देवे ॥ २२ ॥ पश्चात् मेक्षण और ऊपरी दाभों को अग्नि में छोड़ कर अनुमति दो देवताओं के लिये (अन्वद्यनोऽनुमति०) इत्यादि दो मन्त्रों से तीन व्याहृतियों से तथा (त्वंनो अग्ने०) इत्यादि चार मन्त्रों से घी की आहुति दे के पवित्रों का होम कर देवे ॥२३।२४॥ फिर (एधोऽस्ये०) मन्त्र से एक तथा (समिदसि०) से दूसरी समिधा घी में डुबो के चढ़ावे ॥ २५ ॥ फिर (आपोऽअ०) मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करे ॥२६॥ तदनन्तर (आपोहिष्ठा०) इत्यादि तीन ऋचाओं से मार्जन करे ॥२७॥ दोसौ छप्पन २५६ मुट्ठी भर चावल का पूर्ण पात्र दक्षिणा में देवे ॥ २८ ॥ पश्चात् वेदि के सब ओर बिछाये तथा अन्य कुशों का अग्नि में होम करे ॥ २९ ॥ इसी प्रकार सर्वत्र स्थालीपाकों का विधान जानो ॥ ३० ॥

यह दूसरा खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब नित्य प्रति सायं प्रातःकाल का स्मार्त्त अग्निहोत्र दिखाते हैं (अग्नये स्वाहा) मन्त्र से एक और (प्रजापतयेस्वा०) मन्त्र से तूष्णीं दूसरी आहुति सायंकाल वैवाहिक अग्नि में दिया करे ॥ १ ॥ (सूर्याय० । प्रजापतये०)

अग्नीषोमीयः स्थालीपाकः पौर्णमास्यामैन्द्राग्नोऽमावास्यायाम् । उभयत्र चाग्नेयः । आगन्तुः पूर्वः पौर्णमास्यामुत्तरोऽमावास्यायाम् ॥ ३ ॥ आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां प्रातर्नित्येषु स्थालीपाकेषु स्थालीपाकमन्वायातयति ॥४॥ तस्याग्निं रुद्रं पशुपतिमीशानं त्र्यम्बकं शरदं पृषातकं गाइति यजति ॥५॥ दधिघृतमिश्रः पृषातकः । तस्यानोमित्रावरुणा प्रबाहवेति च हुत्वा । अम्भःस्थाम्भोवोभक्षीयेति गाः प्राशापयति ॥६॥ अवसृष्टाश्चवसेयुः ॥७॥ ब्राह्मणान् घृतवद्भोजयेत् ॥८॥ नानिष्ट्वाग्रयणेन नवस्याश्नीयात् ॥९॥ पर्वण्याग्रयणं कुर्वीत । वसन्ते यवानां शरदि व्रीहीणाम् ॥१०॥ अग्रपाकस्य

ये दो आहुति प्रातःकाल करे । प्रत्येक पौर्णमासी को अग्नीषोम देवता के लिये तथा प्रत्येक अमावास्या में इन्द्राग्नी देवता के लिये स्थालीपाक बनाके पूर्ववत् होम करे । और पौर्णमासी अमावास्या दोनों में अग्नि देवता के लिये स्थालीपाक का होम करे । तथा आग्रयणादि पर्वों में शान्त्याद्यर्थ जो नैमित्तिक कर्म कहा है उस को पौर्णमासी में पहिले और अमावास्या में पीछे से करे ॥३॥ आश्विन मास की पौर्णमासी में नियम से कहे अन्यस्थाली पाकों में ही इस स्थालीपाक को भी पका लेवे अर्थात् संमिलित (तन्त्र) कर देवे ॥४॥ उस आश्विन की पौर्णमासी में अन्यों के साथ बनाये चरु से (अग्नयेस्वाहा) इत्यादि नाम मन्त्रों को पढ़ २ के अग्नि, रुद्र, पशुपति, ईशान त्र्यम्बक और शरद् देवताओं के लिये यज्ञ करे तथा निम्न प्रकार पृषातक से गौओं का पूजन करे ॥५॥ दही और घी के मेल का नाम पृषातक है । उस पृषातक से (आनोमित्रा०) इत्यादि दो मन्त्रों से अग्नि में आहुति देकर (अम्भःस्था०) मन्त्र से शेष पृषातक गौओंको खवावे॥६॥ गौएं उस समय बछड़ों से पृथक् रक्खी जावें ॥७॥ ब्राह्मणों को घृत सहित भोजन कराया जावे ॥८॥ नवान्नेष्टि किये विना नवी अन्न न खावे ॥९॥ वसन्त ऋतु की पौर्णमासी अमावास्यामें जौ से और शरद् ऋतु में चांवलों से नवान्नेष्टि करे ॥१०॥ पहिलेपहिल पके जौ वा चांवलों का दूध

पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा । तस्य जुहोति । सजूरग्नीन्द्राभ्यां स्वाहा । सजूर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । सजूर्द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा । सजूः सोमाय स्वाहेति ॥११॥ शरदि सोमाय श्यामाकानां वसन्ते वेणयवानाम् । उभयत्र वाज्येन ॥१२॥ वत्सः प्रथमजो दक्षिणा ॥१३॥ ब्राह्मणएव हविःशेषं भुञ्जीतेति श्रुतिः ॥१४॥ इति तृतीयः खण्डः समाप्तः ॥

पशुना यक्ष्यमाणः पाकयज्ञोपचाराग्निमुपचरति ॥१॥ पशुबन्धवत्तूष्णीमावृद्देवताहोमवर्जम् ॥२॥ प्रोक्ष्यानुमान्योपपाय्य पर्यग्निं कृत्वा शामित्रं प्रणीय वपाश्रपणीभ्यामुदञ्चं प्रक्रममाणमन्वारभन्ते ॥३॥ संज्ञप्यमानमवेक्षते ॥४॥ संज्ञप्तं

में स्थालीपाक पका के उस का आघारादि के पश्चात् (सजूरग्नी०) इत्यादि चार मन्त्रों से प्रधान होम करे ॥११॥ इन में जो चौथी आहुति सोम देवता के लिये कही है उस को शरद् ऋतु में सामा से और वसन्त में वेणुयवों से करे अथवा दोनों समय सोमाहुति घी से करे ॥१२॥ पहिले वार व्याना वछड़ा इस नवान्नेष्टि में आचार्य को दक्षिणा में देवे ॥१३॥ क्षत्रिय वैश्यों को भी नवान्नेष्टि आदि यज्ञ करने का तो अधिकार है परन्तु श्रुति में लिखा है कि क्षत्रियादि के यज्ञ में भी हविःशेष ऋत्विज् ब्राह्मण ही खावे यजमान भागभी क्षत्रियादि न खावे ॥ १४ ॥ यह तीसरा खण्ड पूरा हुआ ॥

पशुयोग करना चाहता हुआ पूर्व कहे पाकयज्ञ की रीति (पु०२खं०२सू०१) में कहे अनुसार वेदि में चिह्नादि कर अग्नि का मन्थन स्थापनादि करे ॥१॥ मानवकल्प सूत्र में लिखे पशुबन्ध कर्म के अनुसार यहां भी देवता होम को छोड़ के अन्य सब कृत्य विना मन्त्र तूष्णीं करे ॥२॥ पशु का प्रोक्षण,स्तुति,जल पिलाना और पशु के सब ओर अग्नि का अङ्गार घुमाना उत्तर में शामित्रशाला का नियत करना जब अध्वर्यु पशुको उत्तर की ओर ले चले तब वपाश्रपणी से उस का अन्वारम्भ यजमानादि करें इत्यादि सब काम विना मन्त्र करें ॥३॥ पशु के संज्ञपन को यजमान देखे ॥४॥ फिर पशु को स्नान करा के इन्द्राग्नी आदि जि-

स्नपयित्वा । यथादेवतं वपामुत्कृत्य श्रपयित्वाऽऽघारावाज्यभागौ हुत्वा । जातवेदोवपयागच्छ देवांस्त्वंहिहोता प्रथमो बभूव । घृतस्याग्नेतन्वासंभव सत्याःसन्तुयजमानस्य कामाः स्वाहा ॥ इति वपां जुहोति ॥ ५ ॥ स्वाहास्वाहेति परिवप्यौ ॥ ६ ॥ स्थालीपाकमन्वायातयति । समानदेवतं पशुना ॥ ७ ॥ तद्धुतावाज्यभागौ ॥ ८ ॥ अनिरुक्तः स्विष्टकृत् ॥ ९ ॥ पाशुबन्धिकानामवदानानां रसस्यावदाय देवतैः प्रचर्य वसाहोमशेषेण दिशः प्रतियजति । यथा वाजिनेन । वनस्पतिमाज्यस्य ॥ १० ॥ जयान् हुत्वा त्र्यङ्गाणां स्विष्टकृते समवद्यति ॥ ११ ॥ स्थालीपाकेन शेषो व्याख्या-

---

स देवता के उद्देश से पशुयाग हो उस के लिये वपा निकाल के पका कर तथा आघाराज्यभागों का होम करके (जातवेदोवपया०) मन्त्र से वपाश्रपणी पर पकायी वपा का अग्नि में होम करे ॥ ५ ॥ (स्वाहादेवेभ्यः) इस मन्त्र को पढ़ के वपाहोम से पहिले एक आहुति घी की करे और (विश्वेभ्यो देवेभ्यःस्वाहा) मन्त्र से वपा होम के पश्चात् घी की एक आहुति देवे ॥ ६ ॥ फिर पकाये हुए पुरोडाश स्थानी स्थालीपाक का अभिधारण कर उत्तर में उद्वासन करके पूर्व कहे अनुसार आहुति भाग स्रुच् में लेकर जिस देवता के लिये पशुयाग हो उसी के लिये स्थालीपाक का होम करे ॥ ७ ॥ आज्यभागों का होम वपा होम से पहिले इस में अवश्य करे किसी कारण से विकल्प न माने ॥ ८ ॥ स्विष्ट कृत् आहुति में स्विष्ट कृत शब्द को छोड़ के (अग्नयेस्वाहा) इतना ही मन्त्र यहां पढ़े ॥ ९ ॥ फिर पशुबन्ध याग सम्बन्धी अवदान लेकर उद्दिष्ट देवताओं के लिये होम करके वसा होम से पहिले घी से वनस्पति होम करे फिर वसा होम से शेष बची वसा को वाजिन के तुल्य प्रदक्षिण क्रम से सब दिशाओं में छोड़े ॥ १० ॥ फिर जया होम घी से करके तीन अंगों से स्विष्टकृत् आहुति के लिये अवदान लेवे । सूत्र ९ में कहे प्रकार इस अवसर में स्विष्टकृत् आहुति का होम करे ॥११॥

तः ॥ १२ ॥ पशोः पशुरेव दक्षिणा ॥ १३ ॥ इति चतुर्थः खण्डः समाप्तः ॥

(रौद्रः शरदि शूलगवः) ॥ १ ॥ प्रागुदीच्यां दिशि ग्रामस्यासकाशे निशि गवां मध्येऽतष्टो यूपः ॥ २ ॥ प्राक्स्विष्टकृतोऽष्टौ शोणितपुटान् पूरयित्वा—नमस्ते रुद्रमन्यवइति प्रभृतिभिरष्टभिरनुवाकैर्दिक्ष्वन्तर्दिक्षचोपहरेत् ॥३॥ नाऽशृतं ग्राममाहरेत् ॥ ४ ॥ शेषं भूमौ निखनेदपिचर्म ॥५॥ अपूपा-

पु० २ खं० २ में कहे स्थालीपाक के अनुसार इस पशुबन्ध कर्म का शेष कृत्य जानो ॥ १३ ॥ इस पशुयाग में पशु ही दक्षिणा में दिया जाय ॥ १४ ॥ यह चौथा खण्ड पूरा हुआ ॥

भावार्थः—शरद् ऋतु में रुद्र देवता के लिये शूलगव नामक यज्ञ करे ॥१॥ ग्राम वा नगर से ईशान दिशा के एकान्त शुद्ध जंगल में रात में गौओं के बीच विना छिला [यहां आठ पहलू यूप न होगा] यूप नामक यज्ञ स्तम्भ गाड़े ॥२॥ स्विष्टकृत आहुति से पहिले अंजली में आठ वार शोणित भर २ के प्रदक्षिण क्रम से ईशानादि आठ दिशाओं में मुख कर २ (नमस्ते रुद्र०) इत्यादि अनुवाकों से समर्पण करे ॥ ३ ॥ यदि ग्राम में हविष्य लावे तो विन पका कदापि न लावे ॥ ४ ॥ शेष बचे हविष्य को चर्म सहित पृथिवी में खोद कर गाड़ देवे ॥ ५ ॥ कोई ऋषि वा आचार्य अपूप नाम पुरोडाश वा मालपुआओं को ही पाकयज्ञ के पशु कहते मानते हैं। इस पक्ष में शोणित निवेदन का स्थानी अपूपों में से घी ले २ कर (नमस्ते०) आदि मन्त्रों से समर्पण किया जायगा। गृह्यसूत्रों में कहे सभी पशुयागों के लिये यह सामान्य कर सूत्रकारने प्रत्याम्नाय दिखाया है। सो जैसे फांसी देने वा अन्य प्रकार से किन्हीं को मरवा देने का अधिकार राजा का ही है साधारण का नहीं। तथा मनुष्य को अच्छा करने के लिये चीर फाड़ करने का अधिकार अच्छे २ डाक्टर वैद्यों का ही है सब का नहीं जैसे कमल के पत्तों पर जल नहीं लिपता पर अन्य सब पत्ते भींग जाते हैं वैसे ही उत्तमाधिकारी ज्ञानी विद्वानों के लिये ही पशु-

नेके पाकयज्ञपशूनाहुः ॥ ६ ॥ इति पञ्चमः खण्डः समाप्तः ॥

अथातो ध्रुवाश्वकल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥ आश्वयुज्यां पौर्णमास्याम् ॥ २ ॥ऋत्विगव्यङ्गः स्नातः शुचिरहतवासाः ॥३॥ प्रागस्तमयान्निष्क्रम्योत्तरतो ग्रामस्यपुरस्ताद्वा शुचौ देशेऽश्वत्थस्याधस्तान्न्यग्रोधस्य वाऽपां वा समीपे वेद्याकृतिंकृत्वा तस्यां चतुष्कोणवनस्पतिशाखायामवसक्तचीरायां गन्धस्रग्दामवत्यां [अगृहीतशुक्लमाल्यनिकरवत्यां] चतुर्दिशं विन्यस्तोदकुम्भसहिरण्यबीजपिटिकायामपूपसुस्तरलाजोल्लोपिकमङ्गलफलाक्षतवत्यां सर्वगन्धसर्वरससर्वौषधीः सर्वरत्नानि चोपकल्प्य प्रतिसरदधिमधुमोदकस्वस्ति

याग है। ऐसे घोर कलि काल में कोई ऐसे पशुयागों का अधिकारी नहीं है। । यदि सम्प्रति कोई शूलगव वा खं० ९। पु० २ में कहे पशुयागादि करना चाहे तो वह पुरोडाश वा मालपुआदि से उन २ के प्रत्याम्नाय करे । यही सारांश जानो ॥ यह पांचवां खण्ड पूरा हुआ ॥

भावार्थः—जिस यजमान के घर पर घोड़े रहते हों वह घोड़ों की पुष्टि और दृढ़ स्थिति के लिये आश्विनमास की पौर्णमासी के दिन ध्रुवाश्व कल्पनामक यज्ञ इस छठे खण्ड में कहे अनुसार करे ॥ १ । २॥ इस कर्म के ऋत्विज् किसी चक्षुआदि अंग से हीन नहीं स्नान करके शुद्ध हुए नये चीरदार वस्त्र पहिनें ॥ ३ ॥ सूर्यास्त होने से पहिले ग्राम वा नगर से निकल के पूर्व वा उत्तर शुद्ध स्थान में जाकर पीपल वा वटवृक्ष के नीचे अथवा जलाशय के समीप पाशुक यज्ञ की वेदि के तुल्य वेदी बनाकर उस के चारो कोणों पर किसी यज्ञिय वनस्पति की शाखा गाड़ें चारों दिशा में चित्र विचित्र पता का लगावे, जिस में चन्दन तथा अगर आदि सुगन्ध, पुष्पमाला तथा रास्नानामक लता के पत्रादि की माला वन्दनवारादि में लगी हों तथा सब ओर जिस में सफेद फूल बिछाये गये हों तथा सुवर्ण जिन के भीतर डाला गया हो ऐसे बीजों से भरी पिटारी और जल से भरे घड़ा जिस के चारों दिशा

कनन्द्यावर्त्तवत्यामग्निं प्रणीय । अश्वत्थ [पलाश] खदिररोहितकौदुम्बराणामन्यतमस्येध्ममुपसमाधाय तिस्रः प्रधानदेवता [इति] यजत्युच्चैःश्रवसं वरुणं विष्णुमिति स्थालीपाकैः पशुभिश्चाश्विनौ चाश्वयुजौ चाज्यस्य ॥४॥ जयान्हुत्वा । याऽओषधयः । समन्यायन्ति । पुनन्तु मा पितरः । अग्नेर्मन्वइति चतुर्भिरनुवाकैरपोऽभिमन्त्र्याश्वान्स्नपयन्ति ॥ ५ ॥ गन्धस्रग्दामभिरलङ्कृत्य प्रदक्षिणं देवयजनं त्रिःपरियन्ति ॥ ६ ॥ प्रहर्षं कारयन्ति ॥ ७ ॥ इष्टे यथास्थानं व्रजन्ति ॥ ८ ॥ गौरनड्वांश्च दक्षिणा ॥९॥६खंडः

में धरे हों तथा, पूआ संकलपारे खसखस भुंगी खीलें अक्षताधान वा चावल और मंगलफल जिस में विद्यमान हों तथा सब सुगन्ध सर्व रस तथा ग्राम और वनकी सब ओषधियां जिस में विद्यमान हों और सब रत्न जिस में विद्यमान हों तथा कलावा नया सूत दही शहद् लड्डू जिस में धरे गये हों तथा चार दरवाजे बन्दनवार सहित हों तथा जिस के बीच गोल घर हों ऐसी वेदि के बीच अग्नि को स्थापित करके खैर लालकरंज और गूलरी इन में से किसी एक वृक्ष की समिधारख के उच्चैःश्रवा वरुण और विष्णु इन तीन प्रधान देवताओं के लिये पूर्वोक्त प्रकार से बनाये स्थालीपाक द्वारा और पशुओं द्वारा यज्ञ करे तथा अश्विनी और अश्वयुज् देवताओं के लिये घीसे होम करे ॥ ४ ॥ फिर जया होम करके (या ओषध०) इत्यादि चार अनुवाकों से जल का अभिमन्त्रण करके घोड़ों को स्नान करावें ॥ ५ ॥ केशर चन्दनादि सुगन्ध पुष्पमाला और रास्नादिक लताओं की माला आदि से घोड़ों को सुभूषित करके वेदि के सब ओर तीन बार घोड़ों से प्रदक्षिणा करावें ॥ ६ ॥ तदनन्तर घोड़ों से हींसने का शब्द करावें ॥ ७ ॥ सामान्य प्रकरण में कहे अनुसार आरम्भ समाप्ति का शेष काम यहां भी पूर्ववत् जानो । यज्ञ हो जाने पर सब लोग अपने २ स्थान को जावें ॥ ८ ॥ इस अश्वकल्प कर्म की समाप्ति में एक गौ तथा एक बैल दक्षिणा में देवे ॥ ९ ॥ यह छठा खंड पूरा हुआ ॥

आग्रहायण्यां पौर्णमास्यां पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा तस्य जुहोति–अपःश्वेतपदागहि पूर्वेणचापरेणच । सप्त च वारूणीरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजबान्धव्यः स्वाहा ॥ श्वेतो रुषस्यो विदधात्यश्वो दधद्गर्भं वृषः सूत्वर्यां ज्योक् । सं-मंजनाश्चक्रमपोवसानाः प्रोषादसाविरसिविश्वमेजत् । श्वे-ताय रौषिदश्वाय स्वाहा ॥ नवै श्वेतस्याभ्याचारे अहि-र्जघान किंचन । श्वेताय वैतहव्याय स्वाहा ॥ अभयं नः प्राजा-पत्येभ्यो भूयात्स्वाहा ॥इति ॥१॥ स्रस्तरेऽहतं वास उदग्दशा-मास्तीर्योदकांस्येऽश्मानं व्रीहीन्यवान्वाऽस्य परिषिञ्चति-स्योनापृथिविभवेति द्वाभ्यां सुत्रामाणमिति द्वाभ्याम् ॥२॥ शमीशाखया च सपलाशयोदञ्चं त्रिः समुन्मार्ष्टि–स्योना पृथिविभवेति द्वाभ्यां सुत्रामाणमिति द्वाभ्यां नमोऽअस्तुसर्पेभ्य इति तिसृभिश्च ॥ ३ ॥ शाम्यन्तु सर्पाः स्वशया भवन्तु ये अन्तरिक्ष उत ये दिविश्रिताः । इमां महीं प्रत्यवरोहेम ।

भावार्थः–अगहन मास की पौर्णमासी के दिन दूध में पु०२ख०२ में लिखे अनुसार स्थालीपाक पकाके आघारादि सामान्य कृत्य करके (अपःश्वेत०) इत्यादि मन्त्रों से स्थालीपाक की चार प्रधानाहुति करके जयादि होम अ-ध्वर्यु ब्रह्मा को दक्षिणा और ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥१॥ इस कर्म का नाम सर्पयाग है । फिर रात को अध्वर्यु यजमान को स्रस्तरारोहण कर्म करावे । प्रथम बिछाये हुए कोमल पलाल पर उत्तर को चीरा करके नया वस्त्र द्वितयी वा चौतयी आदि बिछावे । फिर जल जिस में भरा हो ऐसे कांसे के पात्र में एक पत्थर तथा जौ वा धानों को (स्योना पृथिवि०) इत्यादि चार मन्त्रों से गिरावे ॥२॥ फिर पत्तों सहित शमी (छोंकर) वृक्ष की डाली से कांसे के पात्र से जल ले २ कर (स्योना पृथिवि०) इत्यादि सात मन्त्रों से बिछौना परमार्जन करे ॥३॥ फिर रात्रि को सोने के समय यजमानादि सब को उस बिछौना पर पूर्व को शिर पश्चिम को पग करा २ के दक्षिण से उत्तर की ओर को (शाम्यन्तु सर्पाः०)

शिवामजस्रां शिवां शान्तां सुहेमन्तामुत्तरामुत्तरां समां क्रियासम् ॥ इति ज्येष्ठप्रथमानुदीच आवेशयति ॥ ४ ॥ उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आज्योतिरेति । आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतरं न आयुः ॥ इति कनिष्ठप्रथमानुज्जिहते ॥ ५ ॥ चैत्र्यामुद्रोहणम् ॥ ६ ॥ न तत्र स्थालीपाको न शाखया समुन्मार्ष्टि ॥ ७ ॥ अयं तल्पः प्रतरणो वसूनां विश्वाविभ्यत तल्पो अस्मान् । ज्योग्जीवेम सर्ववीरा वयं तम ॥ इति तल्पमभिमन्त्रयते ॥ ८ ॥ त्रीणि नाभ्यानि फाल्गुन्यामाषाढ्यां कार्त्तिक्याम् ॥ ९ ॥ तासु नाधीयीत ॥ १० ॥ तासु पयसि स्थालीपाकः स व्याख्यातः ॥ ११ ॥

इति सप्तमः खण्डः समाप्तः ॥

इत्यादि मन्त्र पढ़ के लिटावे । सब से दक्षिण में सब से बड़े को उस से उत्तर २ में छोटे छोटों को लिटावे ॥ ४ ॥ फिर प्रातःकाल (उदीर्ध्वं जीवो०) मन्त्र पढ़ के छोटे छोटों को पहिले २ उठावे सब से पीछे सब से बड़े को उठावे ॥ ५ ॥ इस प्रकार पौष माघ फाल्गुन चैत इन चार महीनों में पलाल पर उक्त विधि से नित्य २ सोवें जागें । फिर चैत्रकी पौर्णमासी की रात्रि को खट्वारोहण [खटिया पर सोने उठने का विधि] करावे । यहां कांसे के पात्र में पत्थर जौ डाल के शमी शाखा से खट्वा का मार्जन और स्थाली पाक न करे ॥ ६ । ७ ॥ किन्तु (अयं तल्पः०) मन्त्र पढ़ के खट्वा का अभिमन्त्रण करे ॥ ८ ॥ और सोने के मन्त्र में पढ़े (इमां महीं) के स्थान में (इमं तल्पं) तथा (सुहेमन्ता) के स्थान में (सुवसन्ता) ऊह करे । फाल्गुन, आषाढ़ और कार्त्तिक मास की तीन पौर्णमासी ऋतु सन्धि होने से संवत्सरात्मक प्रजापति की नाभिस्थानी हैं इन्हीं में श्रौत चातुर्मास्य पर्व कहे हैं ॥ ९ ॥ इन तीनों में वेद न पढ़े ॥१०॥ किन्तु इन तीनों में दूध में स्थालीपाक पका के प्रधान अग्नि देवता के लिये होम करे शेष विधि प्र० २ । खं० २ में व्याख्यान कर चुके हैं यह स्मार्त्तों में नाभ्य कर्म कहाता है ॥ ११ ॥

यह सातवां खण्ड पूरा हुआ ।

तिस्रोऽष्टकाः ॥१॥ ऊर्ध्वमाग्रहायण्याः प्राक्फाल्गुन्यास्तामिस्राणामष्टम्यः ॥ २ ॥ तासु नाधीयीत ॥ ३ ॥ तासु पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा तस्य जुहोति—यादेव्यष्टकेष्वपसापस्तमास्त्वपाअवयाअसि । त्वं यज्ञे वरुणस्यावयाअसि तस्यैतएनाहविषाविधेम ॥ १ ॥ उलूखलाग्रावाणोघोषमकुर्वत हविः कृण्वन्तपरिवत्सरीयम् । एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा ज्योग्जीवेमबलिहृतोवयंते ॥ २ ॥ यांजनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रींधेनुमिवायतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥३॥ संवत्सरस्यप्रतिमां यत्वारात्रीमुपासते । तेषामायुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेणसंसृजस्व ॥ ४ ॥ इति । चतस्रः स्थालीपाकस्य ॥ ४ ॥ अष्टकायैसुराधसे स्वाहेति सर्वत्रानुषजति ॥ ५ ॥ हेमन्तो वसन्तोग्रीष्मऋतवः शिवानः शिवानो वर्षाअभयाश्चिरंनः । वैश्वानरोऽधिपतिः प्राणदोनो अहोरात्रेकृणुतांदीर्घमायुः ॥ १ ॥ शान्तापृथिवीशिवमन्तरिक्षं द्यौर्नोदेव्यभयंकृणोतु । शिवा दिशः प्रदिश आदिशो न आपो विद्युतः परिपान्त्वायुः ॥२॥ आपोमरीचीः परिपान्तुविश्वतो धातासमुद्रोअभयंकृणोतु । भूतंभविष्यदुतभद्रमस्तुमे ब्रह्माभिगूर्त्तंस्वराक्षाणः ॥ ३ ॥ कविरग्निरिन्द्रः सोमः सूर्यो वायुरस्तुमेअग्निर्वैश्वानरो अपहन्तुपापम् । बृहस्पतिः सवि-

अब अष्टका कर्म का विचार दिखाते हैं॥१॥ अगहन की पौर्णमासी से फाल्गुन की पौर्णमासी तक कृष्णपक्षों की तीन अष्टमी होती हैं उन में वेद न पढ़ें ॥२।३॥ उन अष्टमियों में दूध में स्थालीपाक बनाकर आघारादि विधिपूर्वक (यादेव्यष्टके०) इत्यादि चारों मन्त्रों के अन्त में (अष्टकायैसुराधसे स्वाहा) कहकर जोड़ के स्थालीपाक की चार प्रधानाहुति करे ॥ ४ । ५ ॥ फिर (हेमन्तो

ताशर्मयच्छतु श्रियंविराजंमयिपूषादधातु ॥४॥ विश्वआदित्यावसवश्चसर्वे रुद्रागोप्तारोमरुतश्चसन्तु। ऊर्जंप्रजाममृतंदीर्घमायुःप्रजापतिर्मयिपरमेष्ठीदधातु ॥ ५ ॥ इति पञ्चाज्यस्य ॥ जयान्हुत्वेडामग्नइति स्विष्टकृदिति ॥ ७ ॥ एवं सर्वासु ॥ ८ ॥ इत्यष्टमः खण्डः समाप्तः ॥

उत्तमायाः प्रदोषे चतुष्पथेऽङ्गशो गां कारयेत् ॥ १ ॥ योयआगच्छेत्तस्मै दद्यात्॥२॥ श्वोऽन्यां कारयेत्॥३॥ तस्या वपां जुहुयात्-वहवपांजातवेदः पितृभ्यो यत्रैतान्वेत्थनिहितान्पराके। मेदसोघृतस्यकुल्याअभिनिःस्रवन्तु सत्याःसन्तुयजमानस्यकामाःस्वाहा॥इति॥४॥ अथास्यावक्षसउदगोदनं श्रपयति ॥५॥तस्याष्टकाहोमकल्पेन शेषो व्याख्यातः॥६॥अवशिष्टं भक्तं रन्धयति ॥७॥ श्वोऽवशिष्टं भक्तंरन्धयित्वा पिण्डानामावृता त्रीन्मांसौदनपिण्डान्निदधाति ॥ ८ ॥ श्रावणपरपक्षे पितृ-

---

वसन्तो०) इत्यादि मन्त्रों से पांच आहुति घी की करें ॥ ६ ॥ फिर जयादि होम करके (इडामग्ने०) मन्त्र से स्विष्टकृत् आहुति करे ॥ ७ ॥ इसी प्रकार सब भाद्रपद की अष्टका में भी करे ॥ ८ यह आठवां खण्ड पूरा हुआ ॥

फाल्गुन की कृष्णाष्टमी को सन्ध्या के समय चौराहे पर गोयाग करे ॥१॥ जो २ यागदर्शनार्थ आवे उसे २ यज्ञ का प्रसाद खोया देवे ॥ २ ॥ प्रातः काल अगले दिन अन्य गोयाग करे ॥ ३ ॥ आघारादि के पश्चात् उस की वपा का होम (वह वपां०) मन्त्र पढ़के करे ॥ ४ ॥ इस के वक्षः से उत्तर में भात पकावे ॥ ५ ॥ इस का शेष विचार अष्टका होम के साथ व्याख्यान हो चुका जानो ॥ ६॥ अगले दिन प्रातःकाल शेष आधा भात रांधकर पिण्डदान की रीति से पितरों के लिये तीन पिंड देवे ॥ ७।८॥ इसी पु० २ खं० ५ में कहे अनुसार यहां भी पशु याग के स्थान में अपूपों द्वारा प्रत्याम्नाय ही सर्वथा श्रेयस्कर है

भ्यो दद्यात् ॥९॥ अनुगुप्तमन्नं ब्राह्मणान्भोजयेत् । नावेदविद्भुङ्क्तेति श्रुतिः ॥१०॥ यदि गवा पशुना वा कुर्वीत प्रोक्षणमुपपायनं पर्यग्निकरणमुल्मुकहरणं वपाहोममिति ॥११॥ त्रैधं वपां जुहुयात् । स्थालीपाकमवदानानि च ॥१२॥ सोमायपितृमतेस्वधानम इति जुहोति । यमायाङ्गिरस्वतेपितृमतेस्वधानम इति द्वितीयाम् । अग्नये कव्यवाहनायस्वधानम इति तृतीयाम् ॥१३ एवं मासि मासि नियतम् । तन्त्रं पिण्डपितृयज्ञे ॥१४॥ इति नवमः खण्डः ॥

वपाहोम जहां २ कहा है वहां २ सर्वत्र दूध की वा घी की मलाई उसी रीति से उतार के होम करना प्रत्याम्नाय ठीक है । पशुयाग लोक विद्विष्ट होने से त्याज्य है पिंडदान में अपूपका प्रत्याम्नाय जानो पितरों के लिये कृष्णपक्ष में श्राद्ध करना चाहिये ॥ ९ ॥ शूद्र पतित और रजस्वलादिने न देखा हो ऐसे सुरक्षित शुद्ध भात खीर मोहनभोगादि अन्न तीन आदि ब्राह्मणों को होमाहुतियों के पश्चात श्राद्ध में भोजन करावे । वेद को न जानने वाले ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन न करावे ऐसा श्रुति में लिखा है (मनु०अ० ३।१८४।१८६) ॥१०॥ यदि कोई कभी गौ वा अन्य पशु से होम यज्ञादि करे तो वहां प्रोक्षण, स्तुति, पर्यग्निकरण, उल्मुकहरण और वपाहोम इन कामों को सर्वत्र करे ॥११॥ सर्वत्र श्राद्ध में वपाहोम, स्थाली पाक और अङ्गावदान होम इन तीनों को (सोमायपितृ०) इत्यादि तीन मन्त्रों से तीन २ आहुति अग्नि में करे ॥ १२ ॥ १३ ॥ इस प्रकार महीने २ में प्रत्येक अमावास्या के दिन पितरो के लिये श्राद्ध करना चाहिये । और मानव कल्प सूत्र में कहे पिण्डपितृयज्ञ के साथ स्मार्त श्राद्ध को तन्त्र कर लेना चाहिये ॥ १४ ॥ धर्मनिष्ठ सत्वगुणी पुरुष को मांस भक्षण कदापि कर्त्तव्य नहीं इसी लिये मांसद्वारा श्राद्ध भी उन लोगों को नहीं करना चाहिये किन्तु मुन्यन्न खोया खीर आदि से वे श्राद्ध करें । मांसाहार निषिद्ध होने पर भी जो २ जिस२ देश काल में मांसाहारी हों उन्हीं के लिये मांस से श्राद्ध होमादि का विधान जहां तहां जानो ।

यह नवम खण्ड पूरा हुआ ॥

फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां पुरस्ताद्धानापूपाभ्यां भगं चार्यमणं च यजेत् ॥१॥ इन्द्राण्या हविष्यान् पिष्ट्वा पिष्टानि समुत्पूय- यावन्ति पशुजातानि तावतो मिथुनान्प्रतिरूपान्छ्रपयित्वा कांस्येऽध्याज्यान्कृत्वा तेनैव-रुद्रायस्वाहेति जुहोति। ईशानायेत्येके ॥२॥ सायमपूपाभ्यां प्रचरत्यग्नीन्द्राभ्याम् ॥३॥ आग्नेयस्तुन्दिलः । न तस्य स्त्रियः प्राश्नन्ति। सर्वामात्याहृतरस्य ॥४॥ स्थालीपाकेनेन्द्राणीं-श्वोवा ॥५॥ संघेष्वेकवद्बर्हिरग्निराघाराज्यभागाहुतयः स्विष्टकृच्च ॥६॥ अग्निरिन्द्रः सोमः सविता सरस्वत्यश्विनानुमती रेवती राका पूषा रुद्र

भावार्थः—फाल्गुनी पौर्णमासी के दिन पहिले जौ के धाना और मालपुआ वा पुरोडाश बना के भग तथा अर्यमा दो देवताओं का आघारादि पूर्वक होम करके जया होम करे ॥१॥ तदनन्तर इन्द्राणी देवता के लिये जौ वा चावल पीस छान कर जितने पशु यजमान के घर हों उतने ही आटा के दो २ पशवाकृति बनाके पकावे ऊपर से अभिघारण पु०२खं०२सू-४ के अनुसार करे फिर सायंकाल इन्द्राणी का चरु बनावे उसी में उन पिष्ट पशुओं को डालदेवे फिर कांसे के पात्र में नीचे घी डाल के उस पर धरे से ऊपर से अधिक घी छोड़ के रुद्र देवता के लिये आघारादि के अनन्तर प्रधान होम करे। किन्हीं का मत है कि ईशान देवता के लिये होमकरे ॥२॥ तदनन्तर सायंकाल दो मालपुआ बना के अग्नि और इन्द्र देवता के लिये आघारादि के पश्चात् प्रधान होम करे ॥३॥ अग्नि देवता का अपूप बीच में मोटा हो। उस अग्निदेवता वाले अपूप का शेष भाग स्त्रियां न खावें। पर इन्द्र देवता वाले को सब बालबच्चे खावें पीछे दक्षिणा दानादि कर्म समाप्त करें ॥४॥ तदनन्तर उसी दिन सायंकाल इन्द्राणी देवता के लिये स्थालीपाक बना के आघारादि पूर्वक इन्द्राणी का प्रधान याग और जयाहोमादि करे वा अगले दिन प्रातःकाल करे ॥५॥ अनेक प्रधान होम एक साथ मिला के तन्त्र करने हों तो एक पर्त कुश बिछाना अग्निस्थापन आघाराज्यभाग और स्विष्टिकृत् इन सब कामोंको एकही एकबार करे बार २ नहीं ॥६॥ अथ हलाभियोग कर्म जिस में हल जोड़ने का प्रारम्भ किया जाय उसमें

इत्येतैरायोजन, पर्य्ययन, प्रवपन, प्रलवन, सीतायज्ञ, खल यज्ञतन्तीयज्ञानडुद्यज्ञष्वेता देवता इति यजति । सांवत्सरेषु च पर्वसु ॥ ७ ॥ नद्युदधिकूपतडागेषु वरुणं यजति । ओषधिवनस्पतिषु सोमम् । अनादिष्टदेवतेऽग्निम् ॥ ८ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

अवसानं समं समूलम् ॥ १ ॥ दक्षिणाप्रवणमन्नकाम-

पहिले दिन मातृपूजा तथा आभ्युदयिक श्राद्ध करे फिर अगले दिन अग्नि, इन्द्र सोम, सीता, सविता, सरस्वती, अश्विना, अनुमती, रेवती, राका, पूषा और रुद्र इन देवताओं का निम्न लिखित कर्मों में होमादि द्वारा पूजन करे। आयोजन नाम खेत जोतने का सामान जोड़ना, प्रथम ही खेत में जाना पर्य्ययन, पहिले ही बीज बोना प्रवपन, प्रथमही पके खेत का काटना प्रलवन, यदि प्लवन पाठान्तर माना जाय तो पहिले ही खेत का भरना, लड्डू आदि से सीता नाम कूंड का पूजना सीतायज्ञ, जब अन्न कट कर खलियान में आ जावे तब खलयज्ञ और गाहि मीज शैला के अन्न की राशी तयार हो तब तन्तीयज्ञ होता और जब अन्न घर में आजावे तब मालामुकुटादि से बैल के सींगों का पूजन करना अनडुद्यज्ञ कहाता है । इन कामों में तथा वर्ष भरमें आने वाले गुरुपूनो शरद् पूनो आदि पर्व दिनों में सर्वप्रायश्चित्तों के साथ २ अग्नि आदि देवताओं के लिये (अग्नयेस्वाहा) इत्यादि नाममन्त्रों से प्रधान होम करे । उन में सामान्य विधि से पवित्रादि का आसादनादि आघाराज्य भाग पहिले और जया होमादि पीछे करे ॥७॥ नदी तलाव के मेल पर नदी समुद्र के मेल पर और नये कुआ तालाव बनवाने पर वरुण देवता के लिये प्रधान होम करे । ओषधियों के पकने पर वा खेत में प्रथम समागम होने पर पीपल आदि वनस्पतियों के प्रथम मिलने पर सोम देवतार्थ प्रधान होम करे और जहां कोई देवता नियत न हो वहां अग्निदेव के लिये होम करे ॥ ८ ॥

यह दशवां खण्ड पूरा हुआ ॥

भावार्थः—अब पञ्चमहायज्ञादि कर्म दिखावेंगे सो महायज्ञ घर में होते हैं इस लिये शालाकर्म अर्थात् नया घर बनाने का विचार दिखाते हैं । जिस में महायज्ञादि कर्म ठीक २ पूरे हो सकें ऐसा बड़ा समचौरस भूमि में जहां दूब

स्य । मारुकास्तत्र प्रजा भवन्ति ॥२॥ सर्वतः समवस्त्रावम् ॥३॥ समवस्रुत्य वा यस्मात्प्रागुदीचीरापो निर्वहेयुस्तद्वा ॥ ४ ॥ गर्त्तं खात्वा यत्तैः पांशुभिः प्रतिपूर्येत तद्वा ॥ ५ ॥ यदि धारयिष्णूदकतरं स्यात् ॥६॥ इदमहं विशमन्नाद्याय तेजसे ब्रह्मवर्चसाय परिगृह्णामीति वेश्म परिगृह्य । गर्त्ते हिरण्यं निधायाच्युताय ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति जुहोति ॥ ७॥ समीचीनामासीति पर्यायैरुपतिष्ठते प्रतिदिशं—द्वाभ्यां मध्ये ॥ ८ ॥ उदकांस्येऽश्मानं व्रीहीन्यवान्वाऽभ्य परिषिञ्चति—स्योनापृथिविभवेति द्वाभ्याम् । सुत्रामाणमिति द्वाभ्याम् ॥ शमीशाखया च सपलाशयोदञ्चं त्रिः समुन्मार्ष्टि—स्योना

दाभ आदि ओषधियों के मूल मौजूद हों ऊपर भूमि न हो वहां घर बनावे ॥१॥ जो अधिक अन्न चाहता हो वह दक्षिण के भाग में नीची भूमि में घर बनावे पर वैसी भूमि के घर में सन्तान उत्पन्न हो २ कर मर जाते हैं इस से ऐसे स्थल में घर बनाना मना है ॥ २ ॥ जिस स्थल के सब ओर झरना आदिक से जल निकलता वा सब ओर नदी झील आदि हों वहां बनावे ॥ ३ ॥ अथवा जहां से निकल कर पूर्व वा उत्तर को जल बहता हो उस स्थल में घर बनावे ॥४॥ अथवा गर्त्त (गढ़ा) खोद के उसी खोदी मट्टी से फिर से भरे जिससे नीचे की शुद्ध मट्टी ऊपर हो जाय उस में घर बनावे ॥५॥ परन्तु जिस भूमि में गिरा जल शीघ्र ही सूख जावे उस में घर बनावे ॥६॥ (इदमहं०) मन्त्र पढ़ के घर बनाने के स्थल को सूत्र से नाप कर घेरा खैंचे । उस के बीच मध्य में खम्भ का गढ़ा खोदकर उस में सुवर्ण धर के उस पर (अच्युताय०) मन्त्र से संस्कार किये घी की एक आहुति स्रुवा से छोड़े ॥ ७ ॥ फिर (समीचीना०) इत्यादि दिशाओं के पर्याय वाचक शब्दों से प्रत्येक दिशा में मुख कर २ प्रदक्षिण उपस्थान करे और दो पर्यायों से बीच में उपस्थान करे ॥८॥ फिर कांसे के पात्र में जल लेके उस में पत्थर धान और जौ डाल के उस जल से (स्योनापृथिवि०) इत्यादि दो २ मन्त्र पढ़ २ दो बार सब घर को सींचे ॥ ९ ॥ फिर पत्तों सहित शमीवृक्ष की शाखा से (स्योनापृथि०) दो से एक बार

पृथिविभवेति द्वाभ्याम् । सुत्रामाणमिति द्वाभ्याम्—नमोऽअस्तु सर्पेभ्यइति तिसृभिश्च ॥ १० ॥ इदं तत्सर्वतोभद्रमयमूर्जोऽयं रसः । प्राप्यैवं मानुषान्कामान्यदशीर्ष्णीतदलप्स्यसि ॥ इति मध्यमां स्थूणामासिच्य गर्त्त आसिञ्चति ॥ ११ ॥ इहैवतिष्ठनितरा तिल्वलास्थिरावती । मध्येपोषस्यपुष्यतामात्वाप्रापन्नघायवः ॥ आत्वाकुमारस्तरुण आत्वापरिसृतःकुम्भः । आवत्सोजगतासह, आदध्नःकलशमैरयम् ॥ इति मध्यमां स्थूणामामन्त्रयते ॥ १२ ॥ वसूनांत्वावसुवीर्यस्याहोरात्रयोश्चेति गर्त्ते स्थूणामवदधाति॥१३॥ ऋतेऽवस्थूणाअधिरोहवंशो अग्नेविराजमुपसेधशत्रुम् ॥ इति मध्यमं वंशमवदधाति ॥ १४ ॥ तूष्णीं शिष्टाः स्थूणा वंशाश्च ॥ १५ ॥ प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वा मापयित्वा । गृहानहंसुमनसः प्रपद्येवीरंहीत्येतया प्रपद्यते यथा पुरस्ताद्व्याख्यातम् ॥ १६ ॥ प्रैतुराजावरुणोरेवतीभिरस्मिन्स्थाने-

---

(सुत्रामा०) दो से द्वितीय वार तथा (नमोऽअस्तु०) इत्यादि तीन मन्त्रों से तृतीय वार सब घर को उत्तर की ओर तीन वार झाड़े ॥ १० ॥ फिर (इदंतत्सर्व०) मन्त्र को पढ़ के बीच के खम्भ का मार्जन कर बिना मन्त्र तूष्णीं गर्त्त में जल सेचन करे ॥ ॥ ११ ॥ (इहैव तिष्ठ०) इत्यादि मन्त्र पढ़ के मध्यम स्थूणा का आमन्त्रण करे ॥ १२ ॥ (वसूनांत्वा०) मन्त्र पढ़ के उस मध्यम स्थूणा को गर्त्त में रक्खे ॥ १३ ॥ (ऋतेऽवस्थूणा०) मन्त्र पढ़ के बीच के बांस (बंडेरा) को खम्भ पर धरे ॥ १४ ॥ बाकी सब स्थूणाओं को उन २ के गर्त्त में तथा बाकी बांसों को उन २ के स्थानों पर विना मन्त्र रक्खे ॥ १५ ॥ इस प्रकार पूर्व वा दक्षिण को द्वार वाला घर तयार करके उस में (गृहानहम्०) मन्त्र पढ़ के (पु० १ खं० १४ सू० ३–६) तक में कहे अनुसार घर में प्रवेश करे और पूर्व कहा अग्नि स्थापन भी इसी अवसर में करे ॥ १६ ॥

तिष्ठतुपुष्यमाणः । इरांबहन्तीघृतमुक्षमाणास्तेष्वहंसुमनाः संवसाम ॥ इत्युत्तरपूर्वस्यां दिशि प्रातिपानमुदकुम्भमवस्थापयति ॥ १७ ॥ समुद्रंवःप्रहिणोमि स्वांयोनिमभिगच्छत । अरिष्टाअस्माकंवीरामापरासेचिमत्पयः ॥ इत्युदञ्चनम् ॥१८॥ वास्तोष्पत्यं पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा तस्य जुहोति–अमीवहावास्तोष्पते । वास्तोष्पतइत्येताभ्याम् । वास्तोष्पतेप्रतरणोनएधि गयस्फानोगोभिरश्वेभिरिन्दो । अजरासस्तेसख्येस्याम पितेवपुत्रान्प्रतिनोजुषस्व ॥ वास्तोष्पतेशग्मयासंसदाते सक्षीमहिरण्वयागातुमत्या । पाहिक्षेमउतयोगेवरंनो यूयंपातस्वस्तिभिःसदानः ॥ इति ॥ १९ ॥ जयप्रभृति समानम् ॥ २० ॥ इत्येकादशः खण्डः समाप्तः ॥

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य सायंप्रातर्बलिं हरेत् ॥ १ ॥ अग्नीषो-

पश्चात् (प्रैतु राजा०) इत्यादि मन्त्र पढ़ के घरके ईशान कोण में जल से भरा हुआ बड़ा मटका स्थापित करे ॥ १७ ॥ (समुद्रंवः०) मन्त्र से बड़े मटका में से जल लेने के लिये मटका के समीप एक छोटा पात्र स्थापन करे ॥ १८ ॥ फिर पु० २ खं० २ में लिखे अनुसार दूध में वास्तोष्पति देवता के निमित्त स्थालीपाक पकाकर पवित्रादि का आसादनादि आघाराज्य भाग पर्यन्त कार्य करके (अमीवहा०) (वास्तोष्पते०) (वास्तोष्पतेप्रतर०) (वास्तोष्पते शग्मया०) इन चार मन्त्रों से वास्तोष्पति देवता के लिये स्थालीपाक से चार प्रधानाहुति करे ॥ १९ ॥ तदनन्तर जया होमादि यहां भी पूर्ववत् करे । यह वास्तोष्पति यज्ञ वा वास्तुप्रतिष्ठा कर्म कहाता है ॥ २० ॥

यह ग्यारहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भावार्थः–घर बनाने का प्रकार कह कर उस के स्थानविशेषों में बलिहरणरूप वैश्वदेव नामक कर्म का व्याख्यान दिखाते हैं । विश्वेदेवों के उद्देश से पकाया अन्न वैश्वदेव कहाता है उस अन्न से गृहस्थ सायं प्रातःकाल बलि कर्म करे ॥ १ ॥ इन पञ्चमहायज्ञों में यहां पहिले देवयज्ञ दिखाते हैं ॥१॥ अग्नि

मौ धन्वन्तरिं विश्वान्देवान्प्रजापतिमग्निं स्विष्टकृतमित्येवं होमो विधीयते ॥ २ ॥ अथ बलिं हरत्यग्नये नमः। सोमाय । धन्वन्तरये । विश्वेभ्योदेवेभ्यः। प्रजापतये । अग्नयेस्विष्टकृतइत्यग्न्यागार उत्तरामुत्तराम् ॥३॥ अद्भ्यइत्युदकुम्भसकाशे ॥ ४ ॥ ओषधिभ्य इत्योषधिभ्योवनस्पतिभ्य इति मध्यमायां स्थूणायाम् ॥ ५ ॥ गृह्याभ्यो देवताभ्यइति गृहमध्ये ॥ ६ ॥ धर्मायाधर्मायेति द्वारे ॥ ७॥ मृत्यवआकाशायेत्याकाशे ॥ ८ ॥ अन्तर्गोष्ठायेत्यन्तर्गोष्ठे ॥ ९ ॥ बहिर्वैश्रवणायेति बहिः प्राचीम् ॥ १० ॥ विश्वेभ्योदेवेभ्यइति वेश्मनि ॥ ११ ॥ इन्द्रायेन्द्रपुरुषेभ्यइति पुरस्तात् ॥ १२ ॥ यमाय यमपुरुषेभ्य इति दक्षिणतः ॥ १३ ॥ वरुणाय वरुणपुरुषेभ्य इति पश्चात् ॥ १४ ॥ सोमाय सोमपुरुषे-

---

२ सोम । ३ धन्वन्तरि । ४ विश्वेदेव । ५ प्रजापति । ६ अग्निस्विष्टकृत् । इन छः देवताओं के लिये (अग्नयेस्वाहा) इत्यादि प्रकार छः आहुति हविष्यान्न की अग्नि में देवे ॥ २ ॥ अब भूतयज्ञ कहते हैं । (अग्नयेनमः । सोमायनमः) इत्यादि मन्त्रों से अग्निस्थान यज्ञशाला में उत्तर २ को छः ग्रास धरे (अद्भ्योनमः) से जल भरे मटका के समीप ॥ ३ । ४ ॥ (ओषधिभ्योनमः) ओषधियों के समीप (वनस्पतिभ्योनमः) बीच के खम्भ के पास (गृह्याभ्योदेवताभ्योनमः) से घर के बीच ॥ ५ । ६ ॥ (धर्मायाधर्मायनमः) से द्वार पर (मृत्यवआकाशायनमः) से आकाश में बलि फेंके ॥ ७ । ८ ॥ (अन्तर्गोष्ठायनमः) से कोठा के भीतर ॥ ९ ॥ (बहिर्वैश्रवणायनमः) से घरसे बाहर पूर्व में (विश्वेभ्योदेवेभ्यो नमः) से घरके बीच में ॥ १० । ११ ॥ (इन्द्रायनमः । इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः) से घरसे पूर्व में (यमायनमः । यमपुरुषेभ्योनमः) से घर के दक्षिण भाग में एक बलि धरे ॥१२ । १३॥ (वरुणायनमः। वरुण पुरुषेभ्यो नमः)से घर

भ्यइत्युत्तरतः ॥१५॥ ब्रह्मणे ब्रह्मपुरुषेभ्यइतिमध्ये ॥१६॥ प्राचीमापातिकेभ्यः सम्पातिकेभ्य ऋक्षेभ्यो यक्षेभ्यः पिपीलिकाभ्यः पिशाचेभ्योऽप्सरोभ्यो गन्धर्वेभ्यो गुह्यकेभ्यः शैलेभ्यः पन्नगेभ्यः ॥ १७ ॥ दिवाचारिभ्यो भूतेभ्यइति दिवा । नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यइति नक्तम् ॥ १८ ॥ धन्वन्तरये धन्वन्तरितर्पणम् ॥ १९ ॥ अद्भिः संसृज्य पितृभ्यः स्वधेति शेषं दक्षिणा भूमौ निनयेत् ॥ २० ॥ पाणी प्रक्षाल्याचम्यातिथिं भोजयित्वाऽवशिष्टस्याश्नीयात् ॥ २१ ॥

इति द्वादशः खण्डः समाप्तः ॥

अथातः षष्ठीकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ शुक्लपक्षस्य पञ्च-

के पश्चिम भाग में (सोमायनमः । सोमपुरुषेभ्यो नमः) से घरके उत्तर भाग में ॥ १४ । १५ ॥ (ब्रह्मणेनमः । ब्रह्मपुरुषेभ्यो नमः) से घर के मध्यभाग में ॥१६॥ (आपातिकेभ्योनमः) इत्यादि ग्यारह वाक्यों से ग्यारह बलि भी पूर्व में धरे (दिवाचारिभ्यो भूतेभ्योनमः) से दिन में (नक्तं चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः) से रात में एक २ बलि बीच में धरे (धन्वन्तरये नमः) से एक बलि धन्वन्तरि की तृप्ति के लिये धरे ॥ १८ । १९ ॥ जितना बलि कर्म के लिये अन्न लिया था उस में से शेष बचे अन्न में किंचित् जल मिला के अपसव्य दक्षिणाभिमुख हो घर से दक्षिण में (पितृभ्यः स्वधा) कहकर एक बलि भूमि पर धरे ॥ २० ॥ फिर यथाविधि अतिथि को भोजन कराके हाथ पांव धोके शेष बचे अन्न को पति पत्नी खावें ॥ २१ ॥ पितरों के लिये जो एक बलि है वही पितृयज्ञ कहाता है ॥

यह बारहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भावार्थः—सैकड़ों हजारों गौआदि धन को चाहता हुआ गृहस्थ षष्ठी तिथि के दिन षष्ठीकल्प नामक कर्म को करे उस का व्याख्यान दिखाते हैं ॥ १ ॥ जिस महिने में यह कर्म करना इष्ट हो तब शुक्लपक्ष की पञ्चमी को पश्चिम की

म्यां प्रत्यङ्मुखो हविष्यमन्नमश्नीत ॥ २ ॥ अधः शयीत द-र्भेषु शालिपलालेषु वा प्राक्शिरा ब्रह्मचारी ॥ ३ ॥ श्वोभूते उदित आदित्ये स्नानं पानं भोजनमनुलेपनं स्रजो वासांसि न प्रत्याचक्षीत ॥ ४ ॥ यावद्द्यात्तावदश्नीयात् । यद्यद्दद्यात्तत्तदश्नीयादन्यत्रामेध्यपातकिभूयोऽभिनिविष्टवर्जम् ॥ ५ ॥ अस्तमित आदित्ये पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा । अथैतैर्नामधेयैर्जुहोति–धनदांवसुमीशानां कामदां सर्वकामिनाम् । पुण्यांयशस्विनींदेवीं षष्ठींशक्रजुषस्वमे ॥ नन्दीभूतिश्चलक्ष्मीश्च आदित्याचयशस्विनी । सुमनावाक्चसिद्धिश्च षष्ठीमेदिशतांधनम् ॥ पुत्रान्पशून्धनंधान्यं बह्वश्वाजगवेडकम् । मनसायत्प्रणीतंच तन्मेदिशतुहव्यभुक् ॥ कामदांरजनींविश्वरूपां षष्ठीमुपवर्त्ततुमेधनम् । सामेकामाकामपत्नी षष्ठीमेदिशतां धनम् ॥ आकूतिःप्रकृतिर्वचनीधावनिःपद्मचारिणी मन्मनाभवस्वाहा ॥ गन्धद्वारांदुराधर्षां नित्यपुष्टांकरीषिणीम् । ईश्वरींसर्वभूतानां तामिहोपह्वयेश्रियम् ॥ नानापत्रकासादेवी पुष्टिश्चातिसरस्वती । अरिं देवीं प्रपद्येयमुपवर्त्तय-

ओर मुख करके हविष्यान्न खावे ॥ २ ॥ खटिया छोड़के नीचे पृथिवी पर दाभ वा पलाल बिछाके पूर्व को शिर पश्चिम को पग कर उस दिन सोवे ब्रह्मचारी रहे ॥ ३ ॥ अगले दिन प्रातःकाल सूर्योदय होने पर स्नान दुग्धपानादि भोजन चन्दन केशरादि का अनुलेपन पुष्पादि की माला और उत्तम नये वस्त्रों को व्रती होने पर भी प्राप्त हों तो त्याग न करे ॥ ४ ॥ जितना तथा जो २ भोज्य पदार्थ प्राप्त हो उतने २ उस २ को खावे पर लहसुन आदि अभक्ष्य न खावे और जिन का अन्न धर्मशास्त्र में वर्जित लिखा है उसे भी गणान्न वा बासे अन्न को छोड़कर न खावे ॥ ५ ॥ फिर उस षष्ठी तिथि को सूर्य के अस्त होने पर दूध में स्थालीपाक पकाकर पवित्रासादनादि आघाराज्यभागपर्यन्त

तुमेधनम् । हिरण्यप्रकारादेविमांवर । आगच्छत्वायुर्यशश्च-स्वाहा ॥ अश्वपूर्णांरथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम् । श्रियं देवीमुपह्वयेश्रीर्मादेवी जुषताम् ॥ उपयन्तुमांदेवगणस्त्या-गाश्च तपसासह । प्रादुर्भूतोऽस्मिराष्ट्रेऽस्मिन् श्रीःश्रद्धांद-धातुमे ॥ श्रियै स्वाहा ॥ ह्रियैस्वाहा ॥ लक्ष्म्यै स्वाहा । उपलक्ष्म्यै स्वाहा । नन्दायै स्वाहा । हरिद्रायै स्वाहा । षष्ठ्यै स्वाहा । समृद्ध्यै स्वाहा । जयायै स्वाहा । कामायै स्वा-हेति ॥ ६ ॥ जयप्रभृति समानम् ॥ ७ ॥ षण्मासान्प्रयुञ्जीत त्रीन्वोभयतः पक्षान् ॥८॥ शतसाहस्रसंयोग एकवरो वा ॥९॥ गौरनड्वांश्च दक्षिणा ॥ १० ॥

इति त्रयोदशः खण्डः समाप्तः ॥

अथातो विनायकान् व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ शालकट ङ्कटश्च कूष्माण्डराजपुत्रश्चोस्मितश्च देवयजनश्चेति ॥ २ ॥

कृत्य पूर्वोक्त रीति से करके (धनदा०) इत्यादि मन्त्रों से स्थालीपाक द्वारा प्रधान होम करे ॥६॥ इस प्रकार वीश २० प्रधानाहुति करके जय होमादि पूर्ववत् करे ॥७॥ छः महिने तक छः वार शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथियों में वा तीन महिनों के दोनों पाखों में छहो षष्ठी तिथियों में छः वार इस कर्म का अनुष्ठान करे ॥८॥ इस कर्म का फल सैकड़ों हजारों लाखों धन सुवर्णमुद्रादि वा गो आदि की प्राप्ति अथवा किन्हीं व्रतों में श्रेष्ठ पुत्रोत्पत्ति होना आदि है ॥ ९ ॥ इस में एक गौ तथा एक बैल आचार्य को दक्षिणा में देवे ॥ १० ॥

यह तेरहवां खण्ड पूरा हुआ ॥

भावार्थः=अब षष्ठीकल्प कर्म के पश्चात् शालकटंकटादि चार प्रकार के विनायक नाम भूत प्रेत विशेष कहाते हैं (विशेषेण नयन्ति प्रापयन्त्यनिष्टा-नीति विनायका भूतविशेषाः) विशेष कर अच्छे कामों में विघ्न पहुंचाने वा-ले चतुर्विध भूत विनायक कहाते हैं । विघ्न शान्ति के लिये जो विनायकों का पूजन किया जाता उस कर्म का नाम भी विनायक है ॥ १ । २ ॥ ये शाल क-

एतैरधिगतानामिमानि रूपाणि भवन्ति ॥ ३ ॥ लोष्टं मृद्नाति ॥ ४ ॥ तृणानि छिनत्ति ॥ ५ ॥ अङ्गेषु लेखान् लिखति ॥ ६ ॥ अपः स्वप्नं पश्यति ॥ ७ ॥ मुण्डान्पश्यति ॥ ८ ॥ जटिलान्पश्यति ॥९॥ काषायवाससः पश्यति ॥१०॥ उष्ट्रान्सूकरान् गर्दभान् दिवाकीर्त्यादीनन्यांश्चाप्रयतान्स्वप्नान्पश्यति ॥ ११ ॥ अन्तरिक्षं क्रामति ॥ १२ ॥ अध्वानं व्रजन्मन्यते पृष्ठतो मे कश्चिदनुव्रजति ॥ १३ ॥ एतैः खलु विनायकैराविष्टा राजपुत्रा लक्षणवन्तो राज्यं न लभन्ते॥१४॥ कन्याः पतिकामा लक्षणवत्यो भर्तृन्न लभन्ते ॥ १५ ॥ स्त्रियः प्रजाकामा लक्षणवत्यः प्रजां न लभन्ते ॥ १६ ॥ स्त्रीणा-

टंकटादि विनायक जिन मनुष्यों को लगजाते हैं उन के चिह्न निम्न लिखित हैं ॥ ३ ॥ मट्टी के ढेलों को वह फोड़ता है ॥ ४ ॥ तिनकों को तोड़ता है ॥५॥ अपने शरीरांगों पर रेखा खेंचा करता है ॥ ६ ॥ सोते समय विशेष कर जलाशयों को देखता है ॥ ७ ॥ और सोते में मुंड़े हुए सब बाल रखाये हुए और गेरुआवस्त्रों वाले साधु संन्यासियों को देखता है ॥ ८ । ९ । १० ॥ तथा ऊंट, सुअर (सूकर) गधा, भंगी (चाण्डालों) और ऐसे ही अन्य अपवित्र पतित नीच प्राणियों को भी वह भूत ग्रस्त पुरुष स्वप्न में देखता है ॥ ११ ॥ रात में सोता हुआ शून्य आकाश में उड़ता है ॥ १२ ॥ मार्ग में चलता हुआ मानता है कि मेरे पीछे कोई चला आता है ॥ १३ ॥ इत्यादि विनायकों के चिह्न हैं और आगे कहे शुभफलों का नाश भी विनायकों का काम है । इन शाल कटंकटादि विनायकों से घेरे हुए उत्तम आचारों वाले भी राजकुमार राजगद्दी को नहीं पाते उन के राज्य लाभ में अनेक विघ्न हुआ करते हैं ॥ १४ ॥ उत्तम सती पतिव्रताओं के लक्षणों वाली पतियों की कामना रखने वाली कन्या पतियों को प्राप्त नहीं होतीं ॥ १५ ॥ सती पतिव्रतादि शुभ लक्षणों से युक्त स्त्रियां सन्तानों को चाहती हुई भी पुत्रादि को प्राप्त नहीं होतीं ॥१६॥

माचारवतीनामपत्यानि म्रियन्ते ॥ १७ ॥ श्रोत्रियोऽध्यापकआचार्यत्वं न प्राप्नोति ॥ १८ ॥ अध्येतॄणामध्ययने महाविघ्नानि भवन्ति ॥ १९ ॥ वणिजां वणिक्पथो विनश्यति ॥ २० ॥ कृषिकराणां कृषिरल्पफला भवति ॥ २१ ॥ तेषां प्रायश्चित्तम् ॥ २२ ॥ मृगाखरकुलायमृत्तिकारोचनागुग्गुलाः ॥ २३ ॥ चतुर्भ्यः प्रस्रवणेभ्यश्चतुरुदकुम्भानव्यङ्गानाहरेत् ॥२४॥ सर्वगन्धसर्वरससर्वौषधीः सर्वरत्नानि चोपकल्प्य प्रतिसरदधिमधुघृतमिति ॥ २५ ॥ एतान्संभारान्संसृज्य—ऋषभचर्मारोह्य—अथैनं स्नपयन्ति—सहस्राक्षंशतधारमृषिभिःपावनंकृतम्। ताभिष्ट्वाभिषिञ्चामि पावमानीःपुनन्तुत्वा ॥ अग्निनादत्ता। इन्द्रेणदत्ताः। सोमेनदत्ता। वरुणेनदत्ता। वायुनादत्ता। विष्णुनादत्ता। बृहस्पतिनादत्ता। विश्वैर्देवैर्दत्ता सर्वैर्देवैर्दत्ता

धर्मानुकूल शुद्ध आचारवाली स्त्रियों के भी छोटे २ सन्तान मरजाते हैं ॥१७॥ वेदवेदाङ्ग पढ़ा विद्वान् अध्यापक हो जाने पर भी आचार्य पदवी को नहीं प्राप्त हो ता (नचाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्त्तयन्ति) जिन के बनाये सूत्रादि फिर लौटे न जांय वे आचार्य कहाते हैं ॥ १८ ॥ विनायकों से आक्रान्त विद्यार्थियों के विद्याध्ययन में बड़े २ विघ्न होते हैं ॥ १९ ॥ विनायकों से घेरे वैश्यों का व्यापार नष्ट भ्रष्ट हो जाता है ॥ २० ॥ विनायकग्रस्त किसानों की खेती में बहुत कम पैदायश होने लगती है ॥ २१ ॥ इत्यादि विनायक जन्य विघ्नों की शान्ति के लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ २२ ॥ वह विनायकों से ग्रस्त पुरुष, बन के मृगों ने खोद कर बनाये बिलों की मट्टी, रोली और गूगुल ॥ २३ ॥ बड़ी नदियों में से निकले चार सोताओं से जो टेढ़े वक्र वकुचे न हों ऐसे चित्र विचित्र चार घड़ों द्वारा (एक २ सोता से एक २ घड़ाऐसे) चार घड़े जल लावे ॥२४॥ केशर कस्तूरी आदि सब सुगन्धित वस्तु, मिष्टादि छहो रस, ब्राह्मी आदि सब उत्तम ओषधि और पद्मरागादि सब रत्न, हाथ आदि में मङ्गलार्थ बांधने को रङ्गा हुआ सूत (कलावा) दही शहद इन सब चीजों

ओषधयआपोवरुणसंमिताः । ताभिष्ट्वाभिषिञ्चामि पावमानीःपुनन्तुत्वेति सर्वत्रानुषजति ॥ यत्तेकेशेषुदौर्भाग्यं सीमन्तेयच्चमूर्द्धनि । ललाटेकर्णयोरक्ष्णोरापस्तद्घ्नन्तुतेसदा ॥ भगंतेवरुणोराजा भगंसूर्योबृहस्पतिः । भगमिन्द्रश्चवायुश्च भगंसप्तर्षयोददुः ॥इति॥२६॥ अधिस्नातस्य निशायां सद्यः पीडितसर्षपतैलमौदुम्बरेण स्रुवेण मूर्द्धनि चतस्रआहुतीर्जुहोति ॥ ओंशालकटङ्कटाय स्वाहा ॥ कूष्माण्डराजपुत्राय स्वाहा ॥ उस्मितायस्वाहा ॥ देवयजनाय स्वाहेति॥२७॥ अत ऊर्ध्वं ग्रामचतुष्पथे नगरचतुष्पथे निगमचतुष्पथे वा सर्वतोमुखान्दर्भानास्तीर्य नवेशूर्पे बलिमुपहरति–फलीकृतांस्तण्डुलानफलीकृतांस्तण्डुलानामं मांसं पक्वं मांसमामान्मत्स्या-

को एकत्र करके उन चार घड़ों में डाल कर मिला देवें । फिर विनायक नामक भूतग्रस्त पुरुष को (जो नपुंसक वधिया न किया गया हो ऐसे पुरुष) बैल के चर्म पर बैठा के उन चारो घड़ों से जल ले २ कर कोई उस का आचार्य पुरोहित विद्वान् (सहस्राक्षं शत०) इत्यादि मन्त्रों से स्नान करावे उस के शिर पर प्रत्येक मन्त्र के साथ जल धारा छोड़ता जावे । (अभिज्ञादत्ता । वायुनादत्ता) इत्यादि प्रत्येक वाक्यके साथ (ओषधय आपो०) से लेके (पावमानीः पुनन्तुत्वा) पर्यन्त मन्त्र का भाग जोड़२ के मन्त्र पढ़ २ स्नान करावे ॥२५।२६॥ फिर स्नान कराये उस पुरुष को चीरेदार शुद्ध वस्त्र धारण कराके बैठावे उसी दिन रातको तत्काल पीड़न करके निकाला सरसोंका तेल गूलर वृक्षकी लकड़ी से बने स्रुवा में ले २ कर (ओंशालकटं०) इत्यादि चार मन्त्रोंसे उसके मूर्द्धापर चार आहुति उस तेलकी छोड़े॥२७॥इसके पश्चात् ग्राम नगर वा निगम नाम बन के चौराहे पर सब चारों दिशा के मार्गों की ओर अग्रभाग कर २ कुश बिछावे उन कुशों पर पश्चिम को अग्रभाग करके एक नया सूप रक्खे उस पर नैवेद्य बतासा आदि का बलिदान धर के निम्न लिखित मूल फल पर्यन्त वस्तु भेंट

न्पक्कान्मत्स्यानामानपूपान्पक्कानपूपान् पिष्टान्गन्धानपिष्टान्गन्धान्गन्धपानं मधुपानं मैरेयपानं सुरापानं मुक्तं माल्यंग्रथितंमाल्यं रक्तं माल्यं शुक्लं माल्यं रक्तपीतशुक्लकृष्णनीलहरितचित्रवासांसि माषकल्माषमूलफलमिति ॥२८॥ अथ देवानामावाहनम् । द्विमुखः श्येनो बको यक्षः कलहो भीरुर्विनायकः कूष्माण्डराजपुत्रो यज्ञाविक्षेपी कुलङ्गापमारी यूपकेशी सूपरक्रोडो हैमवतो जम्भको विरूपाक्षो लोहिताक्षो वैश्रवणो महासेनो महादेवो महाराज इति ॥ एते मे देवाः प्रीयन्तां प्रीता मा प्रीणयन्तु । तृप्ता मां तर्पयन्त्विति ॥ २९ ॥ अधिष्ठितेऽर्धरात्रआचार्योगृहानुपतिष्ठते । भगवति भगं मे देहि ॥ वर्णवति वर्णं मे देहि । रूपवति रूपं मे देहि । तेजस्विनि तेजो मे देहि । यशस्विनि यशो मे देहि । पुत्रवति पुत्रान्मे देहि । सर्ववति सर्वान्कामान्मे दे-

समर्पितकरे । फटके चावल. भूसी सहित बिन फटके चावल. कच्चामांस. पकामांस. कच्चीमछली. पकीमछली. कच्चे पुआ. पके पुआ. पिसे हुये केशरादि सुगन्ध. बिन पिसे सुगन्ध. सुगन्धघोराजल. मधुपान—महुआका—मैरेय—गुड़ का मद्य और सुरा आटा का मद्य. बिन गूंथी माला. लाल और सफेद माला. लाल पीला सफेद काला नीला और हरा इन सब रङ्गोंसे चित्रित वस्त्र. उड़द. कुलथी. मूली आदि की जड़ और नीबू आदि फल इन सबका बलि सूपमें उपहार धरे॥२८॥ बलि भेंट करके देवताओं का आवाहन करे । अर्थात् द्विमुख आदि बीस देवताओं के संबुद्ध्यन्त नाम बोले सब के साथ (एहि) क्रिया लगावे जैसे (द्विमुखएहि ! श्येन एहि) इत्यादि । और (एतेमेदेवाः०) सब के आवाहन के अन्त में कहे ॥२९॥ फिर ठीक आधीरात होजाने पर आचार्य चौराहे से घर पर जाकर गृहाधिष्ठात्री अम्बिका देवता का (भगवति भगं मे०) इत्यादि मन्त्रों से उपस्थान करे कोई लोग इसी अर्द्धरात्रि के समय (चत्वरपूजा) चौंतरे की पूजा करना भी

हीति ॥३०॥ अतऊर्ध्वमुदितआदित्ये विमले मुहूर्त्ते सूर्यपूजा पूर्वकमर्घ्यदानम्। उपस्थानं च। नमस्ते अस्तुभगवन् शतरश्मेतमोनुद । जहिमेदेवदौर्भाग्यं सौभाग्येनमासंयोजयस्व ॥ इति-॥३१॥ अथ ब्राह्मणतर्पणम् ।३२। ऋषभो दक्षिणा ।३३।

इति चतुर्दशः खण्डः समाप्तः ॥

यदि दुःस्वप्नं पश्येद् व्याहृतिभिस्तिलान् हुत्वा दिश उपतिष्ठेत्---बोधश्चमाप्रतिबोधश्च पुरस्ताद्गोपायताम् । अस्वप्नश्चमानवद्राणश्च दक्षिणतोगोपायताम् । गोपायमानंचमारक्षमाणंच पश्चाद्गोपायताम् । जागृविश्चमारुन्धतीचोत्तरतोगोपायताम् । विष्णुश्चमापृथिवीचनागाश्चाधस्ताद्गोपायताम्। बृहस्पतिश्चमाविश्वेचमेदेवाद्यौश्चोपरिष्टाद्गोपायताम् ।१। एवं यस्मिंश्चोत्पन्नेऽनर्थोऽशङ्केत

इसीकर्म के साथ कहते हैं ॥ ३० ॥ हुम के उपरान्त सूर्य का उदय होने पर अर्थात् ठीक २ प्रकाश हो जाने पर सूर्यनारायण का मन से ध्यान उपासना स्तुति आदिरूप पूजा करके अर्घ्य देवे और (नमस्तेअस्तु०) मन्त्र द्वारा सूर्यदेव का उपस्थान करे ॥ ३१ ॥ फूल दूर्वा तथा सरसों सहित जल की अंजुली भर कर विनायक के लिये अर्घ देकर अम्बिका और गणपति जी का पूजन करे। फिर ब्राह्मणों को भोजन करावे और आचार्य को एक बैल दक्षिणा में देवे ॥ ३२ । ३३ ॥ यह चौदहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

यदि अनिष्ट सूचक ऊंट गधादि पर चढ़ना आदि दुःस्वप्न दीखे तो जागने पर आघारादि सामान्य विधि के पश्चात् व्यस्त और समस्त चार व्याहृतियों से घृत मिलाये तिलों का होम करके (बोधश्चमा०) इत्यादि छः मन्त्रों से क्रमशः पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर नीचे तथा ऊपर की छः दिशाओं के देवताओं का उपस्थान उस २ ओर मुख करके करे ॥१॥ इसी प्रकार लाल वस्त्र धारण की हुई स्त्री से स्वप्न में समागम आदि हो वा जागते में विना शिर के

।२। व्याहृतिभिस्तिलान् हुत्वा तपः प्रतिपद्येत द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमेकरात्रं वा । ३ । यदि समुत्पातं मन्येत तद्वा ।४। यदि पर्वसु मार्त्तिकं भिद्येत—पार्थिवमसिपृथिवीं दृंह स्वयोनिं गच्छस्वाहेत्यप्सु प्रहरेत् । ५ । यद्यर्चा दह्येद्वा नश्येद्वा प्रपतेद्वा प्रभज्येद्वा प्रहसेद्वा प्रचलेद्वा । स्थाल्या वा स्थालीमासिच्य दक्षिणोत्तरा वा स्थाली भिद्येतोत्तरावोपलाशे नियम्य । द्वारवंशो वा स्फुटेत् । गौर्वा गां धयेत् । स्त्री वा स्त्रियमाहन्यात् । कर्त्तसंसर्गे हलसंसर्गे मुसलसंसर्गे मुसलप्रपतने मुसलं वाऽवशीर्येतान्यस्मिंश्चाद्भुत- एताभिर्जुहुयात् । स्वस्तिनइन्द्रोवृद्धश्रवाःस्वस्तिनःपूषा-

पुरुष की छाया दीख पड़ना आदि अनिष्ट सूचक निमित्तों की शङ्का हो तो ॥२॥ घी मिले तिलों से व्याहृतियों द्वारा होम करके बारह, छः, तीन वा एक दिन अनिष्ट सूचना के अनुसार (अनिष्ट शकुन का न्यूनाधिक बल देख कर) तप करने में लग जावे ॥ ३ ॥ यदि कोई सम्यक् बड़ा उत्पात अनिष्ट माने जैसे भयंकर वायु चले उस में कंकड़ी वर्षे वृक्षोंमें से रुधिर वर्षे इत्यादि हो तो पूर्वोक्त तिल द्वारा व्याहृति होम दिग्देवोपस्थान सहित करे अथवा बारह दिन आदि के तप के साथ तिल होम करे ॥ ४ ॥ यदि अमावास्यादि पर्व दिनों में मट्टी की भीत आदि अकारण फट जावे तो फूटे घड़े का खप्पर आदि (पार्थिवमसि०) मन्त्र से जल में फैंक देवे ॥ ५ ॥ अथवा यदि शिव विष्णु आदि देवताओं की सुवर्ण चांदी पीतल पत्थर काष्ठादि की बनी प्रतिमा जलने लगे वा स्वयं लुप्त होजावे वा फूट जावे वा अपने आसन से पृथक् गिर जावे वा विना ही कारण टुकड़े २ हो जावे वा चेतन मनुष्य के तुल्य हंसने लगे वा जहां धरी हो वहां से अन्यत्र चली जावे एक बटलोईका जल दूसरीमें चला जावे और फिर उसीमें आजावे और उन दोनों में से दहिनी वा बायीं बटलोई आदि पात्र स्वयं भिड़कर टूट जावे अथवा बायीं बटलोई एक ही विना कारण फूट जावे । द्वारका खम्भ वा बर्देल

विश्ववेदाः । स्वस्तिनस्ताक्ष्योअरिष्टनेमिःस्वस्तिनोबृहस्पतिर्दधातु ॥ स्वस्तिनोमिमीतामश्विनाभगः स्वस्तिदेव्यदितिरनर्वणः । स्वस्तिपूषाअसुरोदधातुनः स्वस्तिद्यावापृथिवीसुचेतुना ॥ स्वस्तयेवायुमुपब्रवामहै सोमंस्वस्तिभुवनस्ययस्पतिः । बृहस्पतिंसर्वगणंस्वस्तये स्वस्तयआदित्यासोभवन्तुनः ॥ विश्वेदेवानोअद्यास्वस्तये वैश्वानरोवसुरग्निःस्वस्तये । देवाअवन्त्वृभवःस्वस्तये स्वस्तिनोरुद्रःपात्वंहसः । स्वस्तिनःपथ्यासुधन्वसु स्वस्त्यप्सुव्रजनेस्वर्वतः । स्वस्तिनःपथ्याकृतेषुयोनिषु स्वस्तिरायेमरुतोदधातुनः ॥ त्रातारमिन्द्रं—मातेअस्यां । विनइन्द्र । मृगोनभीमः । तञ्शंयोरावृणीमहइतिदशाहुतयः । ६ । जयप्रभृति समानम् । ७ ।

इति पञ्चदशः खण्डः समाप्तः ॥

सर्पेभ्यो बिभ्यत् श्रावण्यां तूर्ष्णी भौममेककपालं श्रपयित्वाक्षतसक्तून् पिष्ट्वा स्वकृतइरिणेदर्भानास्तीर्य्याच्युता-

---

बिना कारण टूट जावे अथवा उस में अङ्कुर निकल आवें । अथवा गौ को गौ चोंखे (गौ का दूध गौ पीवे) वा कोई स्त्री अन्य स्त्री को पीटे मारे वा परस्पर स्त्रियां बाहु युद्ध करें। खेतादि काटने के समय दो दात्र (हंसिया वा दरांत) अकारण भिड़जावें कई हल खेत में चलते हों वे अकस्मात् भिड़ जावें । अथवा धानादि कूटने में दो मूसल भिड़जावें वा दात्रादि भिड़ के अकस्मात् टूट जावें । ऐसे ही अन्य कोई राहुदर्शनादि आश्चर्यजनक शकुन होने पर आघारादि सामान्यविधि के पश्चात् (स्वस्तिनइन्द्रो०) इत्यादि पांच और (त्रातारमिन्द्रं०) इत्यादि पांच इन दश मन्त्रों से घी की दश प्रधानाहुति करे ॥ ६ ॥ पश्चात् जयहोमादि यहां भी पूर्ववत् जानो ॥ ७ ॥ यह पन्द्रहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भाषार्थः—सांपों से डरता हुआ मनुष्य श्रावणी पौर्णमासी के दिन भूमिपर तूर्ष्णी बिना मन्त्र पढ़े एक कपालका पुरोडाश पका कर (परन्तु होम न-

य ध्रुवाय भौमाय स्वाहेतिजुहोति ।१। समीची नामासीति पर्यायैरुपतिष्ठते प्रतिदिशं द्वाभ्यां मध्ये ॥२॥ अक्षतसक्तूनां सर्पबलिं हरति। ईशानायेत्येके । सर्पोसि सर्पाणामधिपतिस्त्वयि सर्वे सर्पाः । बलिहारोऽस्तु सर्पाणां माक्षिषुर्मा रीरिषुर्मा हिंसिषुर्मा दाङ्क्षुः सर्पाः ॥ मा नो अग्ने विसृजो अघायाविष्यवे रिपवे दुच्छुनायै । मा दत्त्वते दशते मादते नो मा रीषते सहसावन्परादाः ॥ सर्पोसि सर्पाणामधिपतिरन्येन मनुष्यांस्त्रायसेऽपूपेन सर्पान् । त्वयि सन्तं मयि सन्तं माक्षिषुर्मा रीरिषुर्मा हिंसिषुर्मा दाङ्क्षुः सर्पाः ॥ नमो अस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिश्च ।३। ध्रुवामुं ते परिददामीति सर्वामात्याञ्नामग्राहमात्मानं च ।।४।। एतेन धर्मेण चतुरो मा-

---

र्यन्त श्रौत में कही पुरोडाश की कार्यवाही यहां न की जाय) स्वयं बनाये ऊपर भूमिस्थ वेद्याकारस्थण्डिल पर दर्भ बिछा के उस पर अग्निस्थापन प्रज्वलनादि आज्यभागान्त करके प्रधान होमके स्थान में (अच्युताय०) इत्यादि मन्त्र पढ़के पुरोडाश का होम कर देवे । और बिन कुटे भूसी सहित भुंजे जौ पीस कर ॥१॥ (समीचीनामासि०) इन पर्यायवाची मन्त्रों से सब पूर्वादि दिशाओं में मुख कर २ उपस्थान करे और दो मन्त्रों को पढ़ २ के बीच में ऊपर नीचे की दिशा का उपस्थान करे ॥ २ ॥ फिर उन पीसे हुये सत्तुओं को छः बलि (सर्पोऽसि०) इत्यादि तीन और (नमोऽस्तुसर्पे०) इत्यादि तीन मन्त्रों से देवे । जिस जगह बलि देवे वहां पहिले जलसेचन करके ऊपर से बलि धर के फिर जल सेचन करे । कोई लोग सूप में बलि धरना कहते हैं उन के मतानुसार सूप में बलियों के नीचे ऊपर जल सेचन होना चाहिये ॥ ३ ॥ फिर (ध्रुव !यज्ञदत्तं ते परिददामि) इत्यादि प्रकार अपने सब को पुत्रादि को देवता के आधीन रक्षार्थ समर्पित करे और अन्त में यज्ञदत्त नाम के स्थान में अपना नाम लेकर अपने को भी रक्षार्थ देवता के आधीन करे ॥४॥

सान्सर्पबलिं हृत्वा विरमति ।५। तूष्णीमपि शूद्रा प्रक्षालित पाणिः ।६। इति षोडशः खण्डः समाप्तः ॥

अयूथिके भयार्त्ते कपोते गृहान्प्रविष्टे तस्याग्नौ पदं दृश्येत दधनि सक्तुषु घृते वा। देवाः कपोतइति प्रत्यृचं जपेज्जुहुयाद्वा। देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निरृत्या इदमाजगाम। तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शंनो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवा शकुनो गृहेषु। अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परिहेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥ हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने। शंनोगोभ्यश्चपुरुषेभ्यश्चास्तु मानो हिंसीदिह देवाः कपोतः ॥ यदुलूको वदति मोघमेतद्यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति। यस्य दूतः प्रहितएषएतत्तस्मै यमाय नमोअस्तु मृत्यवे ॥ ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परिगां नयध्वम्। संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हि त्वा नऊर्जं प्रपतात्पातिष्ठः ॥ इति ।१। पदमादाय दक्षिणा प्र-

इसी प्रकार भादों क्वार कार्त्तिक और मार्गशीर्ष अगहन इन चार महिने तक नित्य सर्प बलि देकर विराम करे ॥५॥ यदि किसी ब्राह्मणादि द्विज के यहां शूद्रा स्त्री हो तो वह हाथ पांव धोके विना मन्त्र तूष्णीं पूर्वोक्त सर्पबलि कर्म करे ॥६॥　　　　यह सोलहवां खण्ड पूरा हुआ ॥

भावार्थः—जो अपने झुण्ड में से पृथक् बिछुरि गया हो श्येनादि हिंसक पक्षियों से डर गया हो ऐसा कबूतर अकस्मात् घर में आजावे उस कबूतर के पग का चिह्न अग्निशाला में दही वा दूध दही मठा के पात्र में सत्तुओं में वा घी में इत्यादि में दीख पड़े तो (देवाःकपोत०) इत्यादि पांच ऋचाओं का जप करे वा सामान्यविधि के सहित इन पांच मन्त्रों से प्रधान होम घृत का करे ॥१॥

त्यग्हरन्ति ।२। सहाधिकरणैर्यन्ति । ३ । स्वकृतइरिणे पदं न्यस्याध्यधि ।४। धाम्नोधाम्नइति तिसृभिः परोगोष्ठं मार्जयन्ते ।५। अनपेक्षमाणाः प्रत्यायन्ति ।६। अग्न आयूंषि पवसे। अग्निर्ऋषिः। अग्ने पवस्वेति प्रत्येत्य जपन्ति ॥ ७ ॥

इति सप्तदशः खण्डः समाप्तः ॥

षाडाहुतं प्रतिपदि प्रतिपदि पुत्रकामः ।१। पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा तस्य जुहोति। ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः। अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥ यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये। अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ; यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं

जिस वस्तु में कबूतर के पग का चिन्ह पड़ा हो उस चिन्हित वस्तु को लेकर नैर्ऋत दक्षिण दिशा में (पु० २ खं० १ सू० ८ आदि में कहे अनुसार) लेजावें ॥२॥ जिस वस्तु में कबूतर का पग पड़ा हो उस २ को वर्त्तन सहित लेकर नैर्ऋत दक्षिण दिशास्थ जगल में जावें ॥ ३ ॥ वहां स्वाभाविक ऊषर भूमि में ऊपर ऊपर पग के चिह्न युक्त वस्तु को तथा अन्य वर्त्तनादि धर देवें ॥ ४ ॥ फिर (धाम्नोधाम्न०) इत्यादि तीन ऋचाओं से द्वेष करने योग्य शत्रु के स्थान का मार्जन करें अर्थात् शत्रु के घर के उद्देश से मार्जन करें ॥ ५ ॥ फिर पीछे को न देखते हुए वहां से घर को लौट आवें ॥६॥ तदनन्तर घर में आकर अध्वर्यु ब्रह्मा और यजमान तीनों (अग्नआयूंषि०) इत्यादि तीन ऋचाओं का जप करें ॥७॥ यह सत्रहवां खण्ड पूरा हुआ ॥

भाषार्थः—जिस के पुत्र न होते हों और उस को पुत्र की विशेष चाहना हो तो प्रत्येक महिने की दोनों प्रतिपदा के दिन निम्न रीति से षाडाहुत कर्म करे ॥१॥ पूर्वोक्त प्रकार दूध में स्थालीपाक पका कर और ठीक २ सामान्य विधि आघाराज्यभाग पर्यन्त करके (ब्रह्मणाग्निः०) इत्यादि छः ऋचाओं से स्थालीपाक की छः आहुति एक उपस्तार दो अवदान और एक अभिघारण कर

यः सरीसृपम् । जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि । यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारोभूत्वानिपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ये तेघ्नन्त्यप्सरसो गन्धर्वा गोष्ठाश्च ये । क्रव्यादं सुरदेविनं तमितो नाशयामसि ॥ यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दंपती शये। योनिं यो अन्तरारेढि तमितो नाशयामसि ॥ अभिन्नाण्डा वृद्धगर्भा अरिष्टा जीवसूवरी । विजायतां प्रजायतामियं भवतु तोकिनी ॥ विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ गर्भं धेहि सिनीवलि गर्भं धेहि सरस्वति । गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा ॥ हिरण्ययी अरणीयं निर्मन्थतो अश्विना । तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे ॥ परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥ इति द्वादश गर्भवेदिन्यः । षडाद्याः स्थालीपाकस्य । षडुत्तराआज्यस्य । २ । जयप्रभृति समानम् । ३ ।

नैजमेषं स्थालीपाकं श्रपयित्वा यथा षाडाहुतम् । नैजमेष परापत सुपुत्रः पुनरापत । अस्यै मे पुत्रकामायै पुनराधेहि

चतुरवत्त वा पञ्चावत्त की स्रुच् द्वारा करे और (यस्त ऊरू०) इत्यादि छः आहुति घी से करे ये बारह प्रधान आहुति गर्भ को प्राप्त कराने वाली हैं ॥ २।३॥ और जय होमादि सामन्य कृत्य यहां भी पूर्ववत् करे ॥ ३ ॥

यदि पूर्वोक्त काम को एक वर्ष तक प्रत्येक प्रतिपदा के दिन करने पर भी

यः पुमान् ॥ यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे। एवं तं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥ विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम्। पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥ ४ ॥ इत्यष्टादशः खण्डः समाप्तः ॥

पाकयज्ञान्समासाद्य एकाज्यानेकबर्हिषः ।
एकं स्विष्टकृतं कुर्यान्नाना सत्यपि दैवते ॥

नाना सत्यपि दैवतइति ॥ इति मैत्रायणीयमानवगृह्यसूत्रे द्वितीयः पुरुषाख्यो भागः समाप्तः ॥ २ ॥ इति मानवगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

पुत्र उत्पन्न न हो तो दूध वा जल में नैजमेष देवता के उद्देश से स्थाली पाक पकाकर सामान्य विधि के साथ प्रत्येक प्रतिपदा के दिन षाहाहुत कर्म के तुल्य (नैजमेषपरा०) इत्यादि तीन मन्त्रों से स्थालीपाक की तीन आहुति दिया करे ॥ ४ ॥ यह अठारहवां खण्ड पुरा हुआ—

जिन पाक यज्ञों में प्रधान देवता अनेक हों उनमें भी एक ही घी रक्खे एक पर्त्त कुश विछावे और सब की एक ही स्विष्टकृत् आहुति करे । किन्तु कई देवताओं के लिये इन कामों को पृथक् २ न करे। अन्तिमवाक्य को ग्रन्थ समाप्ति दिखाने के लिये द्विर्वचन किया है। यह परिभाषा सूत्र सर्वत्र के लिये है ।

इति श्री भीमसेनशर्मनिर्मितायांमानवगृह्यसूत्रस्यनागरीभाषावृत्तौ द्वितीयःपुरुषःसमाप्तःसमाप्तश्चायंग्रन्थः ॥



अथसनातनधर्मपुस्तकालयस्यसूचीपत्रम् ॥

१-पाणिनीय अष्टाध्यायीसंस्कृतभाषा वृत्ति सोदाहरण २)
२-आत्मधर्मसंरक्षमासिकपत्र १ भाग १॥)
३-आ०स. मासिकपत्र २ भाग १॥)
४-गणरत्नमहोदधि (व्याकरण गणपाठ-श्लोकबद्धव्याख्या सहित १)
५ दर्शपौर्णमासपद्धति भाषाटीका ॥)
६ इष्टिसंग्रह पद्धति भा०टी० ।)
७स्मार्तकर्म पद्धति भाषाटीका ।)
८ उपनयन पद्धति भाषाटीका ।)
९ गर्भाधानादि नवसंस्कार पद्धति भाषाटीका ≡)
१० त्रिकाल सन्ध्या भाषाटीका -)
११ कालीयसर्पबलि भाषाटीका -)
१२ शिवस्तोत्र भा० टी०)।
१३ हरिस्तोत्र भा० टी०)।
१४ भर्तृहरितीनों शतक भा०टीका ॥)
१५ मानवगृह्यसूत्र भा० टी० ॥)
१६ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ।)
१७ दयानन्दतिमिर भास्कर १)
१८ सत्यार्थप्रकाश समीक्षा =)
(स० प्र० की १५० अशुद्धि)
१९ विधवा विवाह निराकरण द्वितीय भाग -)
२० मुक्ति प्रकाश भाषा (दयानन्दीय-मुक्ति खण्डन) -)
२१ दयानन्द लीला भाषा में)॥
२२ भजनबीसा)।
२३ दयानन्द हृदय)।
२४ सत्योपदेश भजन)।
२५ शुक्लयजुर्वेदी रुद्री ≡)
२६ पारस्कर गृह्य सूत्र हरिहर भाष्य सहित १॥)
२७ पञ्चतन्त्र भाषाटीका २)
२८ विनय पत्रिका तुलसीदासकृत ।≈)
२९ सामुद्रिक भाषाटीका ।)
३० जातकालंकारज्योतिषभाषाटीका।≈)
३१ कर्मविपाक भाषाटीका १।)
३२ सारस्वत मूल ॥)
३३ दुर्गासप्तशतीपाकिटबुक(तावीज़)≡)
३४ भगवद्गीता (तावीज़) ≈)॥
३५ कहावत कल्पद्रुम ॥)
३६ मन्दालसाख्यान भाषा ।≈)
३७ श्री सुबोधिनी १।)
३८ भक्तमालनाभाजीकृत सटीक १।)
३९ प्रभाती संग्रह ≈)
४० तुलसीदासकृत रामायण गुटका १)
४१ " " रफ़ कागज ॥।)
४२ शिवमहिम्नस्तोत्र मूल छोटा -)
४३ चर्पटपञ्जरीस्तोत्र)॥
४४ शिव सहस्र नाम मूल ≈)
४५ विष्णुसहस्रनामगुटकामूल ≈)॥
४६ बृहत्स्तोत्ररत्नाकर गुटका ॥)
४७ दुर्गासप्तशती छोटा गुटका ।≈)
४८ दुर्गासप्तशती भा०टी० ॥।)
४९ माधवनिदान (वैद्यक)भा०टी० १॥)
५० अमरकोश मूल छोटा ।)
५१ अमरकोश भाषाटीका १॥)
५२ अभिमन्युनाटक ॥।)

सूचीपत्र ॥

मिलने का पता:-ब्रह्मदेव शर्म्मा मैनेजर
सनातन धर्म पुस्तकालय इटावा

